पगले मन के दस चेहरे

मूल
डॉ शिवराम कारन्त
हिन्दी रूपान्तर
बी आर नारायण



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 443

पगले मन के दस चेहरे
(आत्मकथा)
डॉ शिवराम कारन्त

प्रथम संस्करण 1985

मूल्य 50/

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया लोदी रोड,
नयी दिल्ली 110003

मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस
शाहदरा दिल्ली 110032

आवरण शिल्पी करुणानिधान

PAGALE MAN KE DAS CHAHARE (Autobiography) by Dr Shivaram Karanth Published by Bharatiya Jnanpith 18 Institutional Area Lodhi Road New Delhi 110003 Printed at Ankit Printing Press Shahdara Delhi First Edition 1985

Rs 50/-



श्रीमती मार्गा नायमन का रेखांकन (1934)



के के हब्बार की तूलिका से षष्टि-पूर्ति के अवसर पर



[illegible] (1938)



डॉ. शरण का परिवार– [illegible] मानविता एवं उल्लास (1954)



कारत की सतान— हृप (स्व) क्षमा उल्लास और मालविका

1960 में डॉ. कारत



साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कार प्रदान के अवसर पर
(टाइम्स आफ इण्डिया के सौजन्य से)



66वें जन्मदिवस पर बैंग्लोर की मित्र मण्डली
राशि (डॉ शिवराम) एवं डॉ ...



ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता डा उमाशंकर जोशी एव डा एच एम नायक के साथ बंगलोर का अभिनन्दन समारोह (1978)



अपने घर में दर्शनार्थियों से बातचीत (1979)



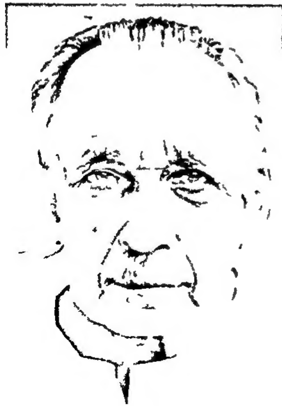
गगरार्ई इगल्न श्र शिगनो म वि गजयगार मनुगु रगमच अभिनना रघगमस्या वथवनि ग्नारवार वनुनायर व माथ



गगगगम ववान व माथ अयगी म म्यारगा-गमागा" (1981)



आत्म दर्शन की मूर्ति (1982)



व्यक्तित्व का [illegible]



अध्ययनरत (कर्नाटक सूचना विभाग के सौजन्य से)



हिन्दी पाठको के नाम

भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ कि उसने मेरी आत्मकथा (एक प्रकार की) के हिन्दी मे प्रकाशन की दिशा मे पहल की। यह योग्य सस्थान सावधानी पूर्ण चयन एव उपयुक्त मान्यता-पद्धति के द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर निपुण लेखको की खोज करने और उन्हे राष्ट्रव्यापी प्रतिष्ठा दिलाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। समय-समय पर मेरी कुछ पुस्तको के न्यासो, निजी प्रकाशको एव सस्थाओ द्वारा हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते रहे हैं, किन्तु मैं पाता हूँ कि ज्ञानपीठ द्वारा चुनी गयी पुस्तक 'मूकज्जी' ने मुझे सच्ची राष्ट्रव्यापी प्रतिष्ठा दिलायी है। जो व्यापक प्रचार मुझे उससे प्राप्त हुआ है उसे मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ। किन्तु इस तथ्य का अर्थ यह तो नही है कि वे मेरे लिए अतिरिक्त कष्ट उठायें। मेरा तात्पर्य यह है कि इससे उन्हें यह कैसे लगा कि मेरी आत्मकथा भी वहत्तर पाठक वर्ग को रोचक प्रतीत होगी। बहरहाल, जिस भी योग्य हो, यह कृति भारतीय ज्ञानपीठ के अतिरिक्त अनुग्रह के कारण हिन्दी पाठको के सामने है।

इस पुस्तक का नाम 'पगले मन के दस चेहरे' मैंने पाठक को जीवन के अनेक क्षेत्रो मे अपनी मानसिक साहसिकताओ का आभास देने के लिए तय किया है। अपने सार्वजनिक जीवन की चौथाई शताब्दी (1923 1948) पूर्ण हो जाने पर मैंने अनुभव किया कि कन्नड जनता को, जिसके बीच रहकर मैंने इतने लम्बे समय तक सघर्ष किया, अपनी आप-बीती कह सुनाऊँ। अनेक लोगो न मेरी आरम्भिक गतिविधियो पर छीटाकशी की थी और मेरे निकट के लोगो तक न महसूस किया या कि मैं 'हरफन मौला' तो था, मगर किसी भी फन का उस्ताद नही। निश्चय ही दक्षता का दावा मेरा किसी भी दिशा मे नही है।

सबसे पहले तो मैंने यह अन्वेषण करना चाहा कि मुझमे क्या-कुछ करने की क्षमता थी, तदुपरान्त मैंने अपनी क्षमता का विस्तार अपने साथियो को जानने एव उनकी सेवा करने के लिए किया। कन्नड म इस आत्मकथा का प्रथम सस्करण 1948 म प्रकाशित हुआ। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि इसका व्यापक स्वागत हुआ।

लगभग 1962 म इसकी सामग्री को अद्यतन करते हुए इसका दूसरा सस्करण प्रकाशित किया।

छठे दशक में मैंने अपने अतीत की झलकियाँ विषयानुसार प्रस्तुत करने की एक भिन्न पद्धति अपनायी। मैंने उनके शीर्षक इस प्रकार रखे— 'मैं और मेरा मूल स्थान', 'मैं और मेरा साहित्य', 'मैं और शिक्षा', 'मैं और नाटक' आदि-आदि। वे तीन भिन्न भिन्न जिल्दों में 'स्मृति-पटल' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुई हैं। तिथि क्रमानुसार आत्मकथा को विस्तार देने का मेरा कोई इरादा न था।

किंतु कुछ मित्र उसमें भी रुचि रखते थे। अतः अपने जीवन का वर्णन बढ़ाते-बढ़ाते 1983 तक खींच लाने के लिए मैं बाध्य हो गया। सच, जीवन पथ में मेरी यह पर्याप्त लम्बी यात्रा है। यदि हिन्दी पाठक इस प्रकार की पुस्तक पढ़ने में रुचि दिखायेंगे तो मुझे पूरा विश्वास है कि यह उनकी हृत्तंत्री के कुछ तारों को अवश्य छेड़ेगी।

कोई मनुष्य अपने समकालीनों से और चाहता भी क्या है?

—शिवराम कारंत

अनुक्रम

प्रस्तावना

क्षमा-याचना की आवश्यकता नही

ऐसी एक रचना के लिए प्रस्तावना लिखनी चाहिए अथवा क्षमायाचना करनी चाहिए यह मेरी समझ मे नहीं आ रहा है। लिखना ही मेरी वृत्ति होने के कारण मुझे उसके बारे में क्षमा-याचना करने की आवश्यकता नही है। जिन विषयो को मैं जानता हूँ और जितना जानता हूँ उनके बारे में लिखना मेरी आदत-सी हो गयी है। यह वह अधिकार है जो एक लेखक अपने आप को देता है। यह बिना कोई प्रत्यक्ष गुरु के प्राप्त दीक्षा है। विश्व मे जीने वाले किसी भी व्यक्ति का यदि कोई गुरु न भी हो तो भी वे सारे अनुभव, शिक्षा उसे विश्व से प्राप्त हो जाते हैं। निसर्ग की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक जीव, व्यक्ति के चतन्य होकर जीने वाला प्रत्येक क्षण, लेखक की मनोवृत्ति को सदा निरूपित करते रहते हैं। वसे दूसरे भी उस नियम के बाहर नही हैं। जन्म से ही मिलने वाली यह शिक्षा उसके जीवन के अन्त मे ही समाप्त होती है। इन दोनों के बीच के दीर्घ या अल्पावधि मे, वह अपने लेखन की दीक्षा प्राप्त करता है। वसे वह किसी एक व्यक्ति को अपने गुरु के रूप मे स्वीकार भले ही न करे, पर सैकडो व्यक्ति, सैकडो जीव, और असख्य घटनाए उसके लिए गुरु ही होते हैं। इनसे परिपुष्ट, स्फूर्ति वाला एक लेखक अनेक कृतियो को जन्म दे सकता है। इनमे अगर सो खराब हों तो कुछ अच्छी भी होंगी। अच्छे बुरे के बीच की भी कुछ कृतियाँ हो सकती हैं। मूलत लेखक अथवा कोई भी कलाकार अपनी आत्मतृप्ति के लिए अपने मन के भाव को व्यक्त करता है। वह मूकजीवी नही होता है। दूसरे मानव भी मूक नही होते हैं। अत उसकी कृतियाँ उसके समान ही अनुभव वाले दूसर व्यक्तियो और अनुभव पेक्षियों के लिए उपयोगी हो सकती हैं और पर्याप्त रूप में सन्तोष भी द सकती हैं। परन्तु कलाकार को पहला सन्तोष और सब से बडा सन्तोष उसकी कृति के निर्माण के समय ही मिलना चाहिए। लोगो की पसन्द, आलोचना अथवा प्रशसा से मिलनेवाला आनन्द तो एक पर्याय मात्र है। उसी प्रकार निन्दा या

उपेक्षा से मिलने वाला दुख भी एक पर्याय ही है। उनकी परवाह मुझे है नहीं। मेरा जीवन मेरे अधिकार की वस्तु है। मेरा जीवन मेरा अपना है। उसका सुख, सौन्दर्य दर्द पीड़ा और सौन्दर्य का अभाव ये सब मेरे हैं। दूसरे उसमें भाग लेना चाहें तो अच्छा, उसे स्वीकार करें तो अच्छा, न भी करें तो भी अच्छा। मैंने जो जीवन बिताया वह मेरा है, केवल मेरा है। इसका मतलब यह नहीं कि मैं दूसरों को तुच्छ समझता हूँ। इसका यह भी मतलब नहीं कि उनकी आलोचना के सत्यांश की ओर मुझे ध्यान नहीं देना चाहिए। उसके बिना कोई भी मनुष्य प्रगति नहीं कर सकता। फिर भी जिसने जो जीवन बिताया, उसे उसके अलावा भला और कौन जान सकता है? यह लेखन ही मेरे पगले मन के दस चेहरे हैं। इस लेखन के बारे में यदि मुझे किसी से क्षमा माँगनी हो तो मेरे जीवन के साथ मुझे उठा कर, जिस जीवन प्रवाह ने सवार किया उससे माँगनी चाहिए।

एक अर्थ में मैंने अपने जीवन को अपना कहा है। परन्तु विस्तृत अर्थ में, सत्य देखने चलें तो वह जीवन दूसरों के साथ घुला मिला है। मैं समाज के जीवन का एक अंश हूँ न? उसके सुख दुख मेरे हैं न? मेरा सदा का जीवन समाज का हिस्सा है न!

सम्पूर्णता की बात नहीं

यह एक सम्पूर्ण आत्मकथा नहीं है। सम्पूर्ण तो मैं भी नहीं हूँ। सम्पूर्णता का एक अंश भी नहीं बन पाया हूँ। यह मैं जानता हूँ कि यह विश्व ही सम्पूर्णता के लिए संघर्षरत है अतः सम्पूर्ण पद का मैं दावा नहीं कर सकता। दूसरे अर्थ में भी यह परिपूर्ण नहीं है। मैं अब ढलती उमर पर पाँव रख चुका हूँ। अतः अपने जीवन के जिस समय यह कथन कर रहा हूँ वहीं तक का ही चित्र उपस्थित कर सकता हूँ। पूरे जीवन का चित्र नहीं दिया सकता। मुझे भी अब जीने की इच्छा नहीं है। पर यह इच्छा अवश्य है कि दूसरों पर शारीरिक रूप से एक भार बन कर न जीऊँ। यदि बाद में जीवित रहा तो शायद मेरी स्थिति वैसी ही हो सकती है जैसी गोतम मुनि के बेटे नगनाविर म उम्र भर सन्तप्त थे। दूसरों की सहायता न करके बात व्यक्ति को दूसरों पर बोझ नहीं बनना चाहिए न!

लिखने की इच्छा

और कोई भी मुझ से यह पूछ सकता है कि ऐसी आत्मकथा लिखने का पागलपन क्यों? मैं पहले ही यह स्वीकार कर चुका हूँ कि मेरा मन पगला है तो यह प्रश्न ही व्यर्थ हो उठता है। कुछ वर्ष पहले मेरे मित्र रगलूर रंगनाथराव ने मुझ से कहा था, "मैं आत्मकथा की जीवनी लिख रहा हूँ मैं आपसे उसकी भूमिका लिखवाना चाहता हूँ।" वे दोनों ही मित्र थे। अच्छी बात है कह कर मैंने भूमिका

के चार शब्द लिख दिये। बाद मे उन्होने कहा, "मैं आपकी भी जीवनी लिखना चाहता हूँ। उसके लिए आप सामग्री दे सकेंगे ?,, तब मैंने हँस कर कहा, "दूसरो की लेखनी से हत्या कराने की इच्छा मुझे नही है। मैं अपनी हत्या अपन आप ही कर लूगा।" यह बात हुए कुछ ही साल हुए। मेर कई मित्रो ने ही नही, पत्नी लीला ने भी मेरी जीवनी के बारे म लिखा है। मेरा एक गहरा विश्वास है कि यदि किसी व्यक्ति की जीवनी बढिया लिखनी है तो लिखन वाले का और उस व्यक्ति का निकट का परिचय अवश्य होना चाहिए तभी वह सजीव बन पडेगी। केवल पुरानी खोजों से लिखा जानेवाला जीवन चरित्र एक व्यक्ति का केटेलॉग मात्र हो सकता है। वह हमे तभी सरस लग सकता है जब कि उसमे लेखक की मनोवत्ति प्रतिबिम्बित हो। तभी सही मायना म लेखक की आत्मकथा होगी।

बेंगलूर के मेरा ध्यान उस ओर आकर्षित करने के बाद से आत्मकथा लिखने की इच्छा हुई। एक दो मित्रो ने कहा, "लिख क्यो नही डालते ?" तब "एकदम मरन की इच्छा नही है" कह कर मैंने मजाक भी उडाया था। कुछ वष पूर्व मित्र राजरत्नम् ने 'दस वष' नाम से अपनी आत्मकथा लिखकर जनता को प्रदान की। 'दस वष' म तो एक सिल्वर जुबली भी नही होती। भला मैं उतना छोटा हूँ क्यो लिखू ? यह सोच कर मैं पच्चीस वष पूरे होने की प्रतीक्षा करता रहा। य पच्चीस वष मेर पूरे जीवन के पच्चीस वष नही। जबसे मैं 'मैं' बना और अपन को समझने लगा तब के पच्चीस वष हैं। बिना दूसरे की सहायता के समाज के प्रवाह मे मैंने जो पच्चीस वष काटे उनकी प्रतीक्षा करता रहा। इस लेखन का पहला सस्करण समाप्त होने के पन्द्रह वष बाद दूसरा सस्करण निकला। अब यह तीसरा है।

इतना जीना काफी नही ?

सन् 1921 मे कॉलिज से मुक्त हुआ। तब मैंने केवल ब्रिटिश सरकार स ही सम्बन्ध नही छोडा, कहना चाहिए कि अपरोक्ष रूप में मुझसे कहन और पूछनेवाले सभी से सम्बन्ध तोड लिये। मेरा ऐसा 'बे-लगाम' जीवन रहा है। पर उस पर जो बाहरी नियन्त्रण था यह 'वे' नही था। अब वह जमाना पूरी तरह बीत गया है। 1983 चल रहा है। इस बारे म मेरे मन म एक और ही बात उठ रही है —भारतीयों को यदि जीवन चरित्र लिखना हो तो उसे मेरी आयु स पहल ही लिख डालना चाहिए। भारतीयो की औसत आयु करीब 23 वष है तो उनके पास उस पर लिखन को ही क्या है भला ? अब मुझे इस बात पर गर्व है कि मैं उससे तिगुना जी चुका हूँ और चौगुन तक जा सकता हूँ कौन जाने ! मेरे माता पिता, दादी सभी जिद करके इतने समय तक जीये थे। मुझे क्यो नही इतना जीना चाहिए ?

आत्मकथाओं का अभाव

कन्नड़ में जीवनियों का अत्यन्त अभाव है। श्री डी. वी. गुंडप्पा ने गोखले की जीवनी लिखकर एक मार्गदर्शन किया। उन्होंने श्री गोखले के राजनैतिक जीवन का गहरा अध्ययन किया था। वैसे उच्चकोटि के गुण और संख्या के हिसाब से देखा जाय तो कन्नड़ में जीवनियों का सर्वथा अभाव है। तब आत्मकथा की बात कहाँ से उठी? विदेशी साहित्य में ऐसी सैकड़ों पुस्तकें हैं। जिन्होंने ऊँचा जीवन बिताया हो यदि वे स्वयं ही लिखें तो उनकी आत्मकथा सशक्त होगी। विदेशों में अनेक वैज्ञानिकों, राजनयिकों, और विविध क्षेत्रों में साहस दिखानेवालों ने रोचक आत्मकथाएँ लिखी हैं। हमारे यहाँ भी गांधी की आत्मकथा, जवाहरलाल की आत्मकथा मिलती है। उनका व्यक्तित्व महान् होने से उन पुस्तकों को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी मिली है। उन्हें पढ़कर मैंने भी आनन्द का अनुभव किया है और कुछ सीखा भी है। विदेशियों की आत्मकथाएँ मैंने अधिक नहीं पढ़ी हैं। लेकिन जिन दो चार को पढ़ा है उनसे मुझे बहुत सन्तोष मिला है। इनमें एच. जी. वेल्स की आत्मकथा, एडमिन्स बर्डन की आत्मकथा ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया है। ऐसी रचनाएँ पढ़कर यह महसूस होने पर भी कि मुझ जैसे व्यक्ति को एक काम में हाथ नहीं डालना चाहिए, मन में यह आशा अवश्य हुई कि एक बृहद् आत्मकथा के बदले एक छोटी-सी आत्मकथा क्यों न लिखी जाये। मैंने अपने उपन्यासों में बीसियों अनाम व्यक्तियों के जीवन को चित्रित किया है। फिर भला अपनी कलम का शिकार मैं स्वयं क्यों न बनूँ। यह शरारत, साहस, विनोद इस रचना में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। इस भूमिका को पहले लिख कर वास्तव में कहना चाहिए कि लिखवाया अर्थात् मुँह से बोलकर लिखवाया है। ऐसा यह मेरा पहला प्रयास है। अब आगे इसके कुछ और भी अध्याय लिखने हैं।

हम स्वयं देख नहीं सकते

इसका नाम मैंने 'अपने मन के दस चेहरे' रखा है। अपने मन के पागलपन का बोध हर समय नहीं होता है। दूसरे का पागलपन जितनी सरलता से दिखायी देता है क्या उतनी ही सरलता से हम अपना पागलपन देखते हैं? उसे देखने की इच्छा तो मुझे है। जिस प्रकार मैं अपने समाज से दूर खड़े होकर उसे देख कर समझने का प्रयत्न करता हूँ उसी प्रकार मैं अपने जीवन को देखकर समझना चाहता हूँ। यदि यह आशा पूरी हो तो यह एक अपूर्व संतोष की बात है। यदि इस मार्ग चलना है तो मुझे अपने भीतर का अहंकार छोड़ना होगा। दूसरों के सामने अपनी सज्जनता दिखाने की दुराशा छोड़नी होगी। इसके अतिरिक्त अपने मन को धोखा देने का भी हमारा एक स्वभाव होता। जब मनुष्य अपने आप को

सफलतापूर्वक धोखा देना सीख लेता तभी उसमे दुनियाँ को धोखा देने की शक्ति आती है। यह भी एक बात है। हम अपनी गहराई को नाप नही सकते। अपना छिछलापन हमे दिखायी नही देता। अपने थोड़े गुण अथवा चाहे व न भी हो, वे ही हमे बहुत नजर आते हैं।[1]

प्यारा-सा पागलपन

मैं अपने मन को पगला क्यो कहता हूँ ? इसका कारण यह नही कि मैं यह पागलपन नही चाहता बल्कि उसे मैं पसन्द करता हू। ऐसे पागलपन के कारण ही अनेक ऐसे साहस करके जिन्हें करना नहीं चाहिए, मुझे अपनी और दुनिया का पागलपन समझ मे आया है। इसके अलावा इसका एक और भी विशेष कारण है। मैं अपना सारा बचपन अपने दिशाहीन विद्यार्थी जीवन म ही खो बैठा। जब मैंने अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया तब देशाभिमान ने अपनी ओर आकर्षित किया। मैं असहयोग आन्दोलन मे कूद पड़ा। विष्णु के यदि दस अवतार हैं तो मेरे ध्येय ने सोलह अवतार लिये। देशप्रेम, स्वदेशी प्रचार व्यापार, पत्रकारिता, अध्यात्म साधना, कला के विभिन्न रूप—फोटोग्राफी, नाटक, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, सिनेमा—इतना ही नही समाज-सुधार, ग्रामोद्धार, शिक्षा म नये-नये प्रयोग, उद्योग—यह सब मेरे कार्यक्षेत्र रहे। और भी नये नये प्रयोग चल ही रहे हैं। कभी मैं एक प्रेस का मालिक भी रहा हू। पुस्तक लेखन से लेकर उसे छाप कर बेचने तक का काम किया है। स्वतन्त्र जीवन से लेकर सन्यास के जीवन से गुज़र कर गृहस्थ भी बना हूँ। केवल अपनी खिड़की से बाहर झाँकने वालो को भले ही इन सब परिवर्तनो मे कोई परस्पर सम्बन्ध न दीखे पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। इस यात्रा में कोई और व्यक्ति यदि मेरे साथ होता तो उसे पता चलता कि यह सब यात्रा के अलग-अलग पड़ाव हैं। वैसे भला मेरे साथ मित्र ही कितने थे ? उनमें से मुझे केवल एक व्यक्ति की याद आती है। उस व्यक्ति का चित्रण मैंने अपने 'चिक्स-डाडरू (बड़े-छोटे) मे किया है।

परन्तु मेरी प्रवृत्ति उनसे एकदम भिन्न है। अत व मुझे आसानी से समझ नही सकते। वे इतने तेज भी नही है। केवल अभिमन्यु और स्नेह से हमारी मित्रता चली आ रही है। तो यह निश्चित हुआ कि अपनी आत्मकथा लिखने को मैं अकेला ही उपयुक्त हूँ।

नवीनता मे आसक्ति

यहाँ आत्मकथा के केवल कुछ ही रूप आप देख सकते हैं। मैंने भी कुछ ही देखे हैं। इन आठ दशक की अवधि म मेरा जीवन और मन इतनी सारी दिशाओ मे बहा है। और इससे आगे की यात्रा कभी होगी है इसकी कल्पना मैं पस कर

सकता हूँ ? यदि मेरा उद्देश्य इतना निश्चित होता तो मेरे इस तरह जीने की आवश्यकता ही नहीं होती। तब क्या जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता ? विश्व का 'कल' जितना विचित्र प्रश्न है, हम सब लोगों के 'कल' का रहस्य भी उतना ही गूढ़ और विचित्र है। ऐसे कल के लिए नवीनता है उत्साह है। यह मेरी इच्छा है कि मेरे चारों ओर की दुनिया चिर नवीनता के लिए अवकाश देती रहे। मन को सदा ताजा होना चाहिए, तेज होना चाहिए, साँप की जीभ के समान आगे का रास्ता खोजते रहना चाहिए। परिचित रास्ते पर अन्धे के समान चलने से क्या लाभ ? तात्पर्य यह है कि तब से लेकर अब तक मेरे भीतर जितने परिवर्तन आये हैं उतने ही परिवर्तन आज से कल में भी आ सकते हैं। परन्तु कइयों के लिए वह अनिश्चित जीवन भयंकर दीख सकता है।

यश की गाथा नहीं

यह आत्मकथा मेरे जीवन के विविध साहसों के यश की कहानी दीखने की जगह हार की कहानी के रूप में दीख सकती है। परन्तु मनुष्य को जीवन में अनुभव प्राप्त करने के लिए सफलताएँ जितनी आवश्यक होती हैं असफलताएँ भी उतनी ही आवश्यक हैं या उससे भी ज्यादा। क्योंकि तराजू के एक पलड़े में अपना भार और दूसरे में परिस्थितियों का भार होने पर उसमें वह अपने वाले भार को हल्का पाता है।

यथार्थ भरने समान संघर्ष करने वाले दूसरे प्राणियों के सामने अपना बड़प्पन दिखा सकते हैं। उस बड़प्पन से गर्व पैदा हो सकता है। पर वह व्यक्ति को सही वजन बता नहीं सकता। समाज के प्रवाह के अनुकूल बह जाने, हवा के रुख के मुताबिक छतरी पकड़ने वाले को यश जितना आसानी से मिल सकता है उतना दूसरों को नहीं। दुनिया में चाहे जो भी यश क्यों न हो वह केवल हम पर ही निर्भर नहीं होता है यह मैं अच्छी तरह जान चुका हूँ। विधि कहिए, भाग्य कहिए अनुकूल परिस्थिति कहिए या और कुछ कभी-कभी हमारे प्रयत्न से भी अधिक यश हमें मिल जाता है। कभी-कभी जब हम अत्यन्त परिश्रम करते हैं तो भी वही यश हमें ठोकर मार मजाक करके चला जाता है। पर एक बात सत्य है पराजित को बार-बार काम करने का अवसर मिलता है। विजेता के लिए वह काम समाप्त होने के बराबर ही है। जब तक हम काम में आसक्ति रखते हैं, उसकी आवश्यकता समझते हैं उसके सौन्दर्य का अनुभव करते हैं तब तक काम हो आनन्द होता है। हार से दुनिया का अनुभव करते हैं, उसमें भी एक प्रकार का आनन्द होता है। व्यक्ति यदि सच्चा है तो हार में मिलने वाला अनुभव व्यर्थ नहीं जाता। भावी जीवन में वह सहायक होता है। यह सब हारे हुए व्यक्ति के कहने के ढंग हैं—चाहे ऐसा ही समझा जाय और मेरा

दृष्टिकोण तो यही है।

बहुमुखी होना

इस आत्मकथा में विविधा का मुख्य कारण मेरे मन का बहुमुखी होना है। मेरी इच्छा यह रही है कि मैं अपने शील को, स्वभाव को, इन्द्रियजन्य लालसाओं को, सभी प्रकार की चेतनाओं को विकास के लिए अवकाश दूं। अपने जीवन को एक ही ओर मोड़कर, एक ही ध्येय की साधना के लिए स्वयं को अर्पित करके उसके लिए निरन्तर परिश्रम करना कुछ लोगों का स्वभाव है। ऐसा परिश्रम करते समय, व्यक्ति की कुछ शक्तियाँ ज्यादा विकसित होती हैं, पर साथ ही अनेक शक्तियाँ मन्द पड़ जाती हैं। सदा लकड़ी काटने वाले की बाँह, छाती और पीठ की माँसपेशियाँ अधिक पुष्ट हो जाती हैं, पर पाँव की माँसपेशियाँ क्षीण रह जाती हैं। यह मैं पसन्द नहीं करता। विकासवादियों का कहना है कि मनुष्य का विकास बन्दर से हुआ। मैं अपने मन के स्वभाव से परिचित हूँ। उसकी बहुमुखी चेष्टाओं को देखकर इस वाद को स्वीकार करने के सिवा मेरे लिए और कोई चारा है?

लम्बी प्रस्तावना लिखने के बदले, आत्मकथा को ही आगे बढ़ाते हुए, अपनी पूर्व स्मृतियों को पिरोने का प्रयत्न करता हूं। इसके सारे अंश सब को भले ही पसन्द न आयें पर कुछ अंश तो कुछ लोगों को अवश्य पसन्द आ सकते हैं। एक बात और है, चाहे किसी को पसन्द आयें या न आयें, पर मुझे पसन्द हैं, अतः उनके लिखने में मुझे क्या डरना चाहिए?

अण्डे के भीतर

कूपमण्डूक

हमारा गाँव समुद्र के किनारे बसा है। दक्षिण कन्नड के उत्तर में 'कोट' नाम का एक ग्राम समुदाय है। हमारे बुजुर्गों ने तो उस 'कोट' को कभी एक गाँव नहीं समझा। आज भी बूढ़े लोग उसे 'कोट जगत्त' ही कहते हैं। भला कितना बड़ा रहा होगा मेरे उन लोगों का वह जगत! 'कोट' कोट नहीं, वह एक 'कूट' है, चौदह गाँवों का एक समुदाय। यहाँ का एक मुख्य समुदाय ब्राह्मणों का है जिसे 'कूट ब्राह्मण' कहते हैं। हमारा इतिहास बहुत छोटा है। प्रसिद्ध पुराण सह्याद्रिखण्ड में उसका वर्णन भी है। हमारे लोग समुद्र के तट पर या गाँव के किसी तालाब में खड़े होकर 'संकल्प' करते समय, 'गोदावरी-तीरे' कहा करते हैं। साथ-साथ 'परशुराम-क्षेत्र' भी कहते हैं। इस प्रान्त के लोगों के उद्धार के लिए ही 'वनवासियों' के राजा मयूरवर्मा ने अहिच्छत्र से कुछ ब्राह्मण परिवारों को लाकर यह प्रान्त बसाया था। उन्हीं से हम उच्च ब्राह्मणों का विकास हुआ। पहले आये हमारे पूर्वजों ने यहाँ के ब्राह्मणों से मिल कर अपने परिवारों की वृद्धि की फिर भी उनका दृढ़ विश्वास है कि कोट ब्राह्मणों के समान शुद्ध ब्राह्मण और नहीं हैं। मैं अपने मामा के साथ सन् 1922 में काशी गया था। उन्होंने वहाँ के ब्राह्मणों को देख अपना निर्णय देते हुए कहा, 'ब्राह्मणत्व यदि कहीं बचा है तो वह हमारे कोट में ही है।' उनके इस निर्णय को हाइकोर्ट भी नहीं बदल सकता। मुझे भी अपने बचपन में ऐसा ही लगता था। मैंने अपने 'मरळि मण्णिगे' (माटी की ओर) उपन्यास में अपने लोगों की गरीबी, खान-पान और आचार विचार का काफी विस्तार से चित्रण किया है। उनके स्वभाव में घमण्ड, द्वेष, ओछापन मैंने अपने 'हळ्ळिय हत्तु समस्तरु' (गाँव के दस म) में चित्रित किया है। मेरे समाज के स्थूल परिचय के लिए इतना पर्याप्त है।

सौन्दर्य के आगार में

मेरा गाँव बड़ा सुन्दर है। दक्षिण कन्नड़ जिले में एक कुसुम मनोहारी इलाका

है। उस समतल भूमि मे खेती बाड़ी होती है। बीच बीच मे नारियल के झुरमुट मे घर हैं। वहाँ दो छोटी खारियाँ (Backwaters) बहती हैं। पश्चिम म हगार-कट्टे की 'कोडी' से कुदापुर की 'कोडी' तक बारह मील के क्षेत्र म फैला समुद्र का सुदर विस्तार है। एक चट्टान तक नही है वहाँ। बचपन से अब तक हमारे घर से दो मील दूर के उस तट पर जब तक मैं घूमता नहीं, उस खार पानी मे कुलाटें नही मार लेता और सूखी मछली की गध (अनिवाय रूप से) सूघ नही लेता, मुझे तृप्ति नही मिलती। ऐसा शान्त तट और कहाँ है! अपने कई दोस्तो को भी वहाँ साथ लेकर गया हू। 'राशि' ने लिखा है कि मरने से पहले वहाँ जरूर आऊगा। श्री सीतारामय्या वहाँ पता नही कितनी बार खड़े होकर लम्बी-लम्बी सासे लेकर बेहद खुश हुए थे। वे वहाँ की रेत चुरा कर अपन साथ ले भी गय हा तो कोई आश्चय नहीं। यहा पर सष्टि के सौदय का कोई अन्त ही नही। वहाँ के समुद्र की प्रशान्तता और विस्तार मन पर जो प्रभाव डालते हैं, उसका कोई हिसाब नही। समीप से देखने पर तो वह चकाचौंध कर डालता है। यह कभी जड नही, निस्तब्ध नही है। जरा दूर ऊचाई पर खडे होकर उसका विशाल दृश्य देखने पर परम सन्तोष मिलता है।

कमल के साथ कीचड

हमारे गाँव मे स्नान के लिए छोटे बडे तालाब है। रेतीली धरती को गहरा खोद कर चारो ओर पत्थर बाँध कर पुराने लोगो ने तालाब बनाय थे। अब सीढियाँ ढीली पड चली हैं। पत्थर टेढे मेढ़े हो जाने से उनके नीचे साँपो और मेढकों के लिए बिल बन गये है। मेरी एक बुआ ऐसे ही एक तालाब के किनारे साँप के काटने से मर गयी थी। अब भी वह चित्र मरे मन पर से मिटा नही। तब मैं कोई चार-पाँच का रहा हूगा। फिर भी हम लोगो का नित्य स्नान वही होता था। हमारे घर के बहुत समीप वाले तालाब का नाम 'वरुण तीथ' है। उस पवित्रोदक मे असख्य भैंसे और भस आनन्द लेते हैं। मैंने भी गले तक डूबकर गर्मी का शमन करने का प्रयास किया है। वहाँ के कमलो और कुमुदनियों को देख देखकर मन ही मन आह्लादित हुआ हू। उस तालाब के हर एक किनार पर अलग अलग जाति के लोग स्नान किया करत थ। अब समतावाद आ गया, जाति भेद चला गया है। सभी जहाँ जी चाह स्नान करत हैं। तालाब को स्वच्छ रखने को भले न सही, उसे गन्दा करने का सभी ने समान अधिकार पा लिया है।

हमारे तलाब के पानी का रग सभी को पसन्द का है। सदा हरे रग की काई से भरा रहता है। जब भी उस तालाब को देखता हूँ, अपन लागों की उदासीनता देखकर दुखी होता हूँ।

बिना मठ के लोग

हमारे गाँव की मुख्य जाति ब्राह्मण ही है। हम स्मार्त ब्राह्मण हैं। यहाँ के लोगों के भाग्य में केवल कौपीन ही बदा है। उनकी गरीबी का कोई ठिकाना नहीं। आजकल तो, गाँव के लोग उडुपि के कृष्ण की कृपा से दूसरे गाँवों में जाकर होटल के व्यापार में खूब पैसा कमा कर गाँव भेज रहे हैं। तब से अब उनकी आर्थिक स्थिति में काफ़ी सुधार हो गया है। पैसे का घमण्ड भी आ गया है। सट्टेबाजी में भी उत्साह लेने लगे हैं। हमारा ब्राह्मण वर्ग एक दृष्टि से बड़ा ही विचित्र है। हमारा कोई मठ नहीं है। हमारे लिए संन्यासियों की झंझट ही नहीं। एक जमाने में हमारे कूटों में ही हमारे आचार विचारों का निर्णय हो जाता था। लोग उडुपि की भोजनशाला में घुसने पर भी वहाँ के संन्यासियों को नमस्कार नहीं करते थे। पहले एक बार शृंगेरी मठ के स्वामीजी आये थे तब उनके पाँव छूने से बचने को गाँव के पास वाली नदी में नावों में खड़े होकर ही उनका स्वागत किया था। शायद बाद में स्वामी जी हमारे गाँव आये ही नहीं होंगे। हमारे गाँव में माता का एक मंदिर है। विष्णु की भी मूर्ति है। एक छोटा सा शिवालय भी है। हम लोग समान रूप से उन सब की पूजा करते हैं। लेकिन हमारे कुलदेवता लक्ष्मी-नरसिंह हैं। लक्ष्मी की कृपा भले ही हमारे गाँव वालों पर अधिक नहीं रही पर नरसिंह से क्रोध तो पर्याप्त मिला है। मुझ में जो क्रोध है उसका कारण शायद यही नरसिंह रहा होगा जिसे मैं गाँव में ही छोड़ आया हूँ।

मेरे पूर्वज

सुना है कि हमारे पूर्वजों ने भी पहले बहुत गरीबी देखी थी। मेरे जन्म के समय परिस्थिति में थोड़ा सुधार हो चुका था। एक बड़े से घर में मेरा जन्म हुआ था। मेरे पिता केवल बारह आठ आने मासिक वेतन पर अध्यापन कार्य किया करते थे। उन्हें अपने पिता से केवल तीन रुपये लगान की भूमि विरासत में मिली थी। मेरे पैदा होने से पहले मेरे दादा चल बसे थे। उनकी स्थिति ज़रा अच्छी थी परन्तु नागार्जुन के समान, उन में रसायन विद्या का बड़ा पागलपन था। तांबे को गला कर सोना बनाने के चक्कर में सारी सम्पत्ति गँवा बैठे थे। मेरे पिता ने कुछ धनी मित्रों की सहायता से कपड़े का व्यापार आरम्भ किया, और उसी में फूले फले।

हमारा घर मुख्य सड़क पर था। वहीं मेरा जन्म हुआ। मुझसे पहले चार भाइयों का जन्म हो चुका था। उनमें से एक का बचपन में ही निधन हो चुका था। मेरे बाद भी चार भाई और तीन बहनें पैदा हुए। घर में सब से बड़ी

दादी ही थी। उनका नाम ही था महालक्ष्मी। उसके बाद पिताजी और माँ लक्ष्मी-देवी थे। माँ और दादी बड़े कष्ट में पली थी। उनका जीवन अपार श्रद्धा और भक्ति से भरा था। तालाब पर स्नान को जाते समय हम कभी शरारत से मेढकों को पत्थर मारते तो वे कहती 'मेढक ब्राह्मण होता है उसे मारना नही चाहिए। यदि किसी भी प्राणी को हम सताते तो हमें उसका दण्ड मिलता था। और फिर दादी, माँ दोनों हमारी शरारत, हिंसा और पापकृत्यों के लिए अपना-अपना जप आधा घण्टा और बढ़ा देती थी। हमारे लिए भगवान् से क्षमा भी माँगती थी।

मेरी माँ के इस घर में पाँव रखने के बाद से घर की स्थिति सभली। वे सौजन्य की मूर्ति थी। धनागम के मामले में वास्तव में लक्ष्मी ही थीं। वे लगभग चालीस वर्ष पहले गुजर गयीं। जब उन्हें याद करता हूँ तो ऐसा लगता है कि बारह बच्चों के जनमने के कारण ही उनका जीवन ढल गया। फिर भी किसी प्रकार सत्तर साल तक जीवित रहीं। मेरी दादी जब गुजरी तब पचहत्तर बरस की थी। हम सब बच्चे गरीबी में भले ही न सही, पर ऐश्वर्य की गोद में नही पले। हमारे पिता हमें ज्यादा पैसे नही देते थे। उनकी बच्चों के साथ घनिष्ठता भी कम थी। यदि हमें एक-दो आने की आवश्यकता होती तो दादी या माँ के द्वारा अर्जी लगानी पड़ती। बाद में उनकी वकालत से ही मजूर होती। गाँव में मेले के समय एक या डेढ़ आना हमारे हिस्से पड़ता तो हम वही एक रुपये के बराबर दीखता था। हमारा घर 'कपड़े वालों का घर' कहलाता था। गरीबी होने पर भी कभी खाने पीने की तंगी नही रही।

बचपन की यादें

मेरे बचपन के दिनों में मेरे गाँव में पुराने ढंग की पाठशालाएँ चलती थीं। अध्यापक बाँस में डण्डा फँसाना, मुरगा बनाना आदि सजाएं दिया करते थे। वहाँ गणित, पहाड़े, यक्षगान आदि सिखाया जाता था। रेत पर 'श्री गणाधिपतये नमः' लिखना सिखाते थे। उसके बाद पट्टी पर लिखाई शुरू होती, फिर स्लेट पर और बाद में भोज-पत्र पर और फिर कण्ठस्थ कराते। मैं तो इस युग का था (जन्म 1902) मैं तो उन पाठशालाओं में पढ़ा नही। मेरी उमर के बच्चे वहाँ पढ़ा करते थे। हम तो वहाँ की यक्षशाला में जाते जहाँ धरती पर बिठा कर पढ़ाई होती थी। मेरे प्रथम गुरु रंगराय थे। वे कल्याणपुर तोंसे के थे। रंगरायजी ने मुझे क्या पढ़ाया अब याद नही, पर उनके हाथ की बलपाती छड़ी अब भी याद है। मेरे साथ कृष्णप्पा नाम का एक लड़का पढ़ता था। उसके डराने के लिए वे "तुझे ढोल के भीतर बन्द करवा दूंगा!" कहा करते थे। गाँव के मन्दिर के आँगन में एक बड़ा-सा ढोल रखा रहता था। उसकी ध्वनि बड़ी गम्भीर हुआ करती थी।

मना उसके पेड़ में पहुंचने में किसे खुशी होती ! धर्मशाला में सदा चिमगादड़ लटके रहते थे। हम उनके नीचे बैठते थे। वहीं आस पास उल्लू, जंगली कबूतर, चिमगादड़, बिल्ली हमारे सगी साथी थे। मन्दिर में कभी कभार मदारी वगैरा लंगूर आदि ले कर आते तो वे भी हमारे प्रिय पात्र बन जाते थे। आजकल तो गाँवों में लंगूर दीखते ही नहीं।

धर्मशाला में ही दो-तीन बरस मेरी शिक्षा चली। उन्हीं दिनों उडुपि ताल्लुक बोर्ड ने हमारे गाँव में एक स्कूल के लिए भवन बनाया। हम उस स्कूल में बैठने को बैंच मिली। किताबें पढ़ने के लिए पुस्तकालय भी खुल गया। 'बोधिनी' नाम की शिक्षा सम्बन्धी पत्रिका तभी मैंने देखी। स्कूल में सत्तर-अस्सी विद्यार्थी और तीन चार अध्यापक थे। [illegible] मेरे प्रिय अध्यापक थे। वे हमें बागवानी, रंगीन कागज़ों से फूल बनाना, चटाई बुनना आदि काम सिखा कर खुश होते थे। तभी हमारे स्कूल में हाथ-पैर चलाने की कला यानी ड्रिल नयी-नयी शुरू हुई थी। कुछ दस्तकारियों का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा था। यदि कभी स्कूल इन्स्पेक्टर आता तो वह दिन हमारे लिए एक उत्सव जैसा होता था। वह एक नयी कमीज़ पहनने का अवसर होता था। हम उन्हें इन्स्पेक्टर साहब नहीं पुकारते थे। पहली बार आने वाले इन्स्पेक्टर विश्वेश्वर राय का नाम ही आगे उस पद के लिए चलता रहा। उस शाला में मैं कोई तीन-चार वर्ष पढ़ा हूंगा। तब की एक घटना मुझे अच्छी तरह याद है। मेरे एक सहपाठी मोममाजी नाम के लड़के ने अपने पिता की ऐनक चुरा ली। जब स्कूल में उसे धमकाया गया कि ऐनक किसे दी, उसने मेरी ओर इशारा कर दिया। उस दिन मेरा सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, मैंने चश्मा बनवाकर पहना था। अध्यापक ने धमकाते हुए पूछा "क्या चश्मा तुम्हारे पास है ?" मैंने 'नहीं' कह दिया। उन्होंने छतरी की डण्डी से मेरी खूब पिटाई की। उस मार से डर कर मैंने 'हाँ' कर दी। जब तक गुनाह नहीं किया जाय तब तक शिक्षकों को नहीं पता, यह दस्तूर वे पहले से ही जानते थे। मैं दोपहर की छुट्टी में आ कर गया तो वहीं रह गया। चश्मा भला कहाँ से लाता। वह चश्मा बाद में उस लड़के के घर में ही मिल गया। उस दिन मेरे पल्ले तो मार पड़ी। आगे से हमारे उस अध्यापक ने सत्य की परीक्षा करने के उस रास्ते को मुझ पर नहीं आजमाया।

मेरे गुरूर आकर बसने के बाद कई दिन बाद मेरे एक सम्बन्धी ने कल्याणपुर के नज़दीक के एक गाँव [illegible] के एक घराने में रिश्ता किया। उस घर में शादी पर आए एक व्यक्ति से पता चला कि मेरे प्रथम गुरु रंगराय जी अभी उनके गाँव के नज़दीक रहते हैं। कई दिनों से उन्हें देखने की इच्छा पूरी नहीं हो पा रही थी। एक बार जब मैं उडुपि गया था तब मेरे मित्र हरिदास भट्ट मुझे साथ ले कर [illegible] के पास ही 'मोटर' से चले थे। हम [illegible] में उस गाँव में रंगराय का

घर खोज कर जा पहुंचे। तब वे अस्सी से ऊपर के हो चुके थे। दूसरे लोग तो उनका नाम तक भूल चले थे। हम किसी तरह उनके घर पहुंचे थे। दरवाजा खोलने आयी महिला से मैंने कहा, "जाकर कह दो कि उनका एक शिष्य आया है।" तत्काल उस वयोवृद्ध व्यक्ति ने आकर मेरा स्वागत किया। बुढ़ापे के कारण उनके मुख पर कोई पुरानी छाया शेष न थी। मेरे "मैं शिवराम हूं" कहते ही वे मुझे पहचान गये। उसका कारण यह था कि शुरू में जब वे हमारे गांव आये तब वे हमारे घर पर ही ठहरे थे, उन्होंने मेरे बड़े भाइयों को भी पढ़ाया था। मेरे स्कूल जाना शुरू करने के पहले ही वे मुझे गोद में ले जाते और अपनी कुर्सी पर बिठा लेते थे।

उन्होंने एक कहानी सुनायी जो मुझे मालूम नहीं थी। जब मेरा स्कूल में दाखिला कराया गया तब भी मैंने उसी कुर्सी पर बैठने की जिद नहीं छोड़ी। इस पर गुरुजी ने अपने अधिकार का प्रथम परिचय कराया। एक थप्पड़ जमाकर मुझे अपनी जगह दिखायी।

मेरी यह भेंट लगभग साठ साल के बाद हुई थी। उस दर्शन के सुख का मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्हें एक शाल ओढ़ाकर, उनके पांव छूकर, इस कृतज्ञ भाव से नमस्कार करके लौटा कि दूसरों ने भी मेरी बुद्धि रूपी बीज को शिक्षा के जल से सींचा था। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों समाज के ऋण का भार भी ज्यादा होता जाता है न!'

उन दिनों पांचवीं क्लास पूरी होने तक हम, मां-बाप को पत्र लिखना सिखाने के अतिरिक्त, डिमांड नोट, प्रोनोट, खरीददारी के कागज आदि व्यवहार के लिए आवश्यक बातें लिखनी सिखायी जाती थीं। हस्तलेख पढ़ने का भी अभ्यास कराया जाता था। पता नहीं शायद इसीलिए मेरी लिखाई इतनी खराब हो गयी कि उसे ब्रह्मा भी पढ़ नहीं पाता।

बचपन का स्वप्न साम्राज्य

हमारे स्कूल से बाहर की दुनिया बहुत सरल और सुन्दर थी। हम गांव के मेले में बिना नागा जाते। कोटेश्वर का मेला, माला का मेला, शालिग्राम का मेला, घर के पास बड़े मन्दिर का मेला—इन सब में जाते। उस बड़े मन्दिर का नया रथ हमारे घर पर ही तैयार हुआ था। हमारे घर की घुड़साल के पास ही एक छप्पर डाला गया था। उन दिनों हमारे गांव में घोड़ा-गाड़ी रखने वाले सब से पहले आदमी मेरे पिता जी ही थे। सफेद और भूरे दुरंगे घोड़े को मेरे पिताजी 'पंच कल्याणी' कहते थे यह बात मुझे अब भी याद है। घोड़े की बात छोड़ कर अब रथ की बात कहता हूं। रथ तैयार करने के लिए कई बढ़ई साल भर काम करते थे। उस पर चित्र उरेखन, छीलन और उकेरन के काम

भला उसके यभ म पहुचने मे किसे खुशी होती। यनशाला मे सदा चिमगादड लटके रहते थे। हम उनके नीचे बैठने थे। वही आस पास उल्लू, जगली कबूतर, चिमगादड, बिल्ली हमारे सगी साथी थे। 'मंदिर मे कभी कभार मदारी वगैरा लगूर आदि ल कर आत तो व भी हमार प्रिय पात्र बन जाते थे। आजकल तो गाँवा म लगूर दीखत ही नही।

यनशाला म ही दो-तीन बरस मेरी शिक्षा चली। उन्ही दिनो उडपि ताल्लुक बोड ने हमार गाँव म एक स्कूल के लिए भवन बनाया। हम उस स्कूल म बैठने को बेंच मिली। किताबें पढने के लिए पुस्तकालय भी खुल गया। 'बोधनी' नाम की शिक्षा सम्बन्धी पत्रिका तभी मैंने देखी। स्कूल मे सत्तर-अस्सी विद्यार्थी और तीन-चार अध्यापक थे। काशप्पय्या मेरे प्रिय अध्यापक थे। व हमे बागवानी, रगीन कागजो से फूल बनाना, चटाई बुनना आदि काम सिखा कर खुश होत थे। तभी हमारे स्कूल म हाथ-पैर चलाने की कला यानी ड्रिल नयी-नयी शुरू हुई थी। कुछ दस्तकारियो का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा था। यदि कभी स्कूल इन्स्पेक्टर आता तो वह दिन हमारे लिए एक उत्सव जसा होता था। वह एक नयी कमीज पहनने का अवसर होता था। हम उन्ह इन्स्पेक्टर साहब नही पुकारते थे। पहली बार आन वाले इन्स्पेक्टर विश्वेश्वर राय का नाम ही आगे उस पद के लिए चलता चला। उस शाला म मैं कोई तीन-चार वष पढा हूँगा। तब की एक घटना मुझे अच्छी तरह याद है। मेरे एक सहपाठी सोमयाजी नाम के लडके ने अपन पिता की ऐनक चुरा ली। जब स्कूल म उस धमकाया गया कि ऐनक किसे दी उसने मेरी ओर इशारा कर दिया। उस दिन मेरा सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, मैंने चश्मा बनवाकर पहना था। अध्यापक ने धमकाते हुए पूछा, "क्या चश्मा तुम्हारे पास है ?" मैंने 'नही' कह दिया। उन्होंने छतरी की डण्डी से मेरी खूब पिटाई की। उस मार से डरकर मैंने 'हाँ' कर दी। 'जब तक यम नहीं किया जाय मक्खन पिघलता नही' यह दशन वे पहले से ही जानत थे। मैं दोपहर की छुट्टी म जो घर गया तो वही रह गया। चश्मा भला कहाँ से लाता। वह चश्मा बाद मे उस लडके के घर मे ही मिल गया। उस दिन मेरे पल्ले तो मार पडी। आगे से हमारे उस अध्यापक ने सत्य की परीक्षा करने के उस रास्ते को मुझ पर नहीं आजमाया।

मेरे पुत्तूर आकर बसने के काफी दिन बाद, मेरे एक सम्बन्धी ने कल्याणपुर के समीप के एक गाँव केम्मण्ण के एक घरान म रिश्ता किया। उस घर मे शादी पर आये एक व्यक्ति से पता चला कि मेरे प्रथम गुरु रगराय जी अभी उनके गाँव के समीप ही हैं। बहुत दिनों से उन्हें देखने की इच्छा पूरी नही हो पा रही थी। एक बार जब मैं उडपि गया था तब मेरे मित्र हरिदास भट्ट मुझे साथ ले कर केम्मण्ण के पास ही तोन्से ले गये थे। हम समुद्रतट के उस गाँव म रगराय का

घर खोज कर जा पहुंचे। तब वे अस्सी से ऊपर के हो चुके थे। दूसरे लोग तो उनका नाम तक भूल चले थे। हम किसी तरह उनके घर पहुँचे थे। दरवाजा खोलने आयी महिला से मैंने कहा, "जाकर कह दो कि उनका एक शिष्य आया है।" तत्काल उस वयोवृद्ध व्यक्ति ने आकर मेरा स्वागत किया। बुढ़ापे के कारण उनके मुख पर कोई पुरानी छाया शेष न थी। मेरे "मैं शिवराम हूं" कहते ही वे मुझे पहचान गये। उसका कारण यह था कि शुरू में जब वे हमारे गाँव आये तब वे हमारे घर पर ही ठहरे थे, उन्होंने मेरे बड़े भाइयों को भी पढ़ाया था। मेरे स्कूल जाना शुरू करने के पहले ही वे मुझे गोद में ले जाते और अपनी कुर्सी पर बिठा लेते थे।

उन्होंने एक कहानी सुनायी जो मुझे मालूम नहीं थी। जब मेरा स्कूल में दाखिला कराया गया तब भी मैंने उसी कुर्सी पर बैठने की जिद नहीं छोड़ी। इस पर गुरुजी ने अपने अधिकार का प्रथम परिचय कराया। एक चपत जमाकर मुझे अपनी जगह दिखायी।

मेरी वह भेंट लगभग साठ साल के बाद हुई थी। उस दर्शन के सुख को मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्हें एक शाल ओढ़ाकर, उनके पाँव छूकर, इस कृतज्ञ भाव से नमस्कार करके लौटा कि दूसरों ने भी मेरी बुद्धि रूपी बीज को शिक्षा के जल से सींचा था। ज्यों ज्यों हम बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों समाज के ऋण का भार भी ज्यादा होता जाता है न!"

उन दिनों पाँचवीं क्लास पूरी होने तक हम, माँ-बाप को पत्र लिखना सिखाने के अतिरिक्त, डिमांड नोट, प्रोनोट, खरीददारी के कागज आदि व्यवहार के लिए आवश्यक बातें लिखनी सिखायी जाती थी। हस्तलेख पढ़ने का भी अभ्यास कराया जाता था। पता नहीं शायद इसीलिए मेरी लिखाई इतनी खराब हो गयी कि उसे ब्रह्मा भी पढ़ नहीं पाता।

बचपन का स्वप्न साम्राज्य

हमारे स्कूल से बाहर की दुनियाँ बहुत सरस और सुन्दर थी। हम गाँव के मेले में बिना नागा जाते। कोटेश्वर का मेला, माता का मेला, शालिग्राम का मेला, घर के पास बड़े मंदिर का मेला—इन सब में जाते। उस बड़े मन्दिर का नया रथ हमारे घर पर ही तैयार हुआ था। हमारे घर की घुड़साल के पास ही एक छप्पर डाला गया था। उन दिनों हमारे गाँव में घोड़ा-गाड़ी रखने वाले सब से पहले आदमी मेरे पिता जी ही थे। सफेद और भूरे दुरंगे घोड़े को मेरे पिताजी 'पंच कल्याणी' कहते थे यह बात मुझे अब भी याद है। घोड़े की बात छोड़ कर अब रथ की बात कहता हूँ। रथ तैयार करने के लिए कई बढ़ई साल भर काम करते थे। उस पर चित्र तराशन, छीलन और उकेरन के काम

देखने मे मुझे बड़ी आसक्ति थी। एकाध रथ आज भी हमारे घर में है। मेला शुरू होते ही रथ को फिर से सजा कर उसे खींचने तक हम उसे देखा करते। शाम की वलि दीपोत्सव, रथारोहण, गाँव मे भगवान् की परिक्रमा लगाना यह सब एक भी बिना छोड़े हम देखा करते। ऐसे मौका पर हम अपने सम्बन्धियो के बच्चों से मिलने का अवसर मिल जाता था। मेला शुरू होते ही दुकानें लग जाती। हम खिलौनो की दुकाना के सामने खड़े होकर प्रत्येक वस्तु का भाव-ताव करते और चवन्नी का माल एक पैसे मे खरीदने की कोशिश करते। भड़भूजे की दुकान की चीजों को चख चख कर देखने मे ही पेट भर लेते। पास तो एकाध इकन्नी ही होती पर व्यापार सैकड़ा का करने के समान दिखावा करते। चाँदनी म खेता से फलियाँ चुराकर सुबह अलाव तैयार करके उन्हें भूनकर खाते। स्नान को तालाब पर जाते तो गदले पानी को और भी गन्दा करके गाँव की स्त्रियो से डाँट खाते। अकेले रहने हुए हम बड़े सभ्य रहते थे, पर लड़को का गुट बनते ही हर प्रकार की सूट म सुध-बुध भूल कर भाग लेते।

मृत्यु का वैराग्य

दीपोत्सव हमे बड़ा अच्छा लगता था। दीपमाला, आतिशबाजी मे सुर्री, बाण, चकरी अनार, पटाके आदि तो हम दूसरे लोक की सर ही करा डालत। सुखद इन यादो के साथ ही एक याद और चली आ रही है। हमार घर के पास वाले शिव मन्दिर क मेल मे आतिशबाजी करने को बम-पटाके हमारे घर की एक कोठरी म ला कर भर दिये जाते थे। एक बार मेरी बड़ी मौसी का बेटा, जो हमारे ही घर म रहा करता था, हाथ वाला दीया ले कर उस कमरे म गया। उसके हाथ स दीया छूट गया। बारूद मे आग लग जाने से विस्फोट हो गया और उसका सारा शरीर जल गया। उसके झुलसे शरीर का चित्र आज भी मेरे सामने है। दो दिन बाद ही वह चल बसा था।

छुआछूत

अब गाँव की पाठशाला और घर के आचार विचार तथा सार्वजनिक जीवन क बारे म दो बात कहूगा। गाँव के मेला म सैकड़ा लोग इकट्ठे होते थे। लेकिन उनका व्यवहार व्यापार अपनी जातिया तक ही रहता था। ब्राह्मण जाति म पैदा होने क कारण अड़ोस-पड़ोस के एक दो लड़का के सिवा मेरे और ज्यादा दोस्त नहा थ। छुआछूत मानने वाले हमारे घरवाला को शूद्रा के साथ हमारा खेलना पसन्द न था। तब भीलों (शराब उतारनेवाला) के बच्चा को स्कूल मे दाखिला नहीं मिलता था। उन्हें छूने पर हम नहाना पड़ता था। जब हम स्कूल जाते थ तब सामने स यदि हालेय (अछूत) आ जाता तो उसकी छाया से भी बचकर

जाना होता था। दोपहर की धूप के समय जरा पास से निकला जा सकता था। स्कूल के कपड़े बाहर बरामदे में उतारकर हाथ पाँव धोकर केवल कौपीनधारी होकर ही हम घर में भीतर घुस सकते थे। वह कौपीन भले ही कितना ही गन्दा क्यों न रहे, पर हमारा विश्वास था कि वह सदा शुद्ध ही रहता है। बच्चों के कपड़े छू जाने से हमारी माँ और दादी को कभी कभी सात आठ बार नहाना पड़ जाता था। पिता जी जब दुकान से आते थे तब दुकान की छूत वाले कपड़े बाहर उतारकर पीताम्बर पहन कर भीतर खाना खाने घुसते थे। हम ही उनसे अच्छे थे। समुद्र के किनारे मेरी ताई का घर था। उनके घर का वातावरण बिलकुल वैसा ही था जैसा कि मैंने अपने उपन्यास 'मरळि मण्णिगे' (माटी की ओर) में राम ऐताल के घर को दिखाया है। वे हम से भी ज्यादा छुआछूत मानती थी। उस घर के लोग अध्ययन, होम और यज्ञ में ही समय बिताते थे। वहाँ या अपने मामा के घर श्राद्ध आदि का बुलावा आने पर हमें खूब मौज उड़ाने का मौका मिलता। हमारा सारा समय समुद्र या तालाब में ही गुजरता। समुद्र में कूदना, बाहर रेत में लोटना, फिर पानी में कूदना यही हमारा धन्धा रहता, जो हम भूल ही नहीं सकते। उस उपन्यास के नायक 'राम ऐताल' ने जिस नदी को पार किया था हम उसमें किसी-न किसी की नाव चुरा कर नौका विहार करते थे। दो अलग अलग नावों में खड़े होकर दल बाँधकर रेत के गोले बनाकर एक दूसरे से युद्ध करते। उस समय हमारा जो रंग बिगड़ जाता था और कपड़े गन्दे होते थे वह सब हम माटी की सन्तानों को बड़ी ही पसन्द आने वाली चीजें थी।

खेती और खेल

हमारे यहाँ खेती-बाड़ी के सब काम मजदूरों के द्वारा होते थे। पर हाई स्कूल की पढ़ाई खत्म होने पर छुट्टियों में हम भी घर के कामों में लग जाते। क्रिसमस की छुट्टियों में घर के चार बड़े आँगनों को पत्थर से रगड़ रगड़ कर साफ-सुथरा करके चिकना कर देते। कुल्थी और उड़द के पौधे खेतों से उखाड़ने जाते। गर्मियों में ढोर चराते, मुर्गे मुर्गियों से धान की पजीरी बचाते, उसकी रखवाली करते। मैदानों में गर्मी महसूस करने के बदले हमें मजा ही आता था। गाँव के खेल गुल्ली डण्डा, कबड्डी, पिट्ठू, चोर, गाय—आदि हमारे मनोरंजन के साधन थे। बहुत सुविधाएँ न होने पर भी मन को प्रसन्न रखने का ये खेल हमारे लिए काफी थे।

भैंसा-दौड़ की स्पर्धा

गाँव में भैंसा दौड़ होने पर हम ब्राह्मण होने के कारण देखने नहीं जाते थे।

तब हमारा विश्वास था कि वह श्रद्धा का खेल है। हमारे गाँव से तीन कोस दूरी पर 'बडार' नाम का एक गाव है। वहाँ की प्रसिद्ध भसा दौड मैंने अपने चालीस पार करने के बाद देखी। उस खेल के उत्साह के क्या कहने ? एक दिन पहले ही बुलावा जाता और दूर-दूर से भसा की जोडियो उस बाजी म भाग लन आ जाती थीं। सारी रात होलेय (अछूत) ढोल पीटते और बाजे बजाते हुए उनक साथ जाते। अगर कभी भैंस बीमार पड जाये तो लोग म नत मनात कि हम बण्डार क स्पर्धा के मैदान मे भसै को उतारेंगे। करीब करीब हजार जोडियाँ उस स्पर्धा म भाग लेती हो तो कोई आश्चय की बात नही। पाँच छ एकड के कीचड भरे मैदान मे उन भैंसो की दौड हमारे गाँव के भैंस प्रिय लागो के लिए एक उत्सव होती थी।

सावजनिक मनोरजन

इसके अलावा हमारे गाव का सावजनिक मनोरजन दशावतार के नाटक थे। उनमे 'वधन्ती' और 'मारण कट्टे' आदि नाटक के रूप आज भी प्रसिद्ध हैं। हमारे गाँव म नाटक मण्डलियाँ अक्सर आती रहती थी। जब हम छोटे थे तब बयलाट (खुले मदान मे खेले जानेवाले नाटक) की वेश भूषा देखने की बडी इच्छा रहा करती थी। जब मैं कोई तीन बरस का रहा हूगा तब मैंन महाकाली (चण्डी) का वेश देखा था जो आज भी मेरे मन पर अंकित है। नाटक मे रग बिरगे वेष-भूषा पहने सुबह-सुबह आनेवाले पात्रो को देखने की प्रतीक्षा मे हम छोटे छोटे बच्चे खेल के मैदान मे सोकर प्रतीक्षा करते। उपल्ली शेप की वेष भूषा उस जमाने म हमे राक्षस लोक पहुँचा देती। वसे हम गधव, किरात, कण, शल्य आदि अदभुत और आकपक वेष धारण करनेवाले पात्रो की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते। वे पात्र आज भी रग सज्जा और वेष भूषा के अति उत्तम उदाहरण है। आजकल इस कला का स्तर घट गया है। उन दिनो पाडेश्वर पुट्टय्या का नृत्य बडा प्रसिद्ध था। उसी पुट्टय्या के एक बेट न आगे चलकर सिनेमा के क्षत्र मे खूब नाम कमाया। समय कला के प्रेम म भी परिवतन लाता है। वर्षा के दिनो मे हमारे घर म रोज भागवत का वाचन चलता था। हमारे पडोसी एक मित्र भागवत पढा करते थ और पिताजी उसका अथ बताया करते थे। मेरी दादी और माँ आदि सभी बडी भक्ति से सुना करती। हम भी कहानियो मे उतनी ही रुचि लेकर सुनते। ऐसी कहानियाँ सुनने का हमे पूरा आनन्द तब आता जब हम अपने सम्बन्धियो के यहाँ जाते। हम सब वयस्क लडके आधी रात तक कहानियाँ कहते और सुनते। उनमे दादी राजकुमार और सूत सीढी वाली कहानियाँ कम होती थी। कहानी के हास्य भाग को मजाक की बातो स पूरा कर लेते। इसी प्रकार पहेलियो म भी हमे बडा रस आता था।

अदभुत मे विश्वास

मैंने अपने बचपन मे अद्भुत घटनाएँ न ज्यादा सुनी थी न देखी थी। जब हम अपनी बडी मौसी के यहाँ जाते तब ऐसी बातें सुनने को मिलती। वहाँ 'अरम दव' के मन्दिर के पास रेत के टीले पर सैकडा चिकने बडे-बडे पत्थर थे। उस भगवान् ने चमत्कार से समुद्र मे जाता एक जहाज टूट गया। उससे बचकर किनारे लगे नाविको ने वहाँ पडे पत्थरो से चूल्हा बनाया तो चावल के बतन मे खून उबलने लगा। ऐसी ही एक और कहानी है। हमारे मौसा का अनिष्ट करने के लिए किसी ने 'मारण होम' किया था। स्थानीय मन्दिर, पीपल और बरगद के पेडो पर बसने वाले भूतो की कहानियाँ भी प्रचलित थी। यह सब हमारे मन को बहुत आकर्षित करती। उन्ही दिनो एक बार हमारे पडोस का एक चौदह बरस का लडका गुम हो गया। गाँववाला का कहना था कि यह सब भूत का उपद्रव है। तीन दिन बाद वह गाँव के मन्दिर की दुछत्ती मे मिला। वह वहाँ बहोश पडा हुआ था। ऐसी कहानियों के कारण हम अदृश्य शक्तियों म एक विशिष्ट विश्वास जाग गया था।

शक्ति ही मृत्यु

अपने बचपन की एक और अद्भुत घटना मुझे याद है। हमारे गाँव म सुब्बण्णा हाल्लर नाम के एक ब्राह्मण थे। मैंने जब उन्ह देखा था तब वे करीब पचास वष के हो चुके थ। नाटा और गेहुँआ शरीर, कोई विशेष बात न होने पर भी यह प्रसिद्ध था कि उनके हाथ मे गरुड रेखा है। प्रसिद्ध ही क्या, वे बीसियो बार नाग साँप अपने हाथ और गले म लपेटकर हमारे घर ले आये थे। वे बाबी मे हाथ डालकर नाग पकड लेते थे। सडक के पासवाले हमारे घर के आँगन मे उसे छोडकर खिलाते भी थे। यदि साँप उनसे छूटकर भागने का प्रयास करता तो व गुस्सा नही करत थे। उन्ह साँपो ने कई बार काटा भी था। काटे हुए शरीर को व स्वमूत्र से चिकित्सा कर लते थ। सर्पदश की मूत्र चिकित्सा और भी बहुत से लाग करत हैं। एक दिन उन्हाने एक साँप को खूब छेडकर बहुत गुस्सा कर दिया था। उन्होने उसे काटने को एक पान का पत्ता आगे कर दिया, बाद म वह पान व चबा गय। लोगो के सामने तो उन्हाने ऐस प्रदशन किय पर अन्त म व उसी क शिकार हो गये। यह प्राकृतिक शक्ति अन्तिम समय मे उनकी सहायक क्या नही हुई, यह मेरी समझ म नही आया।

नाग-नृत्य

हमारे गाँव मे लाग नागपूजक हैं। नाग देवता पर उन्ह बडा विश्वास है। व नागवन की पूजा करते हैं। यह नाग देवता दूसरों की तरह कुछ लोगो के शरीर म

आता था। हमारे गाव के नारायण ऐताल प्रसिद्ध नागपात्री या माध्यम थ। जब व नाग के समान काँपते तो बिलकुल कालिग नाग ही लगते। उनके शरीर का रग भी वसा ही था। यह कोई विशेष बात न थी। नाग मण्डल' नाम की एक विशेष सर्पाराधना के समय उनका सपनत्य देखने मे बहुत अच्छा लगता था। पौ फटने के समय एक अलकृत छप्पर के तले विचित्र आकार की रग बिरगी रगोली रची धरती पर यह नत्य होता था। सामने एक दो वैद्य (पुजारियों क दल) नाग सम्बन्धी गीत गाते हुए डमरू बजाकर गोल घूमते। उनके सामन नाग-पात्री (नाग माध्यम) कालिग सप की भाँति नाचता। तीन घण्टे तक अनेक भगिमाओं म फसने और छूटने का प्रयत्न करता-सा नाचता। वह सब देखन म अपूव था। तीस चालीस वष बीत जाने पर बचपन मे देखा नागनत्य आज भी याद है। आस्ट्रोलायड का सपनत्य क्या ऐसा हो सकता है? मुझे लगता है कि हमारे दक्षिणापथ की द्रविड सस्कृति का सही अवशेष ऐसी ही भूताराधना मे है। इसके अतिरिक्त हमारे गाँव की दवाराधना म निम्न जाति के पुजारी भूतो के वष धारण करके कोल नाम क (छोटी जाति का एक उत्सव) उत्सव म नत्य करते हैं। यह उत्सव मैंने अपने बचपन मे नही देखा था। बाद म मैंने वह नत्य अलग से देखा है।

अँग्रेज देवता

हमारे गाँव म दो चार बरस मे एक बार अग्रेज लोग आया करत थे। घोड की बग्घी मे बैठकर जिला अधिकारी वेल्स आय थे, जो मुझे अब भी याद है। तब हमारे लोगो के द्वारा उनके स्वागत की शान शौकत याद करें तो आजकल हमारे गवनर को भी वैसा सम्मान नही मिलता। पूरे रास्ते पर तोरण बधत थे। एक बार उनका स्वागत नदी के किनार हुआ। एक अलकृत नौका पर बठकर उन्होंने एक मील की यात्रा की। बाद म हमारे गाँव के प्रमुख गणपय्या हुद के घर उन्हें ल जाया गया। मैंन वह भव्य स्वागत दखा है। वहा भी ब दनवार सजे थ। मण्डप अलकृत किया गया था। रग बिरगी और तरह-तरह की झण्डियाँ बधी थीं, ब दनवार बध थे। सिंघ, तुरही नसिंह आदि वाद्य सुनने और हाथी देखने को हजारा अघनग लाग इकटठे हो गय थे। जिन्होंन उनका स्वागत किया था उन्होंने उस रात क समाराह का आयोजन भी किया था। बाद म आने वाले अग्रज अफसरा की ऐसी आवभगत नही हुई। हमारे बडे बूढे लागा म कोचमन साहब बडे प्रसिद्ध थ। उन्होंने सारस्वत समाज की कहानी बतानेवाले इ दिरा' नाम के उप यास का अँग्रेजी म अनुवाद किया था।

धूमकेतु

सन् 1910 11 में आकाश मे बहुत दिनो तक एक बडा धूमकेतु दो-दो बार दिखाई पडा। हमारे लोगा का विश्वास था कि इससे राजा का अनिष्ट होगा। शायद उनके विश्वास को ही सत्य करने को सप्तम एडवड चल बसा। दूसरे वर्ष जाज पचम गद्दी पर बैठा। उस धूमकेतु ने शुभ और अशुभ दोनों फल दिखाये। जाज पचम के दिल्ली दरबार के समय (सन् 1911 दिसम्बर मे) हमार गाव मे भी उत्सव हुआ। तब अपनी कक्षा म शायद मैं ही होशियार रहा हूँगा या कोई बात हागी। जाज की तस्वीर वाले निकल का सिक्का मुझे मडल के तौर पर मिला था। बहुत दिन तक मैं उसे पदक के रूप मे गले म लटकाये रहा। उस उत्सव की रात की एक और घटना की याद मुझे अब भी है। हम सब रात का उत्सव दखकर लौट रहे थे कि तभी हमारे गाव के ट्रेवलस बगले को किसी न आग लगा दी। तब एक अग्नि उत्सव देखने को भी मिला। मैंने पहली बार ऐसी भयानक आग देखी थी।

तोता रटंत विद्या

मेरा जन्म 10 अक्तूबर, सन् 1902 में हुआ। उस दिन अष्टमी थी। लगभग सन् 1912 में कुन्दापुर के हाईस्कूल में पढ़ने गया। उससे पहले एलिमेन्टरी स्कूल में पाँचवीं तक पढ़ चुका था। पर अंग्रेजी की वजह से पुनः चौथी से आरम्भ करना पड़ा। कुन्दापुर हमारे गाँव से केवल सात-आठ मील दूरी पर है। मेरा सबसे बड़ा भाई तब कॉलेज में पढ़ता था। छुट्टी में आने पर ही उसके दर्शन होते। मेरे और दो बड़े भाई तब हाईस्कूल में पढ़ते थे। हमारे पिताजी ने सब बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने का प्रबन्ध किया था। उन दिनों हमारे गाँव में बच्चों की पढ़ाई के लिए ऐसी व्यवस्था करनेवाले थे ही नहीं। अच्छी जनसंख्या वाले गाँवों से भी सात आठ घरों के लड़कों से ज्यादा उन दिनों अंग्रेजी पढ़ने नहीं जाते थे। हमारे गाँव के रईस हुन्दे घराने के सभी बच्चे अंग्रेजी स्कूल में जाते थे। उनके अलावा ऐसा करने वाले हमारे घर के लोग मुख्य थे। गाँव के शेष सात आठ घरों से मिलकर भी हमारे एक घर के बराबर लड़के अंग्रेजी पढ़ने नहीं जाते थे। जब मैं हाईस्कूल में पढ़ने गया तब हमारे पिताजी ने हमें पढ़ने के लिए काफी सुविधाएँ दी थीं। मेरे भाइयों के भाग्य में बहुत समय तक होटल का खाना ही बदा था। मेरे कुन्दापुर जाने के बाद वहाँ हमारे लिए एक घर बनवाया गया। एक रसोइया रखा गया। वहाँ का वास सुविधाजनक था। उन दिनों हाईस्कूल के विद्यार्थी आज की तरह बन्दरों की सी हरकतें नहीं करते थे। संसार के सुख दुख से उनका परिचय रहता था। उनमें से कई तो बड़े-बड़े दौलत थे पर उनमें काफी लोग सूम भी थे। जब मैं हाईस्कूल गया तब मेरे भाई के सहपाठी मेरे भी सहपाठी बने। जब मैं वहाँ की पढ़ाई पूरी करके निकला, तब भी कुछ लोग वहीं जमे रहे थे। उन्हें एक एक क्लास में तीन-तीन वर्ष पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती। उनके साथ फुटबाल खेलना हमारे जैसे लड़कों के लिए सम्भव ही नहीं था। उन मुश्टण्डों के साथ यदि हम खेलने जाते तो हमारी चटनी बन जाती।

हमारे स्कूल के खेल के मैदान में एक ऊँची सीढ़ी थी। स्लाइड, ट्रैपेज भी थे।

डबल बार, सिंगल बार हास—यह सब कसरत की सामग्रियाँ भी थी। कसरत को भी ड्रिल के समान ही प्रमुखता प्राप्त थी। इसके साथ क्लब, डबेल्स आदि कसरत के साधन थे। जब हम हाईस्कूल के फोर्थ फार्म पहुँचे तो यह सब खतम हो गये, केवल ड्रिल ही रह गयी थी। आजकल तो किसी भी स्कूल में ऐसे सकस के खेलों के समान खेलों के उपकरण हैं ही नहीं।

नींद प्यारी थी

स्कूल की पढाई के बारे में कुछ ज्यादा कहने को नहीं है। शुरू से मैं स्कूल की 'किताबें कम पढा करता था। उन दिनों एक आने में मिलने वाली 'बुक्स फॉर दी बराज' की कहानियाँ मुझे काफी प्रिय थीं। उन्हें मैं रात के समय पढा करता था। यू कहिए कि उन्हें भी बहुत सरलता से नहीं पढ़ा। टेबल पर एक दीया होता था। वह चिमनी का नहीं होता था। बच्चों की आँखें खराब न हों यह कहकर 'हों नहेण्णे' वाला दीप ही रखा जाता था। उसकी एक तरफ मेरा भाई, दूसरी ओर मैं बैठा करते थे। सात बजे खाना खाकर पढने बैठते ही निद्रादेवी मेरा पीछा करने लगती। मेरी पलकें मुंदते ही मेरे भाई का एक जोर का धौल पीठ पर पडता। इस प्रकार नौ बजे तक मुझे पढाने का काम उसका था। उस भाइ पर का गुस्सा मैं गाँव में जाकर उतारता था। वहाँ मैं ही पहले उसे मारकर साथ ही रोने लग जाता। दादी का निर्णय सदा मेरी तरफ ही होता। जब मैं चौथी कक्षा में पहुँचा तभी मुझे भाई के अधिकार से मुक्ति मिली। वह और उससे छोटा मेरा दूसरा बड़ा भाई भी मंगलूर चले गये। तब मैं ही घर का राजा बन गया। मेरे साथ और दो छोटे भाई भी आ मिले।

मेरे बडे भाई

मेरे बड भाइयों में दूसरा लक्ष्मीनारायण विद्यार्थी जीवन में कसरत की जगह पर सबकी चौरता। बागबानी का उसे बहुत शौक था। उसे महनत के काम बहुत भाते थे। वह सब कामों में एक समान उत्साह से भाग लेता, पर उतनी ही जल्दी उद्विग्न भी हो उठता। उसके बाद वाले भाई का नाम वासुदेव था। वह पढने में बड़ा तेज था। मेरी ओर उसकी ज्यादा पटती थी। पर एक रहस्य की बात थी—वह सुपनी का सेवन करता था। वह सुपनी सबकी आँख बचाकर दुकान से लाने का काम मेरे जिम्मे था। उसने बी०ए० (आनर्स) करके एल०टी० की। एक-दो वर्ष अध्यापक भी रहा। आगे टाटा इंस्टिट्यूट से इंजीनियर बना। बाद में मद्रास सरकार का चीफ इंडस्ट्रियल इन्सपेक्टर बना। इस प्रकार कॉलेज की पढाई शुरू होते ही मुझसे भाई अलग होते गये। गर्मियों की छुट्टियों में ही हम सब घर पर मिलते। प्रति सन्ध्या समुद्र के किनारे जाते। उन दिनों समुद्र का पारावार हमारे

घर के सब लोगा के अलावा और किसी को नही था। अमावस्या के दिन हमारे गाववाले वहा स्नान के लिए अवश्य जाते थ। परन्तु समुद्र देखने की चीज है, यह बात उनकी परमार्थिक बुद्धि को कभी सूझी नही।

यह अहकार है

स्कूल मे दूसरो की पढाई मे और मेरी पढाई मे कोई अन्तर नही। इतनी याद है कि जब म हाइस्कूल के दूसरे वष म था तो अपनी क्लास म प्रथम आया था। मेरे भाई का कहना था कि इसीलिए मेरा सिर फिर गया और मैंने अपना बेडा गक कर लिया। क्या मैं अपने घमण्ड को आप जान सकता था ? उसके बारे म लिखने के बदले अपने गुरु मित्र और शरारतो के बारे म लिखना उचित होगा न !

नन्दलिके से तुलना

सबसे पहले मुझे अपने एक पुराने गुरुजी के बारे म कहना है। नन्दलिके लक्ष्मी-नारायणप्पा और मेरे दोनो के गुरु एक ही थे कहूँ तो आपको असूया हो सकती है। म ये मछली सुनाय। व बडे नाटे थे, चौडा मुह था, बडी-बडी मूछें थी। क्लास मे बैठते तो उनका स्वर उन्ही को सुनाइ देता था, आँखें बन्द करके ही पढाते थे। उनके हाथ म सदा एक सोटा रहता था। उसी से अपराधियो को सजा देते। उन्होने यक्षगान के कुछ प्रसग लिखकर प्रकाशित करवाये थ। पता चला है कि कवि मुद्दण्णा का यक्षगान म रुचि उन्ही से पदा हुई थी।

हाइस्कूल की पढाई माने मेरे कितने अध्यापक नही रह होगे ? यहाँ तो केवल स्मरण करने लायक कुछ लोगो की ही बातें बता रहा हूँ। जब मैं हाईस्कूल की पहली कक्षा म पढता था तब एक कथोलिक अध्यापक अग्रजी पढाने आते थ। वे एक हाथ भर लम्बी छडी के बिना पढा ही नही सकते थ। सुबह पढाने आते समय हो घूब घुत होकर आते थे। नशा उतारने के लिए हमारे घर से छाछ मगवाकर पीते थ। तभी जाकर विद्यार्थियो को शान्ति मिलती। ग्यारहवी कक्षा तक उन्होने हमारा पीछा किया। उनकी आँखें सदा लाल रहती। मुह भी ऐसा ही रहता था। व हम अग्रजी पढाते थे इसस ज्यादा कोई बात याद न होने पर भी मैं उन्ह भुला नहीं पाया। कुछ वर्ष पहले एक बार व पो फटने स पहले ही हमारे घर आये। आते ही 'मैं तुम्हारा मास्टर रहा हूँ। तुम्ह याद है ?' कहकर मुझे अचरज म डाल दिया। भला मुझ कस अचरज न होता ? तब व पचहत्तर के हो चुके थे। उनका स्वागत करके कुछ भेंट देकर उन्ह विदा किया। उसके बाद वष दो वष म एक बार शिष्य को आशीर्वाद देकर ही जाते। अस्सी वष की आयु म भी व मगलूर म पुत्तूर तक बत्तीस मील पदल चलकर आते रहे। उनकी शारीरिक चुस्ती से मैं हैरान रह गया। यह तो मैं कल्पना तक नही कर सकता। पता नहीं

उन्हें किस शक्ति ने इतने समय तक उत्साहित रखा।

विद्यार्थी कुलगुरु

गैब्रियल कोडस अनेक पीढ़ियों से कुन्दापुर के विद्यार्थी समुदाय के लिए कुलगुरु थे। वे ड्राइंग सिखाते थे। ड्राइंग में पास न होने वाले लड़कों को वे 'सूअर कूम' की उपाधि देते। उनका निर्णय था कि ऐसा कूम और किसी विषय में पास नहीं हो सकता। विद्यार्थियों के हाथ के फुट रूलर ही उनकी शिक्षा का हथियार होता था। अपने विद्यार्थियों से वे बहुत प्यार करते थे। अपने पचासवें वर्ष में वे बम्बई में रहने लगे थे। वे जहाँ भी रहते ढूंढकर अपने विद्यार्थियों के यहाँ पहुँच जाते। उनके सुख-दुख को अपना समझकर उनसे पूछ-ताछ करते रहते। बम्बई से कुन्दापुर आते-जाते। जब भी हमारे घर आते तब खट्टी लस्सी पीकर जाते थे। उनका उत्साह और प्रेम कभी नहीं घटा। उनके समान शिष्यों पर वात्सल्य रखनेवाले अध्यापक मैंने और कहीं नहीं देखे। शिष्यों की एक डायरेक्टरी ही उनके पास रहती थी। ऐसा कोई विद्यार्थी न था जो उनसे प्रेम न करता हो। दिल्ली से साहित्य अकादमी का पुरस्कार लेकर जब मैं बम्बई गया तब बम्बई में मेरे स्वागत के लिए एक बृहद आयोजन किया गया था। उस स्वागत समारोह के समय अपने गुरु श्री कोडस को वहाँ देखकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ था।

भूत की करामात

एक अद्भुत घटना हमारे कोडस मास्टर साहब के घर में घटी जो मैंने अपनी आँखों से देखी। वे नये-नये प्रोटेस्टेन्ट क्रिश्चियन बने थे। फिर भी ब्राह्मणों के घर का मांबार और रसम चखकर काफी सुधर चुके थे। उन्होंने एक बार गाँव के एक देवता का पत्थर लाकर अपने गुसलखाने में लगा लिया। तब से एक महीने तक रात-दिन उनके घर में उस देवता का उपद्रव जारी रहा। कोटेश्वर के मेले में पादरियों के साथ मिलकर 'मूर्तिपूजा' के विरुद्ध भाषण देनेवालों में वे भी एक थे। उन्हीं को वही पत्थर का देवता तंग करने लगा। घर के पिछवाड़े लगायी गयी सारी साग-सब्जी उजड़ गयी। कपड़े, बर्तन रखे रखे चूर चूर होने लगे। कुछ दिन को घर में खाने के भी लाले पड़ गये। जहाँ-तहाँ आग का उत्पात होने लगा। वह उत्पात करनेवाला प्रेत केवल उनके घर की नौकरानी को ही दीखता था। वह दूसरों को दिखाई नहीं पड़ा, पर उसका प्रभाव जरूर दिखाई देता था। उसका उत्पात सहना उनके लिए असम्भव हो गया। हमारे मास्टर साहब ने एक दिन उस नौकरानी को भूत दिखाई देने की दिशा में गोली चलायी। बाद में तो उपद्रव सौ गुने बढ़ गये। लगभग एक मास तक स्कूल के बच्चों के लिए उनका घर एक यात्रा-स्थल बना रहा। वहाँ कई अजीब-अजीब दृश्य दिखाई दिये। हमारे मास्टर जी ने

घरवालों को दूसरों के घरों में खाना खाना पड़ा। बाद में उनके उस भूत की शरण में जाने के बाद से ही उनका उपद्रव कम हुआ।

भोजन भट्ट

कौंडस महोदय पेटू लड़कों के लिए एक आदर्श अध्यापक थे। एक बार एक स्पर्धा में उन महाशय ने सात सेर हलवा खाया था। शायद उन्हीं की स्फूर्ति में मैंने भी उनका शिष्यत्व सिद्ध करने को भोजन के बाद एक स्पर्धा में बत्तीस हाळिग (पूरन पूरी) खाये थे। मुझसे भी एक छोटा लड़का सत्तीस तक पहुंचा था। कौंडस साहब ने एक बार एक छोटी-सी तलवार से एक चीते पर हमला किया। उसमें उन्हीं की जीत हुई। ऐसे गुरु को पसन्द करने के सिवा और किसे पसन्द किया जा सकता है?

कन्नड के गुरु

कुंदापुर स्कूल में मेरे पढ़ाई शुरू करने के पहले से ही शिवरामय्या कन्नड के पण्डित थे। उन्होंने हनुमद्रामायण का सम्पादन भी किया था। वे मंगलूर के थे। वे क्रोध के अवतार थे। उनके बाद उनके स्थान पर श्री ए० सीतारामय्या आये जो उतने ही शान्त थे। उन्होंने बड़े परिश्रम से विद्यादान किया था। काफी समय तक वे हमारे घर में ही रहे। उन्होंने हमारे लिए 'कर्नाटक पुस्तक भण्डार' नाम से एक पुस्तकालय खोला। पहली बार उन्होंने हमें कन्नड साहित्य के रस का पान करने का अवसर दिया। तभी मैंने वेंकटाचार्य, पुट्टण्णय्या, वासुदेवाचार्य, तिम्मलाचार्य और चामराजनगर के वेंकटरमण शास्त्री आदि की रचनाएं पढ़ीं। तब मैं हाईस्कूल के दूसरे साल में पढ़ता था। कृष्णसूक्ति, कादम्बरी संग्रह, सत्यवादी आदि पत्रिकाएं मंगवाकर हम पढ़ते थे। इस प्रकार कन्नड साहित्य के प्रति रुचि अंकुरित करनेवाले पहले व्यक्ति श्री शिवरामय्या ही थे। तब मेरे पढ़े उपन्यासों में मैसूर के पुट्टण्णय्या का 'माडिदुण्णो महाराय' (जैसा करोगे वैसा भरोगे) और बोलार बाबूराम का लिखा 'वाग्देवी' प्रमुख हैं। दोनों ही सामाजिक उपन्यास हैं। वाग्देवी में उडुपि मठों का यथार्थ चित्रण है।

संस्कृतमय शैली का मोह

श्री शिवरामय्या के पुस्तकालय द्वारा ही तब मुझे पता चला कि कन्नड में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। प्राथमिक शाला में पढ़ते समय सेन फ्रेंड्स और मरटन की कहानी और चिंतामणि के कुछ भाग पढ़े थे। बाद में मैंने कन्नड पुस्तकें उनके पुस्तकालय से ला-लेकर पढ़नी शुरू कीं। मेरा ध्यान कहानी की ओर ज्यादा था। शैली पर मेरा मोह बंकिमचन्द्र के उपन्यासों का कन्नड अनुवाद पढ़ने के बाद ही

शुरू हुआ। मूल के समान कन्नड के अनुवाद में भी संस्कृत शब्दों का बाहुल्य या और बंग भाषा का विशिष्ट प्रभाव था। वेंकटाचार्य के 'रजनी' के (अंग्रेजी से अनुवाद) कन्नड अनुवाद में और 'विषवृक्ष' तथा 'मृणालिनी' आदि की भाषा में बड़ा अन्तर है। रजनी 'लास्ट डेज आफ पाम्पी' का अनुवाद था, मूल शैली के अनुकरण के लिए उसमें अवकाश ही नहीं था। उस जमाने के गलगनाथ की रचनाएँ मैंने पढ़ी थीं, पर वे ज्यादा पसन्द नहीं आयीं।

नन्दलिके के गुरु कौन थे

शिवरामय्याजी पुस्तक के कीड़े थे। उनका घर कुन्दापुर से बारह मील ऐरोड़े में था। वहाँ से पैदल जाते-आते समय पुस्तकों के बड़े से एक गट्ठर को उठाकर लाये बिना उन्हें तसल्ली नहीं होती थी। उन्होंने संस्कृत और प्राचीन कन्नड का विशेष अध्ययन किया था। नन्दलिके (कवि मुद्दण्णा) जी से उनका अच्छा परिचय था। शिवरामय्याजी द्वारा उपलब्ध करायी गयी सामग्री की सहायता से ही बेनगल रामराव ने नन्दलिकेजी के बारे में एक लेख लिखा। लिखते समय विषय के साथ पूरी सच्चाई बरत नहीं पाये। यह तो सच है कि नन्दलिकेजी को मळलि सुब्बाराय साहित्य के अध्ययन में सहायक थे।

संस्कृत से संघर्ष

शिवरामय्या उस जमाने की कन्नड पत्रिकाओं में लिखा करते थे। यह देखकर कन्नड पत्रिकाओं के प्रति मेरी भी रुचि बढ़ी। उनका संस्कृत पाण्डित्य देखकर मुझे उनसे संस्कृत सीखने की इच्छा हुई। दो वर्ष तक मैंने उनसे संस्कृत पढ़ी। भण्डारकर की एक-दो पुस्तकें, रघुवंश के कुछ भाग, माघ के कुछ भाग, ऋतुसंहार, समासचन्द्रिका—ये सब कण्ठस्थ करने का यत्न किया गया। कण्ठस्थ करना मेरी मनोवृत्ति को कभी पसन्द नहीं आया इसलिए उन्होंने जो संस्कृत पढ़ाई वह उन्हीं के पास रह गयी और मैं केवल कन्नडवाला ही रह गया।

गम्भीर लोगों से

मेरे एक गुरुजी थे। नाम था श्री पुराणिक। एक जमाने में हम दोनों साथ पढ़ते थे। वे बड़ी कक्षा में थे और मैं छोटी कक्षा में। कभी-कभी एक साथ गाँव आया करते थे। वे ही, जब मैं नौवीं कक्षा में पढ़ता था, अध्यापक बनकर आये। भला मुझे क्या मालूम होता? मैंने मजाक में पूछा, "कहिए जनाब, कैसे हैं?" वे गम्भीरता से मेरी ओर देखते हुए स्कूल के भीतर चले गये। एक घण्टे में वह मेरे ही अध्यापक बनकर हमारी कक्षा में आकर बैठे। मैं हैरान हो गया। एक बार ज्यामिति का सवाल हल करते समय कुछ गलती हो गयी। उन्होंने उस

दुबारा करने को कहा। भला मेरे अहम् को क्या न दुख होता ? मैंने दुबारा किया नहीं। दूसरे दिन उन्होंने पूछा, 'वह सवाल दुबारा किया ?" मैंने "नहीं" कहा। उन्होंने पूछा, "क्यों नहीं क्या ?" मैंने फिर कह दिया "नहीं"। आगे से उन्होंने मुझ वैसी सजा नहीं दी। उनकी गम्भीरता को तोड़ने के लिए कुछ विद्यार्थियों ने खजली बूटी उनकी कुर्सी पर रगड़ कर उन्हें खूब तंग किया।

शाला की पढ़ाई में केमिस्ट्री के अतिरिक्त मुझे और किसी विषय में रुचि पैदा न हो पायी। हमारे विज्ञान के अध्यापक शिराली सुब्राय पूछा करते—डिड ही वण्ट। उनका अंग्रेजी का पाण्डित्य इतना ही था। परन्तु रसायन शास्त्र बहुत बढ़िया पढ़ाते थे। उनसे मैंने सिर्फ केमिस्ट्री ही नहीं सीखी बल्कि दूसरे लड़कों की भाँति प्रयोगशाला से सामान भी चुराया था।

मुख्याध्यापक

जो भी कुन्दापुर शाला में पढ़ चुका है वह हमारे मुख्याध्यापक वेंटवाल रघुनाथराय को भूल नहीं सकता। सदा लाल पगड़ी और काली कमीज पहन कर आते थे। मैंने कभी उन्हें कपड़े बदलकर आते देखा ही नहीं। हम के हर प्रकार का विषय पढ़ाते थे। जनवरी फरवरी तक गाँव की गली गली घूमते रहना उनका स्वभाव था। अन्त में सारे पीरियड लेने लग जाते। कभी कभी वे रात का आठ-साढ़े आठ तक भी पढ़ाते थे। नाचते-कूदते, हँसते-मजाक करते और किसी न किसी तरह परीक्षा में हमारी नाव पार करा देने की जितनी शक्ति उनमें थी उतनी और किसी में न थी। शाला में विद्यार्थी, उनसे जितना द्वेष रखते थे उतना और किसी से नहीं। उनके विरोधी अध्यापकों के साथ मेल-जोल रखनेवाले विद्यार्थियों पर उन्हें बड़ा गुस्सा आता था। रात में कौन सा विद्यार्थी पढ़ता है और कौन-सा नहीं इस बात की सी० आई० डी० का काम भी वे करते थे। रास्ते में घूमते फिरते विद्यार्थी यदि हाथ पड़ जाते तो वे वहीं उनकी पिटाई करने में नहीं चूकते थे। एक बार उन्होंने एक इतवार के दिन दो बजे पढ़ने को बुलाया था। हमने सवा दो तक उनका इन्तजार किया पर वे न आये। मैं चला आया। घर लौटते वक्त दूसरों को उकसाया। मेरे साथ वे भी चले आये। जब गुरुजी आये तब एक दो के अलावा कोई न था। उस दिन बेचारों को अपना गुस्सा आप ही पीना पड़ा।

उन्हें शाला में लड़कों का अंग्रेजी के सिवा दूसरी भाषा में बात करना कतई पसन्द न था। यदि कोई बोलता तो वे छड़ी से उसकी मरम्मत कर देते। उनकी यह बात रोकने को मैंने एक दिन एक उपाय निकाला। जब वे पास के कमरे में थे तो मैंने एक लड़के से हँसने को कहा। वह लड़का जोर से हँसने लगा। तब मैंने उसे डाँटते हुए कहा यू सिली एस व्हाइ आर यू लाफिंग इन

कन्नड, लाफ इन इंगलिश'" यह बात उन्हें चुभ गयी। आगे से उनका अंग्रेज़ी का नियम जाता रहा। हमारी शाला की घड़ी को उन्हीं के साथ चलना होता था। वे चाहे कितनी भी देर से क्यों न आयें, सुइयों को घुमाकर वहीं ले आते जिस समय उनको आना चाहिए था। वह घड़ी उनसे दुगनी उमर की थी।

अनासक्ति योग

घर में भैया के नियन्त्रण से छुटकारा मिलने के बाद, हाईस्कूल में तीन चार वर्ष बड़े सन्तोष से बिताये। पढ़ाई पर मेरा ध्यान कम था। शरारत, मजाक मुझे प्रिय थे। एस०एस०एल०सी० पढ़ते समय तो मैंने पुस्तकें ही कम खरीदी थीं। परीक्षा से दस दिन पहले मैंने अंग्रेज़ी की पुस्तक एक बार पलटकर देखी थी। शेष आठ दिन अन्य लड़कों को तंग करता रहा। परीक्षा की पहली वाली रात को कोटेश्वर में यक्षगान देखने के लिए अपने कुछ मित्रों को जगाकर साथ लेकर गया था। खैर परीक्षा में ज्यादा अक्ल लेकर हाज़मा खराब न करने पर भी औसतन नम्बर लेकर पास हो गया। तभी मुझे कुन्दापुर की शाला के ऋण से छुटकारा मिला।

शाला से बाहर

शाला के भीतर के कार्यक्रम का केवल मुझसे सम्बन्ध था क्या? वे ही गुरु, वे ही पाठ, वही शाला। समझ में नहीं आता था कि आठ वर्ष की हाई-स्कूल पढ़ाई कैसे पूरी हो गयी। इसीलिए शाला के बाहर की हलचल के बारे में बताऊँगा। हलचल कहाँ से आती? हमारे कुन्दापुर ने तो भैंस का दूध पी रखा था। मेरे मित्रों में कइयों ने खेल में नाम कमाया था। क्रिकेट और फुटबाल हमारे गाँव में खेले जाते थे। मैं बड़ा होने-होते खेलों में रुचि लेने लगा। फुटबाल में गेंद रोकने, दूसरों को पास देने और गोल करने की ओर मेरा ध्यान नहीं जाता था। चाहे कैसा बलवान क्यों न आये उसकी टाँग पर लात मारकर अपनी शक्ति दिखाने की इच्छा रहती थी। उसी प्रकार पास आयी गेंद को पाँव से खेलने के बदले सिर से खेलना ज्यादा प्रिय लगता। क्रिकेट में थोड़ा बहुत फील्डिंग कर लेता। खैर, मैंने कुछ क्रिकेट मैचों में भाग लिया। खेल में मेरी दक्षता के कारण मेरा चुनाव नहीं हुआ करता था, चौकन्ने खिलाड़ियों का जोश दिलाने की शक्ति मुझ में थी इसीलिए चुन लिया जाता था।

जब मैं चौथे फार्म में आया तब कई मित्र तो एकदम मुस्टण्डे थे कई छोटे भी थे। तभी मुझे पता चल गया था कि विद्यार्थियों में कुछ शृंगारप्रिय भी हैं। हमारे गाँव के एक क्रिश्चियन परिवार में बड़ी-बड़ी लड़कियाँ पढ़ने आया करती थीं। लड़कों को कर्वाशिप करके गृहस्थाश्रम की दीक्षा देती थीं।

जलक्रीडा

मुझे पानी का खेल बहुत अच्छा लगता था। उन दिनों हमारे घर के समीप एक तालाब का जीर्णोद्धार हुआ। प्रतिदिन सुबह और शाम मैं वहीं बना रहता। ऊपर से कूदता, बहुत देर तक पानी में डूबता उतराता तैरता। एक बार मैं एक लडके को तैरना सिखा रहा था। वह पानी में डूब गया। उसे किनार पर लाने म मैंने जो परिश्रम किया उसका बयान नहीं कर सकता। मृत्यु की विचित्र अनुभूति पहली बार मुझे तब हुई। उसे वहाँ छोडकर पार हो जाना मेरे लिए सम्भव था। ऐसा करूँ तो? यह प्रश्न भी तब मेरे सामने आया था। खैर जैसे-तैसे उसे पार लगाकर मैं भी पार हो गया।

मेरे विद्यार्थी काल म राजनीति की हवा ज्यादा नहीं बही थी। यूरोप का प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया था। मैं अंग्रेजी पढ रहा था। डा० एनीबेसेंट की 'न्यू इण्डिया' पत्रिका पढा करता था। उनके द्वारा चलाये गये राष्ट्रीय आन्दोलन म आसक्ति पैदा हो गयी थी। एनीबेसेंट, वाडिया और अरुंडेल की गिरफ्तारी की खबर सुनकर मन को चिन्ता हुई थी। उन दिनों में डॉ० बेसेंट के चित्रवाला बिल्ला कमीज पर लगाकर घूमनेवाला मैं अकेला ही था।

दार्शनिकों के साथ

जब मैं फोर्थ फाम मे पढता था तब तनालि के नारायण स्वामी अय्यर आध्यात्मिक ज्ञान प्रचार के लिए हमारे यहाँ आये थ। वे थियोसोफिकल पन्थ को मानते थ। हमारे घर म काफी समय तक रहे। तब वे लगभग साठ साल के थे। तेजस्वी मुख, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान दाढी रखते और सदा रेशमी कपडे ही पहनते थ। उनका रूप बडा भव्य था। वे अच्छे वाग्मी थे। उन्होंने दस पन्द्रह अच्छी पुस्तकें लिखी थीं। बडे सवेरे उठकर स्नान, ध्यान और प्राणायाम करते। दिन मे दो बार गेहूं की बनी उपमा ही उनका भोजन था। वे हमे सनातन धर्म सिखाते थ। दो-तीन वर्ष तक मैंने उनसे बडी रुचि से पढा। जब से वे हमारे गाँव आये तब से उनकी हमारे हैड मास्टर रघुनाथ से बडी मित्रता हो गयी। आगे एक दिन अय्यर ने उनसे पूछ ही डाला सुना है कि तुम बहुत व्यभिचारी हो। परिणाम यह हुआ कि मुझे हैडमास्टर साहब के गुस्से का शिकार बनना पडा। अय्यर हमारे घर म रहते थे न?

स्काउट

हाईस्कूल म पढने के दूसरे वर्ष म पढते समय मैं स्काउट गया था। तब सुजीर उमानाथराव से मेरा परिचय हुआ। हिन्दुस्तान म डॉ० बसेंट ने तभी स्काउट का प्रचार शुरू किया था। उमानाथराव मगलूर के गणपति स्कूल म अध्यापक थ।

उन्हें स्काउट बड़ा प्रिय था। उनकी प्रेरणा से मैं विद्यार्थी जीवन में ही गाँव में स्काउट दल तैयार करने लगा। उससे सम्बन्धित लड़कों पर हेडमास्टर रघुनाथ राय की वक्र दृष्टि पड़ी। फिर भी हमारा दल शिरली गाँव के मेले में जाता और और शान से अपना काम करता रहा। एक बार चूड़ियो, मालाओं और खिलौनों की दुकान में लगी आग हम लोगों ने ही बुझायी। साँप के काटे एक व्यक्ति की चिकित्सा की, गुडटन पाया। शिराली में हमारे साथ आये सारस्वत लोग अपने मठ में जाकर भोजन करते थे। हमारे लिए रसोई का सामान आ जाता था। मेरे साथ आया सदाशिव नाम का एक मात्र सारस्वत लड़का भोजन करने मठ नहीं जाता था। उसका जीजा डा० हट्टियंगडी एल०आर० सी० पी० करने विलायत गया था। इसलिए वे मठवालों से बहिष्कृत थे। आनन्दाश्रम के आजकल के स्वामी जी ही तब भी थे। तब वे बहुत छोटे थे। इस दीर्घावधि में उनकी धार्मिक दृष्टि काफी उदार हो गयी है यह मैंने देखा भी है और सुना भी है।

मेरा स्काउट दल बहुत दिन चल नहीं पाया। उसका कारण यह था कि सरकार द्वारा एक और दल शुरू कर दिया गया था। स्काउट नियमों के अनुसार उसमें ईश्वर, ताज और देश के प्रति भक्ति व्यक्त करना आवश्यक था। ताज अथवा राजा का सम्मान करने का मेरा मन नहीं करता था। इसलिए उससे मैं दूर हट गया। बाद में हमारे रघुनाथ राय जी ने ही उस स्काउट दल को अपनी शाखा में ही आश्रय दिया।

अकाल की पुकार

उन दिनों मुझे सार्वजनिक सेवा करने का अनुभव ही नहीं था। केवल एक छोटी घटना याद आती है। उस घटना से रघुनाथराय और मुझ में मित्रता हो गयी। मुझे शाला के पुस्तकालय की चाबी दे देने तक वे उदार हो गये। तब हमारे जिले पर अकाल का कुप्रभाव पड़ा था। हाईस्कूल के दूसरे वर्ष में पढ़ रहा था तब मैं। गाँववाले जगह जगह पर अन्नदान कर रहे थे। मुझे भी एक दिन ऐसा करने का जोश आया। लड़कों से चन्दा उगाह कर दान करने का एक दिन निश्चय किया। कोई उपयुक्त स्थान न मिलने से रघुनाथराय के स्कूल में ही जगह माँगी, जहाँ वे खुद यही काम कर रहे थे। उसके लिए उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। उस दिन हमने अपने खर्च से चावल दिए और उन्होंने अपनी तरफ से गुड़ का प्रबन्ध किया। इस प्रकार हमने गरीबों को खीर परोसी।

नाटक में रुचि

इस दशा में, कला के मोह ने और एक मोड़ लिया। यक्षगान पर का प्रेम जाता रहा और मेरा ध्यान नाटकों की ओर मुड़ गया। हमारी शाला के समीप मंडप की

'राजेश्वरी नाटक मण्डली' ने डेरा डाला। सन 1913-14 के लगभग मने उनके कालिदास प्रभावती, दरबार, युवतीविजय जैसे पुराने नाटक देखे थे। "सोने की अंगूठी किस के वश मे चली गइ" 'का ता सुनो !", "ओह च द्रोदय हो रहा है!" गीता न हम उन दिनो आकर्पित किया था। ए बी वरदाचायजी की कम्पनी दूसरी, तीसरी बार हमारे गाँव आयी थी। वे अपनी कम्पनी के लडकों का विशप ध्यान रखते थ। मुध उनके नाटका का वैभव, सगीत अदभुत ट्रा सफर सीनरी ने बडा आकर्षित किया। अपन भाइ के सो जाने के बाद मैं उनके नाटक देखन जाता और अगले दिन मार भी खाता ऐस स दभ भी आये थे। मन वरदाचार्य और कृष्णमूर्ति का अभिनय पहल भी देखा था और पस द भी किया था। तब मरिराय ने बडी बडी चोटियाँ रख रखी थी। मरि और नगे द्र आदि बाद मे सिनेमा साम्राज्य म चले गय। परन्तु अडप जी की कम्पनी के अभिनेता गोपालाचाय और सुब्बण्णा भट्ट तो 1950 तक नाटक खेलत रहे। वरदाचाय के नाटक देखने के बाद मैं कइ बार घर म कागज काटकर समुद्र की तरगे बनाकर छलाग लगाता। उस जमान म नाटक के अद्भुत दृश्य ही मन को ज्यादा पस द आते थे। बाद मे मरे बेटे हर्ष ने अब मेरी ही तरह एक पेटी मे रगभूमि का निर्माण कर हैंडबिल बाँटकर, गरुडवाहन विष्णु को ऊपर से उतारा तो उसे देखकर मुझे महसूस हुआ कि बच्चों की मनोवृत्ति सदा एक सी होती है। -

बाद म हमारे गाँव म गुब्बी कम्पनी शिरहट्टी के बकावराय की कम्पनी आदि कम्पनियाँ आती रही। इन कम्पनियो को काफी पस भी मिलते थे। शिरहट्टी कम्पनी का नारद, लक्ष्मणपुरी का मजाक, असुडी की अतहीन तान, हानगल वासुदेवराय के अलाप—यह सब दखकर नाटका क प्रति झुकाव मरे भीतर भी उत्पन्न हुआ। गुब्बी कम्पनी भी हमार गाव आयी थी। उनके नाटको मे कवल प्रभामणि विजय नाटक देखने की ही मुझे याद है। तब नवयुवक वीरण्णा का साइकिल के पइडा पर खडे हो कर सारा गाँव घूमने की याद है। धारवाड के अभिनताओ का भी हमारे गाव म आगमन हुआ। उसके बाद स तो मराठी सगीत हमारे यहाँ ज्यादा प्रचलित होने लगा। उन नाटको की कविताए खरीद कर हम सब उन्ह कठस्थ करत थ।

हमारे गाँव में जब-तब सकस भी आया करते थ। उन्ह देखने क कुछ दिन बाद तक गाँव क मदान म हमारे करतबा के क्या कहने? छाती पर चार पाँच लोगा का बिठाना दाँता म अपने मित्रा को उठाना, पिरामिड बनाना—यह सब हमारे प्रिय मनोरजन बन गय थ। दसवी म पढते समय भी बिल्ली के बच्चे मे शेर क रूप की कल्पना करके उसक साथ खेलने की याद है।

नगर का मूषक

रेवड़ में बिछड़ी बकरी

मेरा कुंदापुर का जीवन आठ वर्ष तक बिना किसी हलचल के अपने आप बीत गया। उसके बाद कॉलिज जाने की सोची। पिताजी अपने सारे बच्चों को कॉलिज में पढ़ाने को तैयार थे। इसलिए मुझे मंगलूर जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उनका इतने सारे बच्चों को गाँव में ही बनाये रखने का विचार भी नहीं था। शायद होता भी तो तब रखना साध्य न होता। मंगलूर में रहने को मेरे भाई का घर भी था। उसने एल एल० बी० पास करके तब वकालत शुरू कर दी थी। मंगलूर के संन्यासी गुडडे में उसका घर था। वहाँ से गवर्नमेंट कॉलिज ज्यादा दूर नहीं था। दाखिला लेने के लिए जब मैं पहली बार गया तो मैं पिताजी का अलपाक का कोट पहन कर गया था, यह याद है। उस कोट की महिमा से या किसी और कारण वश दाखिला मिल गया। चौथे फार्म के बाद से मैंने कभी कोट नहीं पहना था। कॉलिज में दाखिला मिलने के बाद दुबारा वह कोट मैंने नहीं पहना। कॉलिज के अहाते में आठ दस लड़कों के साथ बैठना पड़ा। वहाँ एक खास बात देखने में आयी। कॉलिज में केनरा हाईस्कूल के लड़के और मिशन स्कूल के लड़कों का झुण्ड अलग-अलग बैठा करता था। कुंदापुर से आये पाँच छः लड़के एलासियस कॉलिज में पढ़ते थे। इस प्रकार मेरी स्थिति रेवड़ से बिछड़ी बकरी के समान हो गयी थी। कॉलिज के अध्यापक अपना भाषण झाड़ कर चले जाते—कहना चाहिए कि वे गप्पें मार कर ही चले जाते। मुझे इतना ही याद है। कन्नड़ विद्वान पण्डित सीतारामाचार्य के अतिरिक्त मुझे किसी पर कोई खास अभिमान पैदा नहीं हुआ। हाई स्कूल के जमाने के विद्यार्थी मित्र दूर दूर हो गये और दूसरा मित्र भी नहीं हुई। आजकल अपने पुराने सहपाठियों से मुलाकात ही कम होती है। कॉलिज के दिनों में अपने साथ के पाँच छः जनों से ज्यादा मेरा परिचय नहीं हुआ। उनमें एक हाईकोर्ट का जज बना और तीन वकील बन गये दूसरे पता नहीं क्या-क्या बने। मेरे अध्यापकों में प्रिंसिपल सबूर रामराव किणि विभाग में उस

निदेशक के पद से निवृत्त हुए। फिजिक्स के प्रोफेसर श्रीनिवासजी मटिरियलाजिकल विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी बने। शेष पता नहीं कहां-कहां हैं। वर्षों बाद पुत्तूर में ही एक दिन मुझे अपने अध्यापक श्री सीताराम शास्त्री के दर्शन हुए। वह अपूर्व भेंट वास्तव में एक सुखद अवसर था।

व्यासंग, विरक्ति

कॉलेज में क्रिकेट खेलने वाले लड़कों पर प्रिंसिपल को अधिक अभिमान था। मैं बढ़िया खिलाड़ी नहीं था इसलिए मैं अध्यापक और सहपाठियों से जरा दूर ही हो गया था। पढ़ाई में भी मेरी विशेष आसक्ति न थी। हां, कॉलेज के पुस्तकालय का खूब उपयोग करता था। हमारे अंग्रेजी के प्रोफेसर श्रीराम अय्यर ने कौन कौन-सी किताबें पढ़नी चाहिए इसकी एक सूची दी थी। उसमें से रेडयार्ड किपलिंग का लाइट देट फेल्ड उपन्यास ले कर पढ़ने लगा। उसे पढ़ कर समाप्त करने के बाद उनकी सूची से मैं ऊब गया। मुझे कोई भी किताब पसन्द न आयी। पर हमारा पुस्तकालय बहुत बड़ा था। सभी किताबें किपलिंग की ही तो नहीं थी? न जाने क्यों मैंने एक क्रम बनाया। वह यू था कि वह किताब भारतीय विचार धारा की होनी चाहिए या फिर हिन्दुस्तानियों की ही लिखी हुई होनी चाहिए। इस संकुचित दृष्टिकोण से किताबें लेकर पढ़ने लगा। रवीन्द्रनाथ की अधिकांश पुस्तकें मैंने तभी पढ़ीं। कॉलेज की पढ़ाई के बारे में मेरी विरक्ति तब और पक्की हो उठी थी।

सन् 1921 दिसम्बर में नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। मेरे मित्र पन्मराज आरिग वहां गए थे। गांधीजी का असहयोग आन्दोलन सब जगह फैल गया। शायद अक्तूबर का माह था बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु से हम लोगों को बहुत दुख हुआ। मेरे एक विद्यार्थी मित्र ने उनको श्रद्धांजली देने के लिए छन्द लिखा। उसकी एक दिन में ही हजार प्रतियां बिक गयी थीं। उसके कुछ ही दिन बाद खिलाफत आन्दोलन के लिए गांधी जी अलीभाइयों सहित मंगलूर आये थे। इससे विद्यार्थियों को स्वदेशी, स्वराज्य आन्दोलन ने अपनी ओर आकर्षित किया। कॉलेज के प्रति मेरी विरक्ति अब पूर्ण हो उठी। शायद रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाएं पढ़ने के कारण मुझमें शान्ति निकेतन जाने की इच्छा प्रबल हो उठी थी। वहां रेवरेंड सी० एफ० एंड्रूस थे। मैंने उनसे पत्र व्यवहार किया। उन्होंने आने को लिखा। मैंने अपने पिताजी को इस बारे में बताया। उन्होंने कहा "बंगाली ब्राह्मण मछली खाते हैं। वहां जाने की जरूरत नहीं।" श्री एंड्रूस ने वहां से लिखा था कि यहां रहनेवाले मैथिल ब्राह्मण (गुजराती) मछली नहीं खाते। पर अन्त तक इस बारे में मैं अपने पिताजी का मन बदल नहीं सका।

एक सहचर

उन्हीं दिनों हमारे घर के पास के आर्यसमाज के प्रचारक पण्डित अमरनाथ से भेंट हुई। उनके सम्पर्क से, हिन्दू धर्म के सुधार के बारे में अधिक आसक्ति पैदा हुई। उनके रविवार के हवन में मैं जाया करता था। उनसे हिन्दी सीखने लगा। मन में स्वदेशी आन्दोलन, सुधार, शान्तिनिकेतन भरे थे। अतः कॉलेज में जाकर बैठना दूभर हो गया। जनवरी तक किसी रूप में जाता रहा। कॉलेज से चलकर घर आते समय रास्ते में 'बाउटे गुड्डे' मिलता। ऊब जाने पर उस टीले पर जा बैठता और समुद्र को निराशा भरी दृष्टि से निहारता। उन्हीं दिनों एक और छोटा-सा विद्यार्थी भी वहाँ कभी कभार आया करता था। वह गणपति हाईस्कूल में तीसरे वर्ष का विद्यार्थी था। नागेश था उसका नाम। हम दोनों में गहरी मित्रता हो गयी। उसी स्नेह के कारण हम आगे सहचर भी बने। हम दोनों बहुत साल पुत्तूर में रहे। उससे मैंने जितना प्यार किया, उतना और किसी से नहीं। स्नेह और मानसिक विचार धारा के हिसाब से हम दोनों में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है।

अशान्ति के तुमुल में

फरवरी के आते-आते मेरा मन एकदम उलझने लगा। मन में यह विचार उठ रहा था कि मुझे राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ना चाहिए। बुद्धि ने मेरे इस विचार पर पीठ ठोकी। कॉलिज जाने पर भी मैं पढ़ता नहीं था। किसी न किसी कोने में बैठ कर भविष्य की चिन्ता किया करता। एक दिन हमारे फ्रेंच के प्रोफेसर कृष्णप्पा मेरी मुक्ति में सहायक हुए। उन्होंने पास आकर पीठ थपथपाकर पूछा, "क्या सोच रहे हो? पढ़ाई छोड़ना चाहते हो?" मैंने "जी हाँ" कहा। तब उन्होंने कहा, 'पढ़ाई से कोई लाभ नहीं?" मैंने कहा, "उसमें कोई मूल्य दिखायी नहीं देता"। वे बोले 'सोचो!" उनके जाते ही मैंने एक पत्र में प्रिंसिपल को यह लिखकर भेजा कि मैं कॉलिज से असहयोग कर रहा हूँ। सुना है उन्होंने उसे देख कर "उस लड़के को बुलाओ। यह क्या? छुट्टी के आवेदन के समान लिखकर भेज दिया?" मैं उनके पास गया नहीं। उस दिन फरवरी (1922) की दस तारीख रही होगी। कॉलिज जाने का मेरा वही अंतिम दिन रहा। घर जाने पर भाईसाहब को पता चल चुका था, मैं ज़रा घबराया। वे स्वयं कोर्ट का बहिष्कार करने की सोच रहे थे। पर पिताजी के डर से चुप थे। इसको भनक पड़ते ही मैं उनका घर छोड़ कर चला आया।

राष्ट्रीयता का ज्वर

श्री कार्नाड सदाशिव राव तब तिलक महाविद्यालय चला रहे थे। डॉ० के०

भारद्वाज वहाँ के अध्यापक थे। वहाँ खादी और चरखे का ही बोल-बाला था। मैं वहाँ केवल एक दिन गया था ऐसा मुझे याद है। मेरे बड़े भैया ने फिर से मुझे घर बुला भेजा। कॉलेज जाने का उपदेश भी नहीं छोड़ा। उन्होंने भी एक साल को नौकरी का बहिष्कार कर दिया। हमारे लिए उस जमाने की सबसे बड़ी घटना यही थी कि मंगलूर में अखिल कर्नाटक राष्ट्रीय परिषद की बैठक हुई। 'शट्टी गुड्ड' के जन अहाते में उसके लिए मण्डप बनाया गया था। भारतकोकिला सरोजनी देवी ने उसकी अध्यक्षता की। उसमें कर्नाटक के शेर गंगाधरराव देशपांडे, कौजल्गी श्रीनिवासराव आदि ने भाग लिया था। उनके जोश भरे भाषण सुनकर राष्ट्रभक्ति की स्फूर्ति हम सब के खून में ठाठें मारने लगी। तब पहली बार होलेय लोग हम सबके साथ आकर बैठे थे। तब से मंगलूर के मैदान में प्रतिदिन सभाएँ होने लगी। उस जमाने में मंगलूर के एक महाशय एक श्रेष्ठ वक्ता के रूप में प्रसिद्ध थे। अंग्रेजों को भगाने के लिए वे अपने भाषण में 'हरामजादे' और 'हरामखोर' का धाराप्रवाह प्रयोग करते। एक बार उन्होंने खड़े-खड़े अपनी कमीज फाड़ कर फेंक दी और खादी की कमीज पहन ली। "भारत के तैंतीस करोड़ लोग यदि अपनी रेंट सिनक दें तो उसमें बह जायेंगे यह सारे अंग्रेज" कह कर व धमकाते। तब के उन महाशय के दिये भाषण में और हाल में पच्चीस साल बाद एक कम्युनिस्ट मित्र के तुलू में दिये भाषण में एकदम कोई अन्तर दिखायी नहीं दिया। 'ब्रिटिश' शब्द के स्थान पर 'पूंजीवाद' का प्रयोग किया गया था। मात्र यही अन्तर था। शेष सभी अमृतवाणी वैसी की वैसी थी। इतना ही नहीं, 1950 के आस पास श्री कृपलानी जी का भाषण सुना था। उनके मुंह से 'घोर डाकू' आदि अहिंसात्मक शब्द सुन कर आश्चर्य हुआ था। बाद में कई राजनैतिक और सार्वजनिक भाषण सुने। विषय होता तात्कालीन परिस्थिति' और कम होता ब्रिटिशों की अवहेलना। पेट के दर्द से लेकर प्रत्येक सामाजिक बीमारी का कारण भारत की स्वतन्त्रता का अभाव ठहराया जाता। यह उस जमाने के भाषणों का अमूल्य सार हुआ करता था।

कार्यक्षेत्र का चुनाव

जब मैंने कॉलेज छोड़ा तब कुछ अध्यापकों ने भी अपनी नौकरियाँ छोड़ दी थीं। मेरी ही तरह कुछ विद्यार्थियों ने भी कॉलेज छोड़ दिया था। उनमें दो तीन तो जीवन की अंतिम सांस तक सार्वजनिक कार्यों में लगे रहे। हाँ, कुछेक फिर से नौकरी में लग गए। कॉलेज छोड़ने के बाद मैं ज्यादा दिन मंगलूर में नहीं रहा। उडुपि चला गया। एक सप्ताह उडुपि की राष्ट्रीय पाठशाला में चरखे का प्रोफेसर रहा। तब मेरे मित्र रामराय मल्य और हिरियडक नारायणराय ने उडुपि को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर सत्याग्रही नाम की पत्रिका शुरू की। मैं अपने विद्यार्थी काल में

केन्द्र कुन्दापुर पहुँचा।

इस राष्ट्रीय आन्दोलन से हम सबको एक लाभ हुआ। हम सबने कन्नड में भाषण देना सीख लिया, सब कांग्रेस के प्रचारक बन गये। भाषण के लिए विषयों की कमी होती है क्या? गाँधी जी की 'यंग इंडिया' पत्रिका पढकर स्वदेशी, सत्याग्रह, खादी, असहयोग, नमक का कर, विदेशी कपड़ा का बहिष्कार, विदेशी चीनी का बहिष्कार आदि विषयों पर भाषण झाड़ा करते थे। हमारे क्रोध के शिकार सदा जलियाँवाले बाग के प्रसिद्ध जनरल डायर और माइकेल ओडायर हुआ करते थे। अमृतसर के हत्याकांड का हम अपनी आखों देखी से भी अधिक वर्णन करते थे। विदेशी कपड़ों की होली को प्रोत्साहन देते थे। उस विषय पर रवींद्र ठाकुर और गाँधीजी के बीच विवाद चल पड़ा था। मेरी सारी सहानुभूति तो गाँधी जी की ओर अर्पित थी। श्री ठाकुर ने 'कल्ट आफ दी चरखा' लेख में गाधीजी का विरोध किया। तब मुझे लगा कि शान्ति निकेतन न जाना अच्छा हुआ। ठाकुर और गाँधी जी के विवाद के बीच दोनों के प्रिय सी० एफ० एंड्रूस की स्थिति बड़ी सोचनीय थी।

पुनः कुन्दापुर

मैंने स्वग्राम भक्ति से कुन्दापुर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। गाँव के व्यापारी और प्रमुख पुंडरीक कामत अपने सगे भाई के समान मेरे सहायक बने। खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं थी। मेरे भाइयों के रहने के लिए पहले से प्रबन्ध था ही। परन्तु मैं अपने गाँव कोट जा नहीं सकता था। मेरे असहयोग आन्दोलन में भाग लेने पर पिताजी को बड़ा असमाधान था। वे सपना देखा करते थे कि मैं पढ लिख कर वकील बनूंगा और कुन्दापुर में एक शेर की तरह जीवन बिताऊँगा। उनका यह सपना पूरी तरह टूट गया। उन्होंने मुझे घण्टों उपदेश दिये। मेरी दादीमाँ और सब गिड़गिड़ाए। पिताजी ने रिश्तेदारों से भी कहलाकर देखा, उन सबकी बातें सुन कर मैं कोई उत्तर दे नहीं सका, मैं मूक हो गया। अन्त में पिताजी ने, तुझसे बात करना एक पत्थर के खम्भे से बात करने के बराबर है मेरी आशा छोड़ दी। अन्त में खम्भे की ही जीत हुई। मेरे पिताजी भी हार माननेवाले नहीं थे। उन्होंने गाँव के सोमयाजी को घर बुलाकर मेरी पत्री दिखायी। सोमयाजी ने फल बताया इस लड़के का बुद्धिभ्रम हो गया है। थोड़े समय में ठीक हो जाएगा। वह समय खतम होने के बाद मैंने एक बार उसी सोमयाजी से मजाक में पूछा, "महाराज, मेरी बुद्धि तो अब भी दुरुस्त नहीं हुई है वैसी ही है!"

पिताजी की निराशा

मेरे पिता जी को मुझ से और किसी चीज की जरूरत नहीं थी। वे केवल

इतना ही चाहते थे कि मैं जेल नहीं जाऊँ, घर में आराम से बना रहूं।

मुझे बुरे ग्रहों से मुक्त कराने के लिए उन्होंने शांति पाठ कराया। होम के समय मैं नहीं बैठा तो उस स्थान पर उन्हीं को बैठना पड़ा।

आप को तब के राष्ट्रभक्त कारन्त को देखना चाहिए था। तब मैं खादी का तनियों वाला कुर्ता पहनता था। उस पर विदेशी बटन नहीं लग सकते थे। सिर पर टोपी लगाता था। देशभक्ति का प्रतीक एक चरखा पास रखकर मैंने एक फोटो भी खिचवाया था। उन्हीं दिनों हमारे गाँव में मुंबई टेक्सटाइल्स शाला का एक विद्यार्थी दत्तात्रेय और विज्ञान का विद्यार्थी शंकरराव असहयोग करके आये थे। उन्हें साथ लेकर मैं गांव गांव घूमने लगा। एक सप्ताह में ही वे दोनों मित्र बम्बई को 'रिटर्न्ड विद थैंक्स' हो गये। बाद में उनके बारे में पता चला —दत्तात्रेय बम्बई के एक कारखाने में नौकर हो गये। शंकरराव रेडियो और केबिल कम्पनी के एक बड़े पद पर काम करने लगे। जीवन में यश में और सार्वजनिक देशभक्ति में भला कैसे सम्बन्ध हो सकता है? आज के समान तब का देश भक्ति लाभदायक उद्योग नहीं थी।

विश्वविद्यालय का स्नातक

जीवन का आरम्भ

मंगलूर का कॉलेज छोड़कर कुन्दापुर में आकर बसने के बाद से ही कहना चाहिए कि मेरा असली जीवन शुरू हुआ और असली शिक्षा शुरू हुई। बड़ों के पोषण का सहारा छोड़कर तथा शाला का मोह छोड़कर समाज के विशाल विद्यालय में पाँव धरने पर ही मेरे व्यक्तिगत जीवन को रंग मिला। इसलिए अब तक सोचने पर भी उस समय जो मैंने निर्णय किया था वह गलत नहीं लगता। ऐसा मुझे लगता है कि शाला और कॉलेज से बाहर जो कुछ मैंने सीखा उसका सौवाँ भाग भी मैंने उनमें रहकर नहीं सीखा। पढ़ाई लिखाई छोड़कर कॉलेज और शाला ने मुझे दूसरी कोई कला नहीं सिखायी। मुझे महसूस हुआ कि शाला की दीवारों के बाहर जो कुछ मैंने सीखा वही मेरे जीवन को आगे बढ़ा रहा है। जो भी हो, वास्तविक 'विश्व' विद्यालय का स्नातक मैं अभी तक नहीं बना हूँ फिर भी कैसे बन रहा हूँ यह आगे के पृष्ठों में चित्रित करता हूँ।

आदर्श का घूँट

असहयोग आन्दोलन में कूदकर जब मैं कुन्दापुर पहुँचा तब गांधीजी के आदर्शों से ओत प्रोत था। उन्होंने 'हिन्दी स्वराज्य' नाम के ग्रन्थ में जो बातें लिखी थीं वे मेरे लिए वेदवाक्य थीं। वे यन्त्रयुग के एकदम विरोधी थे। मैं उनके ऐहिक जीवन से तिरस्कार और ब्रह्मचर्य आदि के आदर्श का एक ही घूँट में पीकर जीवन भर के जीवन में बड़े-बड़े सपने देखने लगा। किसी भी चीज का खाना हो जीर्ण या अजीर्ण का प्रश्न नहीं उठता। खाने के कुछ देर बाद ही वह प्रश्न उठता है। मेरे बारे में भी यही बात रही।

गाने की करामात

कुन्दापुर में मेरा पहला कार्यक्रम कांग्रेस के सिद्धान्तों का प्रचार करना था।

सरकार से असहयोग करने को लोगों से कहना, खादी का प्रचार आदि-आदि। यह काम मैंने गले की ताकत से शुरू किया। कुन्दापुर के आस पास कोई ऐसा गाँव नहीं जहाँ मैं नहीं गया। शेट्टीमने, और कोल्लूर जैसी घाटी के पास से लेकर बारावली तक मालूम नहीं मैं कितनी बार भटका हूँ। पहले सप्ताह तो मैंने जिन दो मित्रों का जिक्र किया था व मेरे साथ थे। रोज सात आठ कोस चलने पर थककर चूर होकर ऐसे ग्रामीणों के सामने भाषण दिये जो सुनना नहीं चाहते थे। उसी से मेरे व मित्र निराश होकर चले गये। पर मैंने अपनी हठ नहीं छोड़ी। गाँव में भाषण सुनने के लिए आठ दस लोगों को भी इकट्ठा करना कठिन था। एक घटना सुनाता हूँ— अमावस्ये बलु घाटी से सात आठ मील की दूरी पर है। कृष्णराय कोडगी वहाँ एक रईस थे व काँग्रेस के भक्त थे। हम दोनों ने मिलकर सारा दिन उस गाँव का चक्कर लगाया, दूर-दूर के दस-बीस घरों में जाकर लोगों को अपने भाषण सुनने को आमन्त्रित किया। ऐसी सभाओं के द्वारा ही मुझे काँग्रेस कमेटियों की स्थापना करनी थी। उस साँझ मेरा भाषण एक टूटे फूटे मन्दिर में होना था। शाम को 'जगी लोग' जमा हुए। मैं मेरे अन्नदाता कोडगी और एक मात्र ग्राम के प्रतिनिधि इकट्ठे हुए। उसी में मैंने अपना भाषण दिया और भी मैंने ऐसे कई भाषण दिये। अंत में यह महसूस किया कि इस तरह काम नहीं चलेगा। जहाँ लोग इकट्ठे होते हैं जैसे जलसा में, विवाहों में, और कई समारोहों में मैंने अपने गले का प्रयोग किया। मैंने उन अनुभवों को अपने एक उपन्यास 'औदार्य अट्टहास' में चित्रित किया है। इधर उधर एकाध काँग्रेस कमेटियों का भी जन्म हुआ। जब हम उन ग्रामों में जाते तभी उनमें जरा सी जान दिखायी देती अन्यथा नहीं। कुछ स्थानों पर चरखे का भी प्रचार किया। उस दिनों लोगों का ब्रिटिश सरकार पर ही विश्वास था। हमारे गाँववालों को यह पक्का विश्वास था कि ब्रिटिशों के जाते ही लोग यहाँ एक-दूसरे को मारकर खा जायेंगे। इस बात का अपवाद सैकड़ों में एक-आध ही मिलता था।

बाप का बोया बरगद

अस्पृश्यता निवारण तो हमारे कुन्दापुर के लोगों के गले में उतरने की बात नहीं थी। कारण इतना ही था कि वे एकदम पुराने ढंग के थे। रीति रिवाजों से एकदम जकड़े हुए थे। उनके अन्धविश्वासों की कोई हद नहीं थी। ऐसे लोगों के सामने 'पिता के लगाये बरगद से मत चिपको' कहकर गाँधीजी का तत्त्वोपदेश, स्वामी दयानन्द की शास्त्र चिकित्सा यह सब मिलाकर कहें तो क्या वे लोग मान मन? चाहे गाँधीजी हों या स्वामी दयानन्द ये लोग भला हमारे बाप-दादाओं से अधिक समझदार हैं?

परन्तु एक-दो बातों में हमारा चातुर्य लाभदायक रहा। ग्रामीणों को इकट्ठा करके मैंने कई जगह मद्यपान निषेध के बारे में भाषण दिये। गाँव के प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने साथ साथ रखा। सैंकड़ों पियक्कड़ों ने 'आज से शराब छोड़ दी' कहकर हमारे सामने प्रतिज्ञा भी की। कुछ सप्ताह या मास तक ऐसा लगा कि उन्होंने छोड़ भी दी। कुन्दापुर में वार्षिक शराब के ठेके की नीलामी के समय ठेकेदारों को बोली के लिए खड़ा नहीं होना चाहिए यह बात हमने गाँव के प्रमुखों द्वारा कहलवायी। पुण्डरीक कामत जैसे व्यक्तियों का गाँववालों पर पूरा प्रभाव था। इसीलिए कई बार शराब के ठेके की नीलामी रुकी भी रही। परन्तु धीरे-धीरे पहले की तरह गाँव में ही शराब के ठेके की नीलामी होने लगी और लोग फिर से पीने लगे।

परदेशी बुद्धि

मेरे स्वदेशी प्रचार के कार्य में चीनी और कपड़ा मुख्य थे। लोगों को ढाके की मलमल की कहानी भी सुनाया करता था। बाद में यह भी बताता कि मैंनचेस्टर का कपड़ा हमारे देश में भर गया है, जिससे हर वर्ष चौंसठ करोड़ रुपया देश से बाहर चला जा रहा है। इसलिए विदेशी कपड़ा जला डालना चाहिए। जहाँ कौपीन भी लोगों को दुर्लभ हो, वहाँ कपड़े जलाने की बात भला कौन सुनता? सस्ता कपड़ा मैनचेस्टर तो क्या, परलोक से भी आता तो भी यहाँ के लोग खरीदते ही।

उन दिनों हमारे देश में सोलह करोड़ रुपये की चीनी प्रतिवर्ष विदेश से आती थी। शादी-ब्याहों में चीनी से बनी चीजें हमारे लोगों को बहुत प्रिय होती थीं। उनके सामने 'चीनी तैयार करने में हड्डियों का प्रयोग किया जाता है' कहने पर उन छुआछूत माननेवालों की आत्मा को दुख हुआ। बहुत से लोगों ने कम-से-कम थोड़े समय का चीनी छोड़ दी। आगे के कुछ ही वर्षों में मोतीचूर के लड्डू और बेसन के लड्डुओं का पहले जैसी विजय मिली।

चन्दा इकट्ठा करना

उन्हीं दिनों गांधीजी ने तिलक स्वराज्य निधि के लिए एक करोड़ रुपये जमा करने का प्रण लिया था। मुझे उस कार्य में बड़ी उत्सुकता हुई। लोगों के पास जाकर झोली फैलाता और उनसे निन्दा की बातें सुनकर लौटता था। मेरी झोली में तो कुछ भी नहीं पड़ा। बाद में मैंने सोचा कि हर एक के माँगने से लाभ नहीं होगा। कुछ खास लोगों को पकड़ना चाहिए जो एक मुश्त पैसा देंगे। ऐसे कितने लोगों से मेरा परिचय था? मेरा कुन्दापुर में रहते समय पड़ोस के एक घर के लड़के के साथ परिचय हुआ था। वे तीर्थ हल्लि तालुक के एक गाँव के साहूकार

के लडके थे। उनकी अपनी गाडी थी। वे एक बडे जमींदार भी थे, पैसे का लेन-देन भी करते थे। बडे धार्मिक थे। दिन मे तीन बार जाप किया करते थे। जप के समय वे नवरत्ना का जो हार पहनते थे उसी की उन दिनो म एक लाख रुपये कीमत रही होगी। अपने बच्चो की पढाई के लिए वे उनको कुन्दापुर म रहने की व्यवस्था करके खूब धन खर्च करते थे। मैंने सोचा उनके पास जाकर मांगू तो एक साथ एक गठरी मिल जायेगी। उनसे मेरा काफी परिचय भी था। वहाँ जाने से पहले, पता नही क्यो, मैं अपने गाँव भी गया था। तब मेरे पिताजी घर मे बीमार पडे थे। मेरी यात्रा निश्चित हो चुकी थी। 'पिता से देश सेवा मुख्य है' कहकर वहाँ बिना रुके मैं आगे चल पडा। बाद मे पता चला कि उससे मेरे पिताजी को बडा दुख हुआ।

मैं अपने गाँव से कुन्दापुर लौटा वहा स आगे चल पडा। उस समय की सारी बातें चिरस्मरणीय हैं। रात मे बारह मील नाव की यात्रा करके 'सौड' नाम के स्थान पर जा उतरा। मेरी थैली में एक कमीज, एक धोती और एक तौलिया शरीर पर के कपडे, मेरे पास बस मेरी यात्रा का इतना ही सामान था। वहाँ से पद्रह मील दूर पर 'अमावस्ये बलु' नाम का गाँव है। एकदम जगली प्रदेश। रास्ते म कोई भी दिखाई नही दे रहा था। एकदम चक्करदार रास्ता। प्रात काल के सूर्य की ओर मुह करके जिस रास्ते पर ज्यादा लोग चल चुके थे उसी पर चल पडा। खैर, दोपहर तक मैं 'अमावास्ये बलु' के कोडगी के घर पहुच गया। वहाँ मे उन्होंने एक आदमी मेरे साथ कर दिया। दूसरे दिन सुबह उठकर मैं उसे साथ लेकर चल पडा। दो घण्टे चलकर पश्चिमी घाटी के पास जा पहुँचा। साथ आया आदमी लौट गया। वह भीतरी घाटी थी। उसका नाम 'उलतद घाट' था। वहाँ एक आदमी चलने भर की सकरी पगडण्डी थी। घने जगल के कारण रास्ता भी बडा कठिन था। जगल की उस दीवार पर चढने म मैंने पूरे तीन घण्टे लगाये। वह सूर्यरश्मिहीन घना जगल था। बीच-बीच में पक्षियो का घोर कलरव मात्र सुनायी देता था। उस दिन के डर का मैं बयान नही कर सकता। तीन घण्टे के बाद चढाई कम हुई। मैं चारों ओर से जगल से घिरी एक जगह जा पहुँचा था। वहाँ जमीन से ठण्डा पानी रिस रहा था। उससे मुह धोया, वही जल पीया। थकावट स दिल जोर से धडकने लगा। सामने और कोई भी रास्ता दिखाई न देने से घबराहट हुई। लगा कि रास्ता भूलकर मैं कही शेर के माँद मे तो आ नहीं पहुँचा? बाद म जरा इधर-उधर भटकने के बाद एक छोटा-सा रास्ता दिखाई दिया। उसम जगल मे घुस गया और कुछ देर म बाहर निकल आया। तब सूर्य एकदम सिर पर आ गया था। वहाँ से पूर्व की ओर मुह करके चल पडा। वहाँ मैं किससे पूछता कि मुझे जिस गाँव जाना है वह कहाँ है? सीधे रास्ते पर पूर्व की ओर मुँह करके चल पडा। बीच-बीच मे अलग-अलग रास्ते दिखाई दिये। जो

रास्ता ज्यादा चला था उसी पर चलने लगता। एक घण्टा चलने के बाद कम्बल ओढ़े गाय चराने वाला एक गौडा दिखाई दिया। उससे पूछा, "शीरनाळ कहाँ है?" सुबह से दिखाई देने वाला वही एकमात्र आदमी था। उसने "यहीं एक आवाज की दूरी पर है" कहा। मैं आगे चल पड़ा। उसके हिसाब से वह 'राक्षस की आवाज' रही होगी। गाँव के मील तो चुटकियों के होते होंगे। चाहे कितना भी क्यों न चलो वह रास्ता ही खतम होने को नहीं आता।

शीरनाळ के साहूकार के घर पहुँचने तक दोपहर के दो बज गये। वह एक अच्छे अमीर का घर लगता था। कई नौकर-चाकर काम कर रहे थे। एक बहुत बड़ा सुपारी का बाग था। उनके गुसलखाने में एक दिन में जितनी लकड़ी जलती थी उतनी हमारे जैसे लोगों के घर के लिए एक वर्ष भर को पूरी होती। मलेनाड का वैभव वहाँ के वातावरण से पूर्णरूप से व्यक्त हो रहा था। उस घर से बाहर आते ही प्रतिक्षण बड़ी-बड़ी चीटियां की दोसे बनाते समय जैसी आवाज आती है वैसी आवाज आ रही थी।

पर्वतीय यात्रा

साहूकार के बड़े गर्मी की छुट्टियों में घर पर आये हुए थे। मैंने उनके साथ दस दिन बड़ी खुशी से बिताये। वहाँ से उनके साथ शृंगेरी भी हो आया। तुंगा तट और शारदाम्बा का मन्दिर देखकर बड़ा सन्तोष हुआ। शीरनाळ से निकलते समय मैंने अपना भिक्षुक हाथ उनके सामने फैलाया। उन्होंने दस रुपये का एक नोट रख दिया। मैंने जितना सोचा था उसमें केवल दो शून्य की कमी थी। मुँह लटका कर मैं वहाँ से चल पड़ा। घाटी के बीच आने-जाने वाली उनकी एक बैलगाड़ी में ही मैं चल पड़ा। उसीमें रात को सो गया। सुबह मैं नौ बजे सीतानदी पहुँचा। वहाँ उतरते समय उन्होंने जो रुपये दिये उससे केवल आठ आने ज्यादा मेरे पास थे। वहाँ से कोवकरणे चौदह पन्द्रह मील दूर है। जलती धरती पर धूल चाटता मैं आगे चल पड़ा। पहले ही मन मर गया था। अब शरीर भी थक गया। थका-माँदा मैं रास्ते में केवल पानी पीता चलता रहा। स्कूल में पढ़ा था कि गर्म वस्तु फैलती है शायद इसीलिए गर्मी के कारण रास्ते की लम्बाई भी बढ़ती-सी लगी। मेरा शरीर तो एकदम शिथिल हो गया था। रास्ते में कोई दुकान या मकान कुछ भी नहीं था। दोपहर तक चलते रहने पर भी कोवकरणे एक कोस दूर था। रास्ते में किसी ने कहा, "यहाँ एक ब्राह्मण का घर है। वहाँ जाने पर भोजन मिलेगा।" उस भिक्षा की ओर मेरा मन नहीं गया और आगे चल पड़ा। अन्त में थककर हर फर्लांग पर बैठता लेटता कोवकरणे पहुँचा। अंतिम एक मील चलने में दो घण्टे लगे। वहाँ एक आना देकर दूध पिया। नदी के पास पहुँचा। आगे की यात्रा के लिए नाव तय की। शेष सात आने उसे देने पड़े। सन्ध्या को खाली पेट

उस नाव पर सवार हुआ। सुबह तक वह नाव बगारघट्टे पहुंची। वहाँ एक परिचित के घर में एक दिन बिताया। उस रात मुझे मलेरिया का प्रथम दर्शन हुआ। यह सोचकर कि वहाँ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा, अपने घर चल पड़ा जो वहाँ से पाँच मील दूरी पर था। तीन महीने तक मियादी बुखार ने जान नहीं छोड़ी। इसके अलावा पिताजी के गुस्से का भाजन बनना पड़ा। पिताजी ने कहा 'पता नहीं कहाँ-कहाँ जाकर बुखार चढ़ा आया है। यहाँ घरवालों की भी आफत।' उनका ताना सुनकर मन को बड़ा दुख हुआ। बाद में एक बार जब मुझे निमोनिया हुआ तब भी वही बात याद करके मैंने घर में पाँव नहीं रखा। मैंने ऐसी कई यात्राएँ की हैं और उनके सुख-दुख देखे हैं। निसर्ग के मोह ने मुझे उन्हें सहन करने का साहस जो दिया था।

खादी का उत्पादन

शुरू शुरू के दिनों में खादी का प्रसार ही मेरा प्रमुख उद्योग था। चरखे तैयार करके बाँटता था। स्वयं कई बार बढ़ईगिरी करके चरखे तैयार भी किये। कुन्दापुर में कातने वालों को पूनियाँ उपलब्ध कराना मेरा काम था। कुन्दापुर से तीन मील दूर बसरूर में मेरे एक मित्र थे। धनी परिवार से सम्बन्ध रखते थे और हाईस्कूल में मेरे सहपाठी थे। उनका नाम सूरप्पा शेट्टी था। वे अपने गाँव के जुलाहों से कपड़ा बुनवाकर मुझे पहुँचाते थे। गाँव के लोग हाथ का कता सूत देते थे। ऐसा नहीं लगता था कि किसी ने एक दिन में दस तोले से अधिक काता हो। वह सूत भी हर एक का अलग अलग नमूने का होता था। उससे बना कपड़ा एकदम भद्दा होता था। ऐसा खादी का कपड़ा लादकर घर घर घूमने पर भी बिक्री नहीं होती थी। इस कारण खादी की दुकान रखने को दूसरे गाँव से खादी मँगानी पड़ी।

उन्हीं दिनों उत्तर भारत से मुझे एक पत्र मिला। वह मध्य प्रदेश से आया था या बिहार से यह मुझे याद नहीं। उस पत्र में पूछा गया था, "हमारे यहाँ सारे मुसलमान ही सूत कातते हैं। उनके सूत का कपड़ा मुझे नहीं चाहिए। आपके यहाँ हिन्दुओं के काते सूत का कपड़ा हो तो भेज सकेंगे?" यह वह समय था जब गाँधीजी शौकत अली को अपना बड़ा भाई मानते थे। परन्तु मैं जो सूत कतवाता था उसमें मुसलमान स्त्रियाँ भी कताई करती थीं। उसको मुझसे कोई लाभ न पहुँचा।

मेरे मित्र सूरप्पा अकस्मात विषमज्वर का शिकार होकर चल बसे। उनकी सौजन्य भरी आकृति मैं कभी भूल नहीं पाऊँगा। उनकी मृत्यु से खादी केन्द्र का दायित्व मुझ पर आ पड़ा। वहाँ जुलाहों का सहयोग भी मिलना बन्द हो गया। सूरप्पा के लिहाज से उनके रैयत जुलाहे खादी बुनने को तैयार थे, देशभक्ति के

कारण नहीं। उसके बदले मिल का कता सूत बुनना उनके लिए सरल और लाभदायक था।

रंगों की दुनिया

मेरी तैयार करायी गयी रंगहीन खादी ही हमारे गांव की खादी थी। दाम के अनुसार ही उसका काम था। भला बिकती कैसे? तब मैंने लकड़ी के छाप बनवा कर कपड़ा छपवाना शुरू किया। पी०सी०रे की लिखी 'देसी रंग' नाम की पुस्तक मँगवाकर स्वदेशी रंग बनाना सीखा। खादी की तरह यह रंग भी महंगा था इसलिए कम कीमतवाली रंगरजों की मुझे आवश्यकता थी। दूसरों से सल्फर के रंग और एनलाइन रंग मंगवाकर कपड़े रंगना सीखा। जब काम जरा चलने लगा तो कपड़े की बुनवाई में बाधाएँ आने लगी। मेरी दुकान सूत की आंटियों से भर उठी। समझ में न आया कि उस सूत का क्या किया जाय? नया कपड़ा बनवाने का काम रुक गया। सूत मंगलूर भेजा। वह बेकार ठहराया गया। इसलिए छ महीने बाद मुझे सूत वापस मंगाना पड़ा। बाद में पास के एक खड्डीवाले को पकड़कर मिल का सूत ताने में और हाथ का कता सूत पेटे में लगाकर कपड़ा तैयार कराया। इस प्रकार अर्ध खादी का निर्माण हुआ। इस कपड़े के लिए फिर से ग्राहक खोजने थे। शाला के लड़कों को साथ लेकर कई बार गली-गली बेचने गया। उधार देने से लोग कपड़ा खरीदते। उधार का पैसा खाते में ही रह गया। वसूली के लिए चक्कर काटता-काटता थक गया और एक दिन उस खाते को ही फाड़कर फेंक दिया। तब से खादी उद्योग के बारे में मेरा अभिमान जाता रहा। आज के युग में खादी दृढ़ नींव पर खड़ी रह सकेगी मेरा यह विश्वास जाता रहा। लगता था कि अखण्ड देशभक्ति ही उसे जीवित रख सकती है। वह ऐसा जमाना था कि देश भक्ति का भ्रम पूर्णरूप से जा नहीं सकता था। खादी अगर चली गयी तो क्या हुआ? क्या मैं अपनी दुकान छोड़ सकता था? मुझे बैठने को एक जगह चाहिए थी। इसलिए मैंने अपनी दुकान को स्वदेशी भण्डार बना दिया। उसमें स्वदेशी कागज, पेंसिल आदि का व्यापार शुरू किया। शायद कुल पाँच सौ रुपये का सामान रहा होगा। शाला के चार छ लड़के वहाँ आकर बैठते और गप्पें मारते। दुकान खोलने के बाद दुकान का मालिक आधा वक्त भी वहाँ नहीं बैठता था। कोई ग्राहक आने पर कोई न कोई विद्यार्थी-सहायक सामान देता। इन सब कामों से काफी कर्ज चढ़ गया। खादी और स्वदेशी प्रकरण के बीतते-बीतते पाँच साल बीत गये। तब तक स्वदेशी आन्दोलन हमारे गाँव में ठण्डा पड़ चला था।

जल से बाहर ही जेल का राज

कांग्रेस की ओर से काम करते समय साधारणतः पुलिस के मुकाबिले

विश्वविद्यालय का

फेंक देते हैं। वहाँ से मिठाई के लिए दूसरी दुकान पर जाना पड़ता है। जीण शक्ति हो तो भी मिठाई खरीदकर खायी जा सकती है। उत्तर भारत के लोग इतनी मिठाई खाते हैं! यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि उन्हे चीटियों ने खाये बिना कैसे छोड दिया!

काशी देखकर, आगे गया पहुँचे। वहा भी ठहरने के लिए एक पण्डे का घर ही गले पडा। सारे बुजुर्ग फल्गुणी नदी म स्नान करने गये। "मुझे वह पुण्य भी नहीं चाहिए और वह स्नान भी नही चाहिए" कहकर निवास पर ही रह गया। पैसे छीनने मे गयावाला का कोई जवाब नही। लौटते समय भी हमने मद्रासवाला रास्ता लिया। गुडूर से वे सभी तिरुपति गये और वहाँ की यात्रा करके मद्रास लौटे। "मुझे और किसी धार्मिक क्षेत्र नही जाना" कहकर सीधा मद्रास पहुचा। बाद मे मद्रास से चलकर हम सब अपने अपने घर पहुँचे। मेरी दादी की काशी जाकर आने की उत्कट इच्छा थी। उनकी आशा पूरी हुई। बाद मे वे कहने लगी कि अब मुझे और जीने की इच्छा नही। पश्चात् एक-दो महीने म ही वे स्वर्गगामिनी हुई। उनके निधन से पहले की एक घटना याद हो आती है। बहुत समय से उनकी एक गरीब सहेली थी। उसका नाम पार्वती था। किसी कारण दोनो म मनमुटाव हो गया और वे एक-दूसरे से दूर हो गयी। काशी से लौटने के बाद दोनो ने मिलकर खूब आँसू बहाये। बचपन की सखी से मन मे कड़ुवाहट रखकर नही मरना चाहिए। शायद यह बात दादी को सूझ गयी होगी। उस पार्वती के मन म जो आस्था हमारे घर के प्रति थी उसे मैं शब्दो में नही बता सकता।

शबरी का सत्कार

पार्वती का घर हमारे घर से आधा मील दूर था। तब यानी सन् 1922 मे उसका बचपन ही रहा होगा। वह सन् 1950 के आस पास गुजर गयी। मैं जब भी गाँव जाता था उसके घर अवश्य जाता था। अन्तिम बार (1943 44 म) मैं जब वहाँ गया तब वह पकी बुढ़िया हो गयी थी। आँखो से ठीक दिखाई नही देता था। हड्डियाँ चमडी स चिपक गयी थी। उसकी एक मात्र बेटी सावित्री घर पर ही थी। वह मरी ही आयु की थी। उसका घरवाला कही और था। उसके दो-तीन दुबल बच्चे थ। उन्हे कभी पेट भर खाना नहीं मिला था। मेरा मन कहता है कि जीवन भर गरीबी की एसी सजा मनुष्य को नहीं मिलनी चाहिए। मेरी माँ या दादी को—जब भी घर म अच्छा खाना बनता—बिना पार्वती के घर भेजे तसल्ली न होती। 'मरांठि मणिग' निधन समय मैं वहाँ गया था। एक शाम समुद्र तट से लौटते समय उसके घर गया था। पार्वती अकेली थी। मेरी आवाज स मुझे पहचान कर उसने मुझे बुलाकर बिठाया और पापड भूनकर खाने को दिया। झटपट चूल्हा सुलगा

कर कापाय तयार किया। आँगन (मण्डल) में नारियल की चटाई बिछाकर आग्रह से बिठाया। अपने पीने के लिए सहेज कर रखे दूध में से थोड़ा उसमें डाल कर पीने को मजबूर किया। मुझे उस आतिथ्य को स्वीकार करना पड़ा। उस गरीबी में भी उसके द्वारा किया गया अतिथि सत्कार भूलने की चीज नहीं।

मैंने अपने जीवन में ऐसा प्रेम और कहीं नहीं देखा। उसकी गरीबी याद करके, उसकी दी चीज खाते समय गले से उतर नहीं रही थी। वह प्रत्येक क्षण मृत्यु की प्रतीक्षा में ही थी। एक टुकड़े जमीन की खेती भी उसी को करनी पड़ती थी। तब वह अस्सी साल की रही होगी। उसके घर में बेटी और दामाद थे जो सूखकर काँटे हो चुके थे। उसके उस जमीन के एक टुकड़े पर भी पड़ोसियों की आँखें जमी थीं। उनके बारे में उसने मुझे बताया भी। यह देखकर मैं सोचने लगा कि भगवान पर भरोसा रखनेवाली और प्रतिदिन उसकी शरण जानेवाली को मिला ही क्या? मैं उसे कभी-कभी पैसे या साड़ी आदि भेजा करता था। परन्तु उसके प्रेम के सामने इसकी क्या कीमत। प्रेम की कोई कीमत हो तो ऐसे अमूल्य प्रेम की कीमत मैं कभी अदा नहीं कर पाया। सुदय से वह मर गयी, कम-से-कम मृत्यु के कारण वह इस इहलोक के दुख से मुक्त हुई। ऐसे और भी कुछ बंधु हैं, परिचित भी हैं। उनके दारुण जीवन ने ही 'मरळि मण्णिगे' की कथावस्तु को जन्म दिया और विकसित किया।

श्री कार्नाड

इस प्रसंग में हमारे काँग्रेस समिति के वरिष्ठों से जो मेरा सम्बन्ध था उनके बारे में लिख रहा हूँ। जिनमें प्रमुख कार्नाड सदाशिवराय कभी-कभी कुन्दापुर आया करते थे। उनसे मेरी बड़ी मित्रता थी। उन्हीं के कारण मेरा अखिल कर्नाटक राजनीति से परिचय हुआ। कार्नाड का चरित्र मैंने अपने उपन्यास 'औदार्यद उरुळल्लि' में परोक्ष रूप से प्रस्तुत किया है। मैं जब कुन्दापुर में काँग्रेस का काम करता था तब उनसे मिलने कई बार गया था। वे भी कुन्दापुर आया करते थे। गाँधीजी की इस बात पर कि एक वर्ष में ही स्वराज्य मिल जाएगा उन्हें जितना विश्वास था उतना किसी दूसरे को नहीं। जब वह वर्ष पूरा हुआ तो उनकी निराशा का कोई ठिकाना न रहा। वे सब पर विश्वास कर लेते थे। परोपकार में सर्वस्व अर्पण करके उनको एक दिन दूसरों के दान पर जीने की नौबत आ गयी।

अखिल कर्नाटक

उत्तर कर्नाटक के नेताओं और दक्षिण कन्नड जिले की जनता के बीच कभी गाढ़ आत्मभाव दिखायी नहीं दिया। देशपांडे गंगाधर राव, कोजल्गी श्रीनिवास राव आदि नेता उन दिनों यहाँ के लोगों का विश्वास नहीं जीत सके। आज भी लोगों का

उत्तर कन्नड से दक्षिण कन्नड में घूमते समय 'यह जिले उत्तर कर्नाटक की पूछ हैं' कहते हुए मैंने सुना है।

पहले मैं केवल स्वयंसेवक था। कई बार तालुक समिति का मंत्री भी बना। पर बड़ी बड़ी समितियों में घुसने का प्रयास नहीं किया। उन सबके लिए, चाहे कुछ भी हो, अपने से बड़े कोडगी पुण्डलीक कामत जैसे मित्रों को आगे करके मैं पीछे हट जाता।

हमारे जिले में एक खादी केन्द्र खोलने के लिए जितनी अड़चनें दी जा सकती हैं उतनी कर्नाटक के हमारे नेताओं ने दीं। अपने आप मरनेवाले उस केंद्र ने उन नेताओं की मेहरबानी से चार दिन पहले ही दम तोड़ दिया। 'हुदली' (बेलगाँव) में खादी तैयार की जा सकती है तो 'नीलेश्वर' में तैयार करने की जरूरत नहीं है यह उन नेताओं का संकुचित दृष्टिकोण था। और एक बड़ा झगड़ा कांग्रेस के अधिवेशन स्थान को लेकर चला। यह प्रश्न उठा कि कांग्रेस का अधिवेशन बेलगाँव में होना चाहिए या मंगलूर में। मंगलूर के लिए जितने मत मिले उतने बेलगाँव को नहीं। यही मनमुटाव का कारण बना। इस बहस के शुरू होने के दूसरे वर्ष मैंने कुन्दापुर में जिला राष्ट्रीय सम्मेलन के आयोजन का प्रबंध किया। उसमें मैंने स्पष्ट रूप से भाग लिया। नेता बनकर नहीं, सहायक के रूप में। गंगाधरराव देशपांडे जी को अध्यक्ष पद स्वीकार करने के लिए तार दिया। उस विषय में आया उत्तर मुझे आज भी याद है। 'योर पीपल हैव नो फेथ इन माई गाइडेंस हेन्स रिग्रेट'। हम लोगों ने यत्न किया था कि कांग्रेस का अधिवेशन बेलगाँव के बदले मंगलूर में हो। इस बात से दुखी होकर उन्होंने ऐसा उत्तर दिया था। हम लोगों के यह लिखने के बाद 'यह आप जैसे लोगों से कहने की बात नहीं' उन्होंने सम्मेलन में आना स्वीकार किया था।

अपार जीणशक्ति

कर्नाटक के उन नेताओं की एक शक्ति को तो मैं अच्छी तरह जानता हूं। बाकी बातों में वे कैसे भी रहें, सम्मेलनों में शेर की तरह गरजते थे। हमारे ये नेता खान-पान में काशी के पण्डों को भी मात करते थे। हमारे सम्मेलनों के समय सौ आदमियों के लिए बने लड्डुओं को वे तीन चार लोग ही चट कर जाते अतः उन्हें वास्तव में शुभवत स्वीकार करना पड़ा।

डॉ० हार्डीकर

हमारे नेताओं में डॉ० ना० सु० हार्डीकर से मेरा विशेष परिचय था। मैंने उन्हें पहली बार मंगलूर की 'कर्नाटक प्रांतीय परिषद' के सम्मेलन के अवसर पर देखा था। सरोजिनी नायडू के लिए आयोजित जुलूस में हाथ में बेंत पकड़े, बड़ी शान

से और बड़े अहिंसात्मक ढंग से सबको अनुशासन में रखा था। मैंने एक बार उनके सेवा दल के प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। हम राष्ट्र के लिए प्राण देने को तैयार हैं—यह उस प्रतिज्ञा का सार था। हार्डीकर जी ही सेवादल के कप्तान थे। एक दिन अकस्मात उनसे तार मिला। "तुरन्त गदुग आओ।" हार्डीकर की भाषा के अनुसार मुझे तावड़तोड़ चल पड़ना चाहिए। दूसरे दिन ही छोटी बहिन का विवाह था। तो भी तार देखते ही मैं निकल पड़ा। उसी बस से मेरे पिता जी कुन्दापुर से गाँव जा रहे थे। वे कोट में उतरे। उन्होंने पूछा, "तुम किधर?" मैंने कहा, "मैं हुब्बल्ली जा रहा हूँ।" तब उनके असंतोष का ठिकाना नहीं रहा। मैं तो सीधा हुब्बल्ली चला गया। वहाँ से स्वयंसेवकों के लिए निश्चित सफेद निकर कमीज पहनकर थैला लटकाए, टोपी पहने, मेरी ही तरह के अनेक शूरवीरों के साथ राष्ट्रभक्ति के गीत गाता गदुग पहुँचा। वहाँ एक और भी सभा चल रही थी। गदुग के जालीहाल वकील के घर उस दिन 'कर्नाटक प्रांत समिति' की सभा हुई। साथ ही, हम स्वयंसेवकों की सभा भी होने वाली थी। उसमें यह निर्णय करना था कि कर्नाटक में कानून भंग करने का आन्दोलन शुरू करना चाहिए या नहीं। हम लोगों ने सोचा था कि हम लोग ही उसका निर्णय करने वाले हैं। परन्तु जालीहाल के घर एक कोने में प्रांतीय समिति के सदस्यों ने घण्टा विचार विनिमय करके यह निर्णय लिया कि फिलहाल 'कानून भंग करो' आन्दोलन नहीं छेड़ना चाहिए। नेताओं ने हमें केवल इतना ही सूचित किया। हमें कोई पूछने-ताछने वाला ही नहीं था। मैं यह समझ नहीं सका कि केवल इतनी बात बताने भर को तार देकर हमें इतनी दूर से क्यों बुलाया गया। मैंने गाँव लौटते ही हार्डीकर को एक बड़ा पत्र लिखा। मैंने उनसे पूछा कि [illegible] समिति के निर्णय को सुनाने भर के लिए हमें अपने-अपने [illegible] क्यों कहा गया, इतने लोगों को बुलाकर समय क्या नष्ट किया गया। [illegible] लिखा, कृपया आप अपने अधिकार का दुरुपयोग मत कीजिए। [illegible] भी अच्छा परिचय हुआ। उनके उत्साह और [illegible] हुआ।

मेरे परिचित देशभक्तों में अत्यंत निस्वार्थी [illegible] करने वाले थे अकेले ही थे। हिन्दुस्तानी सेवा दल [illegible] करके उन्होंने [illegible] बहुत दिन तक संचालित भी किया। [illegible] की भावना जगाने में उन्हें [illegible] हुई।

अध्यात्म—अश्लील

एक बार धोंडापुर की [illegible]
[illegible]जी, मल्लिका [illegible] का सुनने [illegible]

[illegible]

भी हो लिया। मजलिजी और दिवाकरजी के प्रति मेरे मन में बड़ा गौरव था। श्रीनिवास राव और दशपांडे बड़े निरंकुश स्वभाव के थे। पर ये दोनों तो अहिंसा की मूर्ति थे। उनके आध्यात्मिक विचार ही मेरी इस भावना के कारण थे। उस सर के समय दिवाकर के मुख से कुछ अश्लील मुक्ताफल टूटे। तब उनके बारे में मेरा अभिमान काफी घट गया। मैं प्रथम असहयोग आन्दोलन के ही समय में राजनीतिक आन्दोलन में उतरा था। आगे कइयों से निकट से परिचय हुआ। श्री सदाशिव राव उनमें एक थे। उन जैसे त्यागी व्यक्ति का बाद में कांग्रेस में आये श्रीनिवास मल्य जैसे चालाक द्वारा स्थानच्युत किया जाना देखकर मुझे बहुत बुरा लगा।

एस भी कुछ लोग हैं जिन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद अपने स्वार्थ त्याग का खूब फल पाया। इस सन्दर्भ में श्रीदिवाकर का नाम लिया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मैं कर्नाटक के एकीकरण के आन्दोलन में भी बड़ा उत्साहित था। श्री दिवाकर केन्द्र सरकार में मन्त्री बने। तब उन्होंने हम सब का मसलनी का मन्त्रोपदेश दिया। बाद में वे हमारे राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस की ओर से कर्नाटक में प्रचार करने भी आये। सन 1952 के चुनाव के अवसर पर मैं कांग्रेस के विरुद्ध असेम्बली की सीट के लिए खड़ा हुआ। मेरे भाई पार्लियामेंट की सीट के लिए चुनाव लड़े। तब दिवाकर जी ने बेणूर के भाषण में मौके के मुताबिक कहा "पुस्तक लिखने वालों का चुनाव से क्या वास्ता और वकील भी भला क्या इस मसले में पड़ें" वे यह भूल गये थे कि वे स्वयं भी एक वकील थे पुस्तकें लिखते थे और साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रह चुके थे। काम साधने वालों को अपनी पुरानी बातें याद नहीं रखनी चाहिए इसका ये एक अच्छा उदाहरण हैं।

सन्यासी सी० आई० डी०

पहले जब मैं खादी के कपड़े पहनता था तब जहाँ मैं जाता वहाँ मेरा पता, मैं कहाँ जाता हूँ यह सारी खबर पुलिस रखा करती थी। इसके अलावा यह भी पता चला कि मेरे पीछे गुप्तचर भी लगे थे। एक दिन कुन्दापुर में गेरुए वस्त्र पहने एक सन्यासी आया। कांग्रेस कमेटी की पूछताछ करता मुझ तक पहुँचा। दो तीन दिन मेरे साथ रहा भी। शरीर से हृष्ट-पुष्ट था, साथ ही जवान भी। उसके चेहरे पर विरक्ति के भाव नाम को भी न थे। सोते समय दरवाजा बन्द करके सोता था। उसके कमरे में कमर पट्टी के पास कुछ आवाज हुआ करती थी। उस सन्यासी का स्थानीय कांग्रेस के बारे में पूछ-ताछ करते देखकर हमें उसपर शक हुआ। एक दिन तीन चार मित्र उसे साथ लेकर एक मैदान में जाकर बैठे। उसका उपदेश सुनने के लिए सब इकट्ठे किये। केवल भगवे कपड़े पहन

लेन से ही आध्यात्मिक उपदेश मुह से निकलने लगने क्या? उसके मुँह से राज नीतिक बातें निकल रही थी। मेरे एक मित्र ने तुरत उसकी बात रोककर उससे पूछा "यह सब तो ठीक है, पर तुम स यासी हो यह बात निरी झूठी है। तुम सी आई डी हो न? तुम्हारी कमर मे क्या बंधा है? हम छ आदमी तुम्ह पकडकर तुम्हारी गदन दबा दें, तो तुम क्या करोगे?" तब वह घबरा गया। वह उसी रात गाँव से अदृश्य हो गया।

यहाँ मुझे एक और बात याद आ रही है। उस जमाने म सरकार हमारे पीछे पुलिस लगाती थी तो हम सोचते थे कि हम कैसे गुलाम हैं? पर तु उस घटना क पैंतीस वष बाद भी उसी कांग्रेस सस्था के शासन मे यह क्या हो रहा है? 'लगान नही बढाना चाहिए' इस बारे मे एक सभा हुई। उसमे भी कांग्रेस को गुप्तचर लगाने चाहिए थे क्या? अधिकार का नशा ही कुछ ऐसा होता है। प्रजा के प्रभुत्व काल म प्रजा से अधिकार प्राप्त करके मस्ती छानने वालो को क्या यह ध्यान नही होना चाहिए कि प्रजा क्या चाहती है? क्या उन्ह केवल प्रजा के 'वोट' ही चाहिए?

समाज का परिचय

बाढ़ का प्रकोप

मेरे कुन्दापुर के जीवन ने मुझे कई प्रकार के सामाजिक कार्य करने का अवकाश प्रदान किया। सन् 1924 में हमारे जिले में भयानक बाढ़ का प्रकोप हुआ। उसकी कुछेक घटनाओं का चित्रण मैंने अपने उपन्यास 'औदार्य उज्ज्वलित' में किया है। तब मैं कुन्दापुर में रहता था। वह भी समुद्र का तटवर्ती प्रदेश है। एक दिन बाढ़ का प्रकोप दिखाई देने लगा। उससे सैकड़ों घर नष्ट हो गये। आरम्भ में उसमें क्या-क्या नुकसान हुआ, इसका जायजा लेने के लिए मैं एक बार नदी के तटवर्ती गाँव में घूम आया। उस काम में मेरे मित्र मूरप्पा शेट्टी मेरे सहायक रहे। कुन्दापुर से लगभग पन्द्रह मील दूर हलाडि में करीब चालीस फीट पानी चढ़ गया था। सभी ओर की स्थिति का जायजा लेने मैं निकल पड़ा था। सोड़ नाम की जगह से नाव पर बैठकर आठ-दस मील दूर तक नदी यात्रा बाढ़ के समय में ही की। नदी के पागलपन ने मुझे भी पागल बना दिया था। मैं निसर्ग का कोप देखना चाहता था। बाढ़ के पानी में नाव लता की तरह बहती थी। उस समय नदी-यात्रा खतरनाक थी पर उसको भर-आँख देखने की इच्छा से मैं यात्रा करना चाहता था।

कुन्दापुर से केवल डेढ़ मील पूर्व में आनेगल्लि नाम का गाँव है। वहाँ की धरती बहुत नीची है। उस बाढ़ में वहाँ के सैकड़ों घरों में से एक भी नहीं बचा कहूँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। बाढ़ उतरने को थी कि तभी मैं जायजा लेने गया। मेरे देखते-देखते एक लड़का एक नाले में गिर पड़ा। मैंने उसे बचाने का साहस भी किया। बाढ़ में मुझे सब से अधिक अहसास हुआ उस प्रदेश की भयंकर गरीबी का। जब मैंने यह जानने का प्रयास किया कि लोगों का कितना नुकसान हुआ तब अन्दाजा नहीं लग सका कि वहाँ कितनी गरीबी है। वर्षा में रोजगारी के बाद लगभग तीन मास हमारे यहाँ के लोगों के आहार की कमी का वर्णन करना कठिन है। तब गरीबों का खाने के लिए अन्न नहीं जुट पाता। कटहल के बीज, कचरकन्नी, मबटे (एक जाति का मोटा धान्य) खाते हैं। यह सब वायु पैदा करते

वाली चीजें ह। पेट भरा है यह महसूस करने के लिए काफी है। छोटी जाति के सभी घरा म यही आहार होता है। पर वह भी बाढ मे नष्ट हो चुका था। चार जन के रहने योग्य घरो मे तीन माह के आहार के लिए पाँच छ रुपये का अनाज भी नही होता था। उनके घरो मे खाना खाने को एक-दो काँसे की थाली और कटोरे के अलावा बतन भी नही थे। ऐसी घोर दरिद्रता थी। एसे लोगो के लिए धर्माथ चावल बाँटने वाली डिपो मे बठकर मैंने काम किया। नुकसान क आँकडे मैंने स्वय तैयार किये थे। इसलिए उन सब का अच्छा परिचय था जिन्हे नुकसान हुआ था। फिर भी कुछ विचित्र आदमी मिले। एक किसान जो दो सौ रुपये सालाना लगान देता और जिसने तीन हजार रुपये कज दे रखे थे वह भी गरीबी का दिखावा करके डिपो से धर्माथ चावल ले जाता था।

उन लोगा को बाहर से सहायता मिलने म देर लगी। एक वर्षा ऋतु के बाद जब दूसरी वर्षा ऋतु आरम्भ हुई तभी उनके लिए आय कपडे हम बाँट सके। केवल कुछ ही लोगो को हम पसे से सहायता कर पाये। दूसरो से मिला पैसा बाँटना मरे लिए कोई कष्ट का काम न था। उस अवसर पर जिले के मुखिया कार्नाड सदाशिवराय ने विशेष रूप से परिश्रम किया। उसी समय दक्षिण कन्नड मे बाढ के शिकार हुए लोगो की सहायता करने के लिए जिले मे एक समिति का गठन हुआ। उसके सदस्या मे आज मैं अकेला ही बचा हूँ।

उस बाढ क बारे म जब भी मैं याद करता हू मुझे अपने एक मित्र की याद आ जाती है। व दिवगत मोच्चिकार पाण्डुरग पै थ। व असहयोग के दिना के मेरे साथी थे। उन्होने उडुपि मे रहकर बाढ निवारण समिति के मन्त्री के रूप म बहुत काम किया। शुरू क दिनो मे मुझ मे आत्मविश्वास जगानवाले वे एकमात्र व्यक्ति थ।

वेश्याओ की समस्या

एक विषय मे तो कुन्दापुर के मरे जीवन ने मुझे बहुत तप्ति दी। पर वह तप्ति प्राप्त करने मे लम्बा समय लगा। कष्ट भी बहुत उठाना पडा। फिर भी 'कुछ काम किया' यह सतोष उससे मिला। मैंने उस समय जो काम किया उसका वणन अपरोक्ष रूप से 'बन्या-बलि' म किया है। मैंने बताया कि तब का मेरा जीवन गाधी चिन्तन पर आधारित था। कठोर ब्रह्मचय का पालन करना मरा आदश था। लैंगिक प्रश्नों के बारे मे विचार केवल मेरे अपने ही नही थे बल्कि उस आदश के माग पर बहुत लम्बे समय तक चलता चला गया। यहाँ जिस विषय का उल्लेख कर रहा हू वह समाज मे वश्याओ का प्रश्न है। लगभग 1930 तक हमारे गाँव के बड घरा के विवाहो म वश्याएँ बुलाकर नचाने का रिवाज था। 'मरळि मन्निग' म एक गुरिकार (मुखिया) के घर के विवाह मे उनका वणन किया है। मैं और मरा भाई

लक्ष्मीनारायण विवाहो मे वश्याओ को बुलाने के घोर विरोधी थे। उसका हमने प्रचार भी किया। उस प्रचार के कारण गाँव का यह रिवाज उठ गया। वेश्यावृत्ति ता नहीं गयी, पर उन्हे नचाने का रिवाज जाता रहा। कुन्दापुर, बसरूर, बारकूर म घुघरू बाँधनेवाले घराने भी है। उनके मोहजाल मे पडकर सबकुछ लुटा देनेवाले भी कुछ घराने है। हमारी समाज मे वश्याओ का बाहरी रूप से सम्मान न होने पर भी भीतर ही भीतर बहुत मान है। इसलिए पीढियो से वेश्यावृत्ति करनेवाले कुछ घर है। व्यभिचार मानव कुल रहते तक चलता ही रहेगा—इस समस्या से मैं परिचित हू। परन्तु इसको अपनानेवाले घरो के प्रति लोगो द्वारा दिखाया गया बाह्य तिरस्कार और भीतरी इच्छा म कोई सम्बन्ध नहीं।

कुन्दापुर म रहते मुझे सगीत सिखाने को रामकृष्ण नाम के एक व्यक्ति आया करत थ। व अच्छ सगीतकार थ। वे कारवार के बालकृष्ण बुआ के शिष्य थ। लाग उनकी जाति के लोगो को हय दृष्टि स दखत थे। वेश्याओ के किसी लडके का देखत ही कोई भी उस दस आदमियो की औलाद कह दता। वे दस आदमी समाज म हम ही हैं यह बात भूल जात हैं। इसके अतिरिक्त कोई व्यक्ति अपने जन्म का स्वय तो नहीं बदल सकता? ऐसी बात भी नहीं कि हम म काई वेश्या के पट स जन्म नहीं ले सकता था। हम यह बात भूल जाते है। उसी समाज का एक लडका मरा मित्र बना। उसक गुणो को देखकर मुझे बहुत स तोष हुआ। वह एक दो साल मेरे साथ रहा। एक बार पता चला कि यह कौन है। यह भी पता चला कि उसकी बहिन के कारण हमारे गाँव का एक अमीर घराने का लडका घर स ही दूर हो गया। उसकी एक बहिन और भी थी। उसकी और भी दो मौसेरी बहिनें थी। उन दिनो व तीनो बाजार म बडी बिकाऊ चीजें थी। आमतौर पर उनम गाँव म 'पायल बाँधन की आयु' की युवतियाँ होते ही कोई एक अमीर खूब पसा दकर सुहागरात मनाता है। बाद म वह उसी की कहलाती है। जब तक वह उसका निभाता है तब तक वह उसकी प्रेयसी रहती है। बहुत से घरो म ऐसे प्रणयी जोड़ा न विवाहित दम्पतियो स भी सुखी जीवन बिताया है यह मेरी आँखों देखी बात है। जो इस रास्त को भी छोडकर चलती है उसे गाँव मे 'छूटी वश्या' कहते है। मरा मित्र रा— एस ही वश्या कुल म जन्मा था। उसके बारे म लोगो का घटिया व्यवहार देखकर मुझे दुख होता था। एक दिन मैंने उससे कहा, 'यदि तुम अपनी बहिनो का क्रय की चीज न समझो तो मैं उनक लिए कहीं स भी उपयुक्त वर खोजकर उनका विवाह कर दूगा।" रा—का बहुत स तोष हुआ। वह मान गया फिर भी उसके घरवाले मान जायेंगे एसी उम्मीद मुझे नहीं थी। उसने जाकर घरवालो स प्रार्थना की। व लोग और घर की लडकियाँ विवाह के लिए मान गई। तब म मुझ अपनी बात के दायित्व का बोध हुआ।

गांधीजी द्वारा समाधान

लगभग तीन वर्ष तक, वेश्याकुल में विवाह की इच्छा रखनेवाली लड़कियाँ हैं या नहीं यह पता लगाने के लिए मैं घूमता रहा। उत्तर कन्नड़, बम्बई और मैसूर प्रांत के चक्कर लगाये। मेरे प्रयत्न सफल न हो सके, मैं अपनी जिम्मेदारी समझता था अतः अत्यन्त निराशा से मैंने गांधीजी को पत्र लिखा। उसपर उन्होंने लिखा, 'ऐसी लड़कियों को जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।' उससे मुझे बहुत निराशा हुई। आंसू आ गये। मैंने सोचा, मनुष्य के स्वभाव का परिचय गांधीजी को नहीं है। उन्होंने सोच रखा है कि उन्होंने जो साध लिया वह सबसे हो सकता है। ऐसी स्थिति में मेरी तसल्ली कैसे होती? अथवा रा— के घर के लोग जवान लड़कियों को घर में यूं ही रखकर रह सकते हैं? अंत में, मैंने सोचा कि यदि ऐसा अवसर आ ही पड़े तो कम से-कम उनमें से एक से मैं विवाह कर लूंगा।

तब ब्रह्मचर्य मेरे जीवन का आदर्श था। इस प्रकार काफी दिन बीत गये। एक दिन उत्तर कन्नड़ का मेरा एक मित्र अपने बड़े भाई के लिए लड़की खोजने हमारे यहाँ आया। मैं उसे रा—के घर ले गया। मेरी बात का विश्वास कर रा— की एक बहिन के साथ उसके भाई का विवाह निश्चित हुआ।

उस काम पर जाने से पूर्व मैं अपनी माँ से मिला। पता नहीं क्या सूझा, उन्होंने कहा 'शिवराम, तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिए।' मैं अपने मन को जानता हूं कहकर मैं उनके घर गया और एक दिन रहकर लौटा। उस प्रयत्न के फल ने मुझे सन्तोष दिया। पहला विवाह भी हो गया। उसके पीछे और दो बहिनों का भी विवाह हो गया। तब मेरे सन्तोष की सीमा न रही। पहलीवाली सात आठ बच्चों की माँ बनी और सुखी गृहस्थी बिताकर कर मर गयी। साल में कम-से-कम एक बार मैं उनके घर हो आया करता था।

माँ के लिए बेटी?

रा—के गाँव में ही और एक सुन्दर किशोरी थी। वह भी क्रय के लिए रखी चीज थी। एक दिन मैं रा—को लेकर उसके घर गया। उसकी माँ के सामने अपना गला खाली किया। उसका मन अपना रास्ता बन्द कर लेने को तैयार नहीं था। उसे डर था कि अगर बेटी की शादी करा दी तो उसका बुढ़ापा कैसे कटेगा। उसने वैसा व्यवहार भी किया। वह लड़की आगे एक अमीर की शिकार हुई। उसी अमीर की बातों में आकर एक दिन वह अपनी माँ से दूर हो गयी। माँ ने बेटी के जीवन को तो नष्ट किया ही, साथ ही, उसने गन्दी गरीबी ही पायी।

मेरे इस कार्य से मुझे बदनामी मिली जो स्वाभाविक था। कुछ मित्रों को यह

यह न सुना कि मैं लडकियों की शादी कराने का दलाल बन गया हूँ। अपने हाथ से शिकार जाने से भला वे मुझे छोडते ?

मेरे एक डाक्टर मित्र की एक वेश्याकुल की प्रेयसी थी। उनसे परिचय कम होने पर भी जब मैं दावणगेरे में रह रहा था तब कुन्दापुर के उनके पते पर एक पत्र लिखा—'आप समझदार आदमी हैं। आपकी गलती कुछ भी रहे क्या आप अपनी बेटियों को बाज़ारू जीवन बिताने को छोड देंगे ? उनसे उत्तर मिला, 'इज्जत से जीवन बितानेवाले लडके हो तो बताना।'' तब तक मेरा उस समाज के कई लडकों से परिचय हो गया था। इसलिए उनकी बडी बेटी को अच्छी जगह देकर विवाह करना सम्भव हुआ। आगे उसकी बहिनों को भी बडी बहिन की सहायता से ढंग के वर मिल गये।

कीचड में कमल

वेश्या जीवन की गन्दगी में मैंने जीवन की सुन्दरता भी देखी है। हम ऐसा सोच सकते हैं कि क्या वहाँ सौन्दर्य के लिए भी स्थान है। समाज में एक घटिया रिवाज होने से जीवन को ही हेय क्या समझें ? रा—के पिता ने—पिता नहीं—माँ के प्रेमी ने ही उस और उसकी बहिनों को रख लिया था। उनके लिए उसने न केवल अपनी गृहस्थी त्याग दी बल्कि घर बार भी उसके हाथ से जाता रहा। बुढापे में उसे वेश्याओं के घर में ही जीवन काटना पडा। रा—की माँ यदि कुल्टा होती तो उस सुखन जीव को लात मार सकती थी। पर उसने ऐसा नहीं किया। उसे रा—और दूसरे बच्चे पाळा (पिता जी) पुकारते थे। उस बुढापे में मधुमेह हो गया था। जब मैं उससे मिला तब उसके हाथ की एक उँगली जाती रही थी। उसके मरने तक रा—की माँ उसका सडा घाव धोकर पट्टी बाँधती रही। कभी के कभी उसी सहज प्रेम से उसकी देखभाल करते रहे। कितनी विवाहिता स्त्रियाँ पति की इतनी सेवा करती हैं ? उसकी मृत्यु तक रा—की माँ ने उसके प्रति जो भक्ति और प्रेम दिखाया था वह एक वेश्या का दिखाने की आवश्यकता नहीं थी। काम जीवन का एक ही पक्ष नहीं है। काम पशु सहज होने पर भी प्रेम के लिए एक सहज मार्ग है। वे अन्योन्य सहायक शक्तियाँ हैं। जहाँ सहज प्रेम रहता है वहाँ सही दाम्पत्य की राह बनती है। जहाँ वह नहीं, दाम्पत्य भी वेश्यावृत्ति हो सकता है। मानवकुल के निर्माण के लिए आवश्यक मानवीय काम भाव उसकी मनोवृत्ति के फलस्वरूप श्रेष्ठ भी हो सकता है और अत्यन्त निकृष्ट भी हो सकता है। वह एक ऐसी कसौटी है जिस पर स्त्री पुरुष के सम्बन्धों की नीति की महत्ता और लघुता को आंका जा सकता है।

समय बीतते-बीतते आयु में मुझसे भी छोटा रा—योगी बन गया, त्याग से भी ज्यादा भावुकता से अपने माता पिता को छोडकर महात्मा बन गया।

एक और समस्या

जब मैं यह सब सोच रहा था कि तभी हमारे समाज की बाल विधवा की समस्या भी मेरे ध्यान मे आयी। उस विषय म सोचते समय जो प्रसग आया उसका उल्लेख यहाँ कर रहा हूँ। सन् 1925 के लगभग मेरा परिचय एक नाटक मण्डली से हुआ। मैं कभी कभी वहाँ जाया करता था। मेरे एक अभिनेता मित्र ने मुझे अपने यहाँ बुलाया। मुझे बुलाने का कारण भी बडा विचित्र था। उसने लिखा था कि उसका और एक मित्र, जो खुद अभिनेता है, मैसूर प्रान्त से एक लडकी उठा लाया है। उसके बारे मे जरा झगडा हो गया है।

वहाँ जाने के बाद मुझे सारी बातें मालूम हुइ। शा—नाम की लडकी कोई अठारह की रही होगी। वह बहुत सुन्दर थी। विवाह के दो वर्ष बाद ही उसका पति मर गया था। उसे एक नट सार्वभौम प्रेम करने, उसके घरवालो से आँख बचाकर अपने घर ले आया था। लडकी को भय था कि पता नही उसके घर वाले क्या कर डालें। उसे दूसरों की असूया मे जीना था। मैं उन दोनो से थिएटर म मिला। मेरा उस कलाकार से निकट का परिचय था। उसमे कोई विशिष्ट गुण नही थे। शा—को अलग बुलाकर उस मित्र के बारे म अपना अभिप्राय बताया। बाद म यह भी कहा—"यदि तुम उसी को चाहती हो तो ऐसे रहने की अपेक्षा, उससे शादी कर लो।" अपने मित्र को भी मैने जिम्मेदारी बताई, और उन्हे शादी करने की सलाह दी। मुझे ऐसे प्रश्न उठने पर तुरन्त सलाह देने का साहस नही होता था। ऐसे मौकों पर मैं अपने सम्मानित व्यक्तियो से पूछता था। पहले एक बार गांधीजी से पूछने का उल्लेख कर चुका हूँ। अब इस बार उनसे पूछने का मन नही हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द के सामने यह प्रश्न रखा। उनके पुत्र प्रो० इन्द्र ने उनकी तरफ से उत्तर लिखा था। स्वामीजी का आदेश था कि उस लडकी का उस आदमी से विवाह कर देना उचित है, शास्त्र की दृष्टि से वह गलत नही होगा। उसके पन्द्रह दिन बाद ही स्वामीजी की हत्या हो गयी। उस बात को मैं अपने मित्र तक पहुँचाता कि तभी सुनने म आया कि शा—को उसके माता पिता जबरदस्ती लिवा ले गये। शा—ने अपने घर के बडो की कही बात सुन बता" 'तुम घर म इसी प्रकार रहो, बाहर किसी के साथ भाग गयी तो बाहर हमारा क्या होगा ?' घर व उसके पुनर्विवाह के लिए तैयार नहीं हुए।

शा—की मृत्यु

वह मारे दुख के आगे के चार-पाँच महीने म ही मर गयी। शा—की कहानी ने मेरे मन को बडा दुखी किया। मुझे लगा कि यहाँ लोग विधवाओ पर जबरन सन्यास लादते हैं। बाद मे एक दो बार अपने मित्रो को विधवाओं से विवाह करने

के लिए बहुत प्रेरित किया लेकिन हमारे तरुण उसके लिए आगे नहीं आये। इस कारण बहुत निराशा हुई। आज भी दहेज के लिए लार टपकाने वाले तरुणों में, व माओं की दुरवस्था देखकर उनसे विवाह करने को भला कितने लोग आगे आयेंगे ?

इसी तरह और एक बाल विधवा थी। उसके विवाह के लिए मैंने बहुत प्रयास किया। वह तो मेरे लिए एक प्रयास मात्र हो रह गया। कारण यह था कि उसे बाजार की हवा लग चुकी थी। कुछ वर्ष बाद उसने अपने आप दूसरा विवाह कर लिया। परन्तु उसने यह विवाह उस व्यक्ति से किया जो पहले से विवाहित था। वह तो हतभाग्य थी ही, लेकिन इसके साथ ही उसने दूसरी का भी दाम्पत्य जीवन नष्ट कर दिया।

नैतिक प्रश्न से जुड़ी यह दाम्पत्य नीति अत्यन्त जटिल समस्या है। हमारे समाज के धर्मकार मनु, या अर्वाचीन नीतिकारों के वर्णन करने के समान आसानी से टुकड़ा-टुकड़ा में नियमों को अपनाने का प्रश्न नहीं है यह।

आँखे खोलने वाली लैंगिक समस्या

जो आदर्श मेरा नही

मैं जब स्वतन्त्र हो जीवन निर्वाह करने लगा तब मैं गांधीजी के उपदेशों को पूर्ण रूप से और भक्तिपूर्वक मानता था। तब मैं अनुभवी न था। लोगों से और पुस्तकों से प्राप्त मेरा ज्ञान भी बहुत कम था। जो मन को पसन्द आया उसी पर अनुरक्त हो जाना मेरे तरुण मन का स्वभाव था। शायद उस आयु का ही यह गुण रहा होगा कि जो उसे अनुकूल लगा वही सत्य है दूसरे सारे विचार अर्थहीन हैं। इसके अतिरिक्त तब हमारे भावावेश तीक्ष्ण होते हैं। जिस आदर्श को हम पसन्द करते हैं उसी में उद्वेग से मोह भी रखते हैं। कुन्दापुर में रहते हुए मेरा जीवन उसी प्रकार था। यदि यह कहा जाय कि मेरा आदर्श अपना ही था तो कहना चाहिए कि तब मैंने गांधीजी के जीवन दर्शन को पूर्णरूप से अपना लिया था। इस प्रकार के आदर्श से कष्ट नही होता। अनुभव से, विचार या तर्क से किसी निर्णय पर पहुँचने का वहाँ प्रश्न नही उठता। पहले ही किये गये निर्णय के लिए कारण ढूँढने का काम रह जाता है। कारण गांधीजी बता चुके थे। परन्तु उनके अनुभव, उनके विचार मेरे नहीं हो सकते यह समझने में मुझे काफी समय लगा। मुझे अपने आप अनुभव प्राप्त करने, दूसरों के विचारों को अलग रखकर सोचने के बाद ही यह सम्भव हो सका। धीरे धीरे मैंने यह भी सीखा। आज मैं जैसे कह सकता हूँ कि यह मेरे विचार हैं वैसे लगभग चालीस वर्ष पूर्व कहने का साहस भला कहाँ से आता? इस अध्याय में लैंगिक समस्याओं के बारे में लिखना चाहता हूँ। गांधीजी की विचारधारा हम सब को मालूम है ही। उनके लिए तो लैंगिक समस्या जैसी कोई चीज नही थी। यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। केवल सन्तान प्राप्ति के लिए भोग है—यह उनकी घोषणा थी। अथवा यह निश्चित निर्णय भी था। इसके लिए उन्होंने विस्तार से बताया था कि हमारा व्यवहार आचार विचार कैसा होना चाहिए। यह विचारधारा हमारे देश में कोई नयी बात नही थी। हमारे देश के आदर्श में परमार्थ साधना ही मुख्य रही है। ऐहिक जीवन उसी के लिए

उन दिना भी समझ म नही आयी ।

अनुभवो मे प्राप्त निणय

मरी शिक्षा और मरे अनुभव दोना स मर सामन यह प्रश्न उपस्थित होन हैं। मुझ एसा नही लगता कि सावजनिक प्रश्न म हमारे बाह्य निणय, नीति और वस्तु स्थिति म कोई सम्बन्ध हो। इसलिए मुझ हेवलॉक एलिस, बर्टेंड रसेल, वालटर विमन द्वारा उपस्थित तक को सोचना ही पडा। गाधी जी क आदश पर इतनी दूर की यात्रा मेर लिए केवल तक से ही सभव हुई। तक करन वाल मन का तक ही मुख्य नही होना चाहिए। तक मे जीतना मुख्य नही है, तक स सत्याश जानना मुख्य है। मुझे अपन इतने सारे अनुभवो को भूल जाना मुझ स यदि सम्भव नही है तो मुझ अपने अनुभवो के महत्व को अस्वीकार करना पडेगा। एलिस मलिनोवस्की, आदि विचारको के तक किसी सिद्धान्त विशष क प्रतिपादन को लेकर नही चले। उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि स यह दिखान का यत्न किया है कि व सब दूसर देशा के चित्र हैं सच है, लकिन वे झूठे आँकडे नही। हम इस तरह अपनी तसल्ली कर सकते हैं कि हमारा भारत एसा नही, पर भारत को थोडा बहुत भी मैंने जानन का प्रयत्न किया है और यहाँ क सकडो चित्रा का मैन सग्रहीत किया है। आदश के चक्कर मे मैं अपन अनुभवा को झूठा नही ठहरा सकता। इस विस्तृत जीवन मे जो सत्य देखा वह कम-स-कम मर लिए तो सत्य है ही। इस सबके आधार पर लोग चाह जो भी निणय दें मरा निणय तो यह है

आधुनिक भारत म कामवासना अधिक दीखने पर भी, प्राचीन भारत तो आकण्ठ डूबा था यह बात मैं आँखें मूँदकर अस्वीकार नही कर सका। इतिहास मे तो हम कवल सात-आठ प्रमुख लोगा क दशन होते हैं। उसमे जनसाधारण के दशन नही होत। मैं यह विश्वास नही कर सकता कि सारे भारतवष म अत्रि, गौतम और विश्वामित्र भरे थे। प्राप्त साहित्य और विज्ञान क आधार पर यह कहना चाहूँ कि प्राचीन हिन्दुओ का जीवन शृगारविहीन था, ब्रह्मचय से पूण था तो मैं यह नही कह सकूँगा। हमारे ऋषि राजा तथा कृष्ण, शिव ब्रह्मा जैसे देवता काम मे तरन हुए दिखाई दत हैं। दवता चाह जस रह हों उनकी कल्पना करने-वाली मानवशक्ति यदि काम प्रेरित न होती तो देवताओ का ऐसा चित्रण न कर पाती।

वात्स्यायन न कामसूत्र पर एक बडा सा ग्रथ ही लिख मारा। विरह क वातावरण म एसा ग्रथ लिखा नही जा सकता। एस लोग भी हैं जिनका कहना है कि सार गुप्त रोग विदेशों स ही भारत म आय हैं। सिफलिस (फिरगी रोग) तो हमार यहाँ म बाहर स आया होगा पर गुप्त अन्य जननेन्द्रियो के रोग तो हमारे

देश म चल रहे होंगे, नही तो उन रोगो की चिकित्सा कैसे बतायी जाती ? आयुर्वेद म ऐसी कई बीमारियो का उल्लेख है। एक विद्वान ने मुझे यह भी बताया कि पहलेवाले गुप्त रोग आजकल नही है। इसके अतिरिक्त हम जगन्नाथ देवालय, काशी के पाली मंदिरा मे जाएँ तो रतिशास्त्र के चित्र देख सकते हैं। हलेबिड म भी उनकी कमी नही। लैंगिक प्रश्न मानव कुल का प्रश्न है मानव स्वभाव का प्रश्न है। मनुष्य एक प्राणी है—एक बुद्धिशाली पशु। पशुत्व को त्यागकर मात्र बुद्धिशाली नही हो सकता।

पर लगता है, अपने समय के प्रतिनिधि रचनाकारो ने मत और सम्प्रदायो की चर्चा करते समय वास्तविकता को भूलकर ही अपने नीतिशास्त्रो की रचना की होगी।

काम और प्रेम से दाम्पत्य की साधना

दो प्रश्न

मेरे मन में दो प्रश्न मुख्य रूप से उठते हैं। एक—मनुष्य की काम भावना यौवन में एकदम दिखनेवाली वस्तु है अथवा शैशव से आनेवाला एक स्वाभाविक गुण है? दूसरा—मनुष्य दूसरे कुछ प्राणियों के समान सन्तान प्राप्त करने के लिए ही ऋतुगामी होने के बदले उसके बाहर भी शृंगारपरक क्या होता है? इस दूसरे प्रश्न को मैं पहले और एक ढंग से देखता था। उसका मुख्य कारण यह था कि मैं शुरू में ब्रह्मचर्य को ही आदर्श जीवन मानता था। मैं अपने भाषणों में यह कहा करता था कि मानव को ऋतुगामी पक्षी के समान अथवा कुछ और पशुओं के समान सन्तान के लिए भोगापेक्षी होना चाहिए। गांधीजी का मत भी यही है। मैंने यह सिद्धान्त उन्हीं से प्राप्त किया था। बाद में मैंने इस प्रश्न के उत्तर के लिए पशु-जीवन का निरीक्षण किया प्राणी-जीवन के बारे में लिखी गयी विद्वानों की पुस्तकें भी पढ़ीं। पहले उस प्रश्न का उत्तर देकर, बाद में दूसरा प्रश्न लेता हूँ।

जीवन चाहे मानव का हो या किसी और प्राणी का वह एक निरन्तर चलनेवाला प्रवाह है। हमारा सारा स्वभाव क्रियाकलाप मानसिक आवेग आदि का विकास जन्म से ही होने लगता है। प्रणय और काम भी इससे अलग नहीं। शिशुओं का प्यार, अनेक प्रकार की स्पर्श चेष्टाएँ कभी आगे चलकर आकर्षण या प्रणय चेष्टाएँ बन सकती हैं। उनका आरम्भ बचपन से ही हो जाता है। स्नेह व्यक्त करने को कुछ लोग दूसरों को चिकोटी काटते हैं। यह भी प्रणय व्यक्त करने का एक रूप है। मानव बात कर सकनेवाला प्राणी है। उसकी बातों में बुद्धि की पृष्ठभूमि में अनुभव से एकत्रित स्मृति ही उसकी सहायक बनती है। इसलिए व्यक्ति के अन्दर प्रेम की इच्छा पुरुष के साथ तथा पुरुष जब स्त्री के साथ रहता है तब दोनों में भी व्यक्त होती है। बचपन में अश्लील कहलानेवाली बातें, वार्ता, कहानी इत्यादि बच्चों को अच्छा लगता है। बच्चे के विकास के साथ ही यह पुष्ट

होता है। मन की पृष्ठभूमि में जितनी कामासक्ति रहती है उतना ही अधिक वाता से और स्पर्श चेष्टाओं से यह स्वभाव व्यक्त होता है। लैंगिक विषय में प्रतिबंध रहने से मन बहिष्कृत विषयों में आसक्ति लेता है। जननेंद्रिय में आसक्ति लेने वाला बालक आगे चलकर काम में भी आसक्त होता है। कुछ समय तक उन बातों में कोई लुकाव छिपाव नहीं रहता। बालक की उन चेष्टाओं को हम भोली चेष्टाएँ समझते हैं। उनके बड़े होने पर उन्हीं भोली चेष्टाओं का खण्डन करते हैं अथवा उन्हें दण्डित भी करते हैं। हमारे कपड़े लत्ते भी इस खण्डन का ही एक रूप है। लैंगिक चेष्टाएँ तब गुप्तरूप अपनाती हैं। बाहरी रूप से काम लज्जा का रूप ले लेता है। यह लज्जा ही दूसरों में काम भड़काती है। निसर्ग में काम और लज्जा का स्थान भी वही होता है।

इंद्रियासक्ति

बच्चे में, चाहे लड़की के रूप में हो या लड़के के रूप में, बढ़ते-बढ़ते इंद्रियासक्ति बढ़ती जाती है। उसकी इस आसक्ति का समाज खण्डन करता है। लेकिन बड़ों के सामने उनके मौन रहने पर भी उनका मन सोता नहीं। स्पर्शचेष्टा से तृप्त होने वाला मन का आवेग, जब उसका कौतूहल बढ़ता है तब लज्जा, नीति अथवा खण्डन के आवरण में समाप्त नहीं होता। उसमें और अधिक आसक्ति बढ़ जाती है। सृष्टि में दीखनेवाले पशु जीवन से, अश्लील गालियों और बात चीत से वह कल्पना और अधिक पुष्टि पाती है। तब ज्ञात विषय का अज्ञात रंग मिलता है। तारुण्य प्राप्त करते-करते काम, ज्ञानवाली संतान प्राप्त करने का मार्ग बन जाता है। यह ज्ञान पान से पूर्व ही उसमें काम प्रकट हो उठता है। कितने दिन तक निसर्ग की शक्ति मौन रहेगी? ऐसी कल्पना दाम्पत्य में ही सफल होती तो दुनिया में इतनी आबादी नहीं बढ़ती।

संतान प्राप्त करने के लिए स्त्री को सोलह से बीस वर्ष के बीच में होना चाहिए। मातृत्व और पितृत्व की शक्ति पर उससे पहले मनुष्य का स्वभाव मूक नहीं रहता। लैंगिक आकर्षण स्वाभाविक रूप में पैदा हो जाती है विषय ज्ञान के सभी रूप भी सामने में आ जाते हैं। गुप्त रूप से अपने कौतूहल को तृप्त करने की सभी चेष्टाएँ तभी से शुरू हो जाती हैं। आदिवासियों में कन्या और तरुणों के घर अलग अलग होते हैं, अस्वाभाविक बंधनों के बिना वे रहते हैं। उनकी दाम्पत्य नीति हम से निकृष्ट भी नहीं है। मैं आदर्श की दृष्टि से यह बात नहीं कर रहा हूँ केवल वास्तविक दृष्टिकोण से यह कह रहा हूँ।

प्रतीक्षा न करनेवाला काम

मनुष्य संतानजीवी होने पर अपेक्षित शारीरिक शक्ति,[1] मानसिक स्थिरता

पाने तक उसमे काम भाव चुपचाप बैठा नही रहता। वह बचपन से, काम का नाम प्राप्त करने के पहले से ही, बात से, मन मे और शारीरिक चेष्टाओ से प्रकट हो जाता है। यौवन को अभी प्राप्त न हुए बछडा, अन्य जानवरो के बच्चो म काम-चेष्टा का कौतूहल देखन पर यह बात समझ म आ सकती है। मनुष्य कृत्रिम जीवन चलाने लगा है। अपनी नैसर्गिक शक्ति को वह एक हेय वस्तु समझने लगा है परन्तु जीवन की अन्य अनेक आवश्यक क्रियाओ के समान काम भी एक है। हमारे खान के समान वह हेय नही है अत्याराध्य भी नही है। उसका एक अपना स्थान है। उसकी अवहेलना करने से वह शक्ति कम नही होती, बल्कि उसकी प्रतिक्रिया और भी तीव्र हो सकती है। इस विषय म मानव की कल्पनाए स्वाभाविक होने के स्थान पर, कल्पना और रगो से भरी रहती हैं। उसका परिणाम होता है—उच्च आदर्श, नीच जीवन। सयम और ब्रह्मचर्य नित्य जीवन मे दिखाई न देकर केवल आदर्श बनकर रह जाते हैं। मानव स्वभाव की ही अवहेलना करने-वाली रीतियाँ-नीतियाँ तो बन जाती हैं पर वे आचरण मे कही भी दिखाई नही देती।

जैसे पहले कहा गया असख्य तरुण और तरुणियो की प्रवृत्ति म काम की न दिखाई देन पर भी क्या उसे 'अनैसर्गिक' कहना उचित होगा—यह प्रश्न उठता है। स्वाभवत यानी जो सन्तान उत्पत्ति का कारण नही बनती ऐसी क्रिया को ह अनैसर्गिक क्रिया कह सकते है। अन्य शब्द मे ऐसी लत को परवशता कहते हैं। व सहज रास्ता नही है—इस बात का यह अर्थ होता है। शत प्रतिशत लोगो म दिखा देनवाली प्रवृत्ति को अस्वाभाविक कहते समय भी हम जरा सोचना पडता है। त तो उनसे बचनेवाले सात-आठ लोगो की प्रवृत्ति को ही अस्वाभाविक कहना पडेगा हमारी समाज मे अनेक लोगो के स्वभाव का अध्ययन करने के बाद एक सम मैं जिस बात को लेकर दुखी हुआ था, अब सोचने पर ऐसा लगता है कि उन दुखी होन का कोई कारण नही था। मनुष्य-स्वभाव को भूलकर नीतिशास्त्र द्वारा दण्डनीय को ही म अपराध के रूप म दिखाई दे सकते हैं। पेनल कोड दृष्टि स भी वे स्वभाव के अनुकूल ही व्यक्त होते होंगे। पशु-जीवन म, उसम कई म पड चिडियाघर के प्राणियो म, अनेक प्रकार की असहज चेष्टाए हम दे सकते है। यह जब अपनी सीमा लाँघ जाती है तब वह व्यक्ति दुख और भ्रम शिकार बन जाता है। कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को पागल बना देती ... बना देती है ... बना देती है। उसी दृष्टिकोण से हमें इस प्रश्न चिन्तन और समाधान करना चाहिए।

निम्नयग म

अब मैं दूसरा प्रश्न उठाता हूँ। कुछ प्राणियो के जीवन म यह दिखाई देता है

भोग संतानोत्पत्ति के लिए है। लेकिन बैक्टीरिया जैसा अणुजीवी अपनी संतान लिंग के प्रश्न के बिना ही पैदा कर लेता है। वह अपने शरीर को अपने आप दो भागों में विभाजित कर लेता है। उसका एक ही कोशवाला शरीर है। ऊँचे वर्ग के जीवों में दिखाई देनेवाली विविध प्रकार की क्रियाएँ और प्रवृत्तियां उसमें नहीं हैं। बहुकोश जीवियों में नर मादा जैसे प्रभेद दिखाई देते हैं। कुछ कीटों में तो नर मादा एक ही होते हैं। वह अपने आप मिलता है और संतान उत्पत्ति कर लेता है। एककोश जीवी से बहुकोश जीवी का विकास हुआ। उसके शरीर के काम-व्याप्ति के विस्तार से नर-मादा का भेद शुरू हुआ। ऐसे जीवों में अण्डा देने या बच्चा पैदा करने के बाद खुद संतान की रक्षा करने वाले भी हैं नहीं करने वाले भी हैं।

प्रेम और दीर्घ दाम्पत्य जीवन

मैथुनक्रियाओं में नर मादा के मिलने के बाद संतान तो उत्पन्न हो जाती है। पर नर मक्खी मर जाती है। कुछेक जीवों में माँ अण्डे देने या बच्चे देने के बाद मर जाती है। उस पर संतान के पोषण का भार नहीं रहता। बहुकोष-जीवी पशु पक्षियों के समान ही विकसित हुए हैं। पशुओं से ही कपिकुल का विकास हुआ, और उससे मानवकुल का विकास हुआ है। यदि हम सिद्धांत को स्वीकार करें तो हम संतान और सम्भोग के बीच दीखनेवाले स्नेह आकर्षण और शृंगार को समझ सकते हैं। जिनमें संतान के पोषण का दायित्व नहीं है वहाँ केवल संतान भर के लिए कामवृत्ति पर्याप्त रहती है। बाकी समय में उसकी आवश्यकता नहीं रहती। जहाँ मादा को अपनी संतान पालनी होती है वहाँ नर का काम खत्म हो जाता है। उनमें शृंगार या आकर्षण सम्भोग तक सीमित होता है। नर मादा से दूर भी रह सकता है। यदि झुण्ड में रहता हो तो भी ऋतुकाल आने तक भोग की इच्छा उसमें नहीं होती। पक्षियों में अण्डे सेकर, सेकर बच्चे निकलने के बाद, बच्चों के पंख निकलने के बाद उड़ने की शक्ति आने तक और अपना आहार स्वयं जुटा पाने तक नर और मादा का दायित्व अधिक रहता है। इस समाज में नर मादा के बीच दाम्पत्य दिखाई देता है। बहुत बार नरपक्षी अण्डे सेता है। बच्चों को चुग्गा भी लाकर देता है। केवल मादा का ही वह काम नहीं करना पड़ता। नर मादा का सहायक होता है। प्रकृति का उद्देश्य संतानोत्पत्ति होने पर भी उद्देश्य पूर्ति के लिए नर और मादा दोनों को मिलकर गृहस्थी चलानी पड़ती है। इस कारण पक्षियों में, आकर्षण और शृंगार का विशेष महत्व है। नर और मादा में मैत्री दोस्ती आवश्यक है। सम्भोग तो केवल ऋतुकाल में ही होता है। परंतु उनका स्नेह अण्डे पूरकर, बच्चे निकलकर उनके बड़े होने तक, आवश्यक होता है।

पशु जीवन इसमें भी तनिक विकसित है। अथवा विकास के रास्ते पर कुछ

अलग ही है। कुछ प्राणी पक्षियों की दाम्पत्य नीति पर ही चलते हैं। नर और मादा दोनों बच्चा का पालते हैं। बच्चे को शिकार खेलना सिखाना पड़ता है। यहाँ भी उनका स्नेह और दाम्पत्य दीर्घकाल तक चलता है। नर अपने आकर्षण से मादा को अपनी ओर आकर्षित करता है। काटना, चाटना उनके शृंगार की चेष्टाएँ हैं। शेर और चीते में भोग भयंकर रूप धारण कर लेता है। उस समय नर मादा को जान से भी मार सकता है। झुण्ड में रहनेवाले पशुओं का जीवन कुछ और ही ढंग का होता है। हिरण आदि प्राणियों में, जो प्रायः झुण्ड में रहते हैं, मादा को प्रतिस्पर्धा के द्वारा जीतना होता है। मादा को बच्चे देने में सात-आठ मास लग जाते हैं तब पक्षियों के जीवन में दीखनेवाला दाम्पत्य यहाँ नहीं दीखता। वह आवश्यक भी नहीं। नर मादाओं के साथ कभी-कभी झुण्ड में रहते भी हैं और वहाँ भी रहते समय उनका काम मादाओं की रक्षा करना होता है। शेर या भेड़िया आने पर उसका प्रतिरोध करते हैं। मादा माँ बनते ही बच्चे के पालन के काम में जुट जाती है। झुण्ड में रहकर अनुकरण करने के कारण बच्चा जल्दी स्वतन्त्र हो उठता है। ऐसे समाज में केवल ऋतुगामित्व ही तो चल जाता है।

वानर-जीवन

बन्दरियों में भी यह भी ज़रा अच्छी नस्ल के कपियों में, जैसे पूँछहीन गोरिल्ला, चिम्पैंज़ी आदि का जीवन झुण्ड का जीवन होता है। यहाँ काम चेष्टाएँ बचपन से दिखाई देती हैं। उस झुण्ड की मादा सरदार बन्दर के अधीन होती है। वह सरदार ही पति होता है। सब बन्दरियों को उसके अधीन रहना पड़ता है। उस झुण्ड में पलने वाले नर बन्दरों को कृत्रिम ढंग से अपना काम जीवन बिताना पड़ता है। नहीं तो अपने सरदार के क्रोध का भाजन बनना पड़ता है। सरदार के झुण्ड के बन्दरों की काम इच्छाओं के प्रति उदासीनता दिखाने पर भी उस परिवार में बढ़े हुए अन्य बन्दरों का अपने अन्तःपुर की बन्दरियाँ छूने नहीं देता। तो निसर्ग की नीति क्या है? दूसरे बन्दरों को सन्तान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है? उन्हें सम्भोग सुख न। चाहिए? कपि समाज के झुण्ड के जीवन की रीति अनुसार उन्हें सरदारों के शासन में जीना पड़ता है। इस परिस्थिति में उनके मादा के प्रति आकर्षण में और मानसिक जीवन में बाधा आती है न? प्रत्येक जीव को सन्तान की इच्छा होती है। सन्तान का पालना सन्तान का। जीना भी चाहिए—इस दूसरे हित को साधनेवाले कपिराज रहने वाले निसर्ग के विरुद्ध होता है न? पहला उद्देश्य तो उसमें पूरा हो जाता है। परन्तु दूसरे बन्दरों से भोग का अधिकार छीन लिया जाता है। तब से कभी न हिरण में प्रेम करने का लाभ नहीं मिलता। जबरदस्ती का पति ही उनके लिये रह जाता है। मुखिया बन्दर के मरने के बाद दूसरा उसका स्थान ले

लेता है। ऐसी सन्तति से ही आगे के कपि मानव और मानवों का जन्म हुआ होगा।

कपि-मानव, मनुष्य

कपि मानव ने कपियों के दाम्पत्य जीवन का अनुसरण किया। कपि से विकसित मानव, मूल में उसके समान ही जीया होगा। परन्तु ऐसे समाज के और आज के समाज के रूप में आने के लिए हजारों वर्ष लगे होंगे। तब भाग से सर्वाधित समाज की नीति रूपान्तरित हुई होगी। आज मनुष्य कुटुम्बजीवी है। दाम्पत्य जीवन चला रहा है। इसलिए हमें अब सोचना है कि 'सन्तान के लिए ही भोग' क्या यह निर्णय ठीक है? पहली बात यह है कि मनुष्य की सन्तान को स्वतन्त्र-जीवी होने के लिए एक लम्बी अवधि की आवश्यकता होती है। कम से-कम दस पन्द्रह वर्ष तक आश्रय के बिना मानव सन्तान रह नहीं सकती। मानव की साधारण आयु साठ सत्तर की होती है। उसमें से जवान होने में ही बीस वर्ष लग जाते हैं। शेष पचास वर्षों में वह आमतौर पर सात आठ बच्चों का पिता बन सकता है। इतना भारी भोग और सुख उसे तृप्त कर सकता है तो ऐसे एक मानव का सम्पूर्ण संन्यासी कहना गलत नहीं होगा।

एक बात और—यह ऋतुगामित्व से सम्बन्धित है। निम्नवर्ग के प्राणियों के जीवन में ऋतुकाल का एक निश्चित समय होता है। तभी उनमें काम प्रवृत्ति नजर आती है। मानव में यह नियम एकदम बदल गया है। स्त्री के रजस्वला होने पर भोग निषिद्ध है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि ऋतुकाल भोग का समय नहीं है। स्त्री ऋतुमती होती है परन्तु यह नियम-सा बन गया है कि वह ऋतुकाल छोड़कर ही भोग का समय है। यह बात अर्थपूर्ण हो या अर्थशून्य पर है विचारणीय विषय। स्त्री की देह परिपक्व होने के बाद माहवारी बन्द होने तक गर्भ धारण करने योग्य रहती है। उसका निर्माण ही इस प्रकार का हुआ है। ऋतुत्व से स्त्री-पुरुष में काम जागकर सन्तान की प्रक्रिया होनी चाहिए। उसके बिना भी काम चलता है। भोग की इच्छा जागृत करने वाली निसर्ग की इस व्यवस्था का मानव समाज में महत्त्व ही नहीं रहा। ऐसे जीवन में ऋतुत्व द्वारा प्रेरित करनेवाली काम क्रिया को आकर्षण और शृंगार प्रेरित करते हैं। यह शक्तियाँ बुद्धिजीवी मानव में नष्ट नहीं हुई हैं। दूसरी प्रक्रिया में तो थोड़े समय की—यानी ऋतुकाल में ही दिखाई देनेवाला काम जीवन मानव में लम्बे समय तक दौड़ना सम्भव हो सका। काम, स्नेह को प्रेरित करनेवाली शक्ति है। मानव की यौवनावस्था में उसका प्रभाव रहता है। अथवा उसके पहले से उसमें दिखाई देने पर भी यौवन में सम्भोग की इच्छा और सन्तान प्राप्ति की इच्छा दोनों का एक न हो पाना आश्चर्य की बात नहीं। इस सन्तान व ऋतुकाल के सम्बन्ध में, मानव में हुए दैहिक क्रियाओं के

अन्तर में हजारों वर्ष लगे होंगे। निसर्ग ने ही ऐसा परिवर्तन क्यों किया होगा?

दीर्घकालीन शिशु संरक्षण

मनुष्य जीवन में सन्तान के लालन पालन के लिए लम्बी अवधि चाहिए। इस कारण स्त्री पुरुष के प्रेम के लिए दीर्घकाल की आवश्यकता होती है। शृंगार, आकर्षण काम और उससे बढ़ने वाला प्रेम यह सब लम्बी योजना के अंग बन चुके हैं। आकर्षण और शृंगार यह तो केवल स्त्री पुरुष के मिलाप पर ही समाप्त नहीं होता यदि उन्हें दीर्घकाल तक के स्नेह में बदलना हो तो सदा रहनेवाली प्रेरणा होनी चाहिए। अधिकार प्रदत्त विवाहों में क्या हम यह दीखता है? अथवा हमारे समाज के परम्परागत दाम्पत्य जीवन में क्या हम यह दिखाई देता है? मानव की काम भावना ऋतुकाल समाप्त होने के बाद पूर्ण होती है—यह भी दीर्घ दाम्पत्य के लिए आवश्यक स्नेह और प्रेम की प्रेरणा है। प्रकृति में मनुष्य के ऋतुचक्र को पार करने का यही उद्देश्य होगा। भोग से सन्तान उत्पत्ति तो होती है परन्तु मानव युग की जो परिस्थितियाँ हैं उसमें भोग और काम सन्तानोत्पत्ति से भी अधिक व्याप्त हैं। काम स्नेह सम्बन्ध को अवकाश देने और साथ-साथ जीवन चलाने और स्नेह को बनाये रखने का कारण है। सन्तान उत्पन्न करना ही काम का मकसद है यह नैतिकवाद भी जीवन में दिखाई नहीं देता। प्रकृति सन्तान उत्पादन की राह में बहुत ही बड़ी उदार शक्ति है। एक पेड़ पर हजारों फल लगते हैं। उन हजारों बीजों में कितने कम पौधे निकल पाते हैं। सभी कष्ट व अड़चनें पार कर पौधे का वश बचाये रखने को कितने फूल फल निकलते हैं? मानव की बीजोत्पत्ति भी यही तो है। भोग में व्यय होनेवाले लाखों बीजकणों में एक ही पनपता है कहीं-कहीं दो या तीन भी। निसर्ग बहुत उदार है इसका यह एक उदाहरण है। एक बीजकण के फलित होने के बाद शेष सब व्यय होते हैं। अति भोग भी व्यर्थ होता है। स्त्रियों के लिए प्राय एक पुरुष ही पर्याप्त है। काम के निमित्त केवल सन्तान ही उद्देश्य नहीं प्राणी जीवन में शिशु संरक्षण भी उसमें सम्मिलित होता है। मनुष्य जीवन में लम्बी अवधि तक शिशु-संरक्षण का काम रहता है। इसलिए भोग केवल सन्तानोत्पत्ति का साधन न होकर स्त्री-पुरुष के दीर्घ स्नेह का कारण बन जाता है। तब काम का विस्तृत कर्तव्य और विस्तृत रूप हो जाता है। काम और आकर्षण मानव सहज सन्तान-संरक्षण और लालसा को बनाये रखने में सहायक होते हैं। इनमें से एक भी कम होने पर दाम्पत्य असफल हो उठता है। वह तृप्ति, आकर्षण शृंगार काम के व्यापक रूप हैं। इसी पर दाम्पत्य की भांति का स्वरूप एक रूप लेता है।

विस्तृत जीवन

मानव जीवन में आकर्षण और शृंगार का अधिक महत्त्व होना चाहिए यानी रूप

प्राणियो के जीवन से मानव का जीवन विशेष अर्थपूर्ण होना चाहिए। उनका मिलन अल्पकालीन होता है जबकि मानव का दीर्घकालीन। शेष प्राणीकुल म अपने बच्चे पैदा करके उस पालकर, आहार देना और उसे शत्रुओं से बचाकर बडा कर देना ही बहुत है। प्राचीन काल का गुहामानव भी उतना ही काम करता था। स्त्री पुरुष के मिलन के लिए, स्नेह के लिए, ऐसे उद्देश्यो की एकता होना सरल है। आज का मानव समाज गुफामानव का समाज नही रहा। उसकी आशा आकाक्षाए—आहार अर्जन, शत्रुओ स बचना—इतने मे ही समाप्त नही होती। उसका सुख कई रास्ते चुनता है। अनेक प्रकार के हास विलास, उद्यम, अभ्याग, अभिरुचियाँ आदि अनेक बातें उसके मानसिक ससार म भरी हैं। उसकी आहार समस्या भी गुहामानव के समान सुलभ नही। स्त्री पुरुष का, समाज म उनक भार को वहन करने का ढँग ही कुछ और बन गया है। अन्न प्राप्त करन क साधन बदल चुके हैं, क्षेत्र बदल चुका है। समाज मे स्त्री पुरुष को इन सब कारणों से अपने परिवार से बाहर, गाँव से बाहर दिन बिताने पडते हैं। सीमित आवरण म अपना साथी चुन कर प्रेम करके जीवन चलाना एक सरल काम है। उसम भी स्पर्धा दिखाई देती है। लेकिन मानव समाज मे विभिन्न प्रकार की अभिरुचियाँ, विस्तृत आहार-क्षेत्र आदि मे उत्पन्न होनेवाली समस्याएँ और भी बढ गयी हैं। दीर्घकाल तक साथ रहने का प्रयत्न करन से स्त्री-पुरुष के काम म बहुत समस्याएँ और जटिलताएँ पैदा होती हैं।

शृंगार का स्थान

इसलिए शृंगार और आकर्षण से स्नेह प्राप्त करके, उस स्नेह को बनाए रखना और कठिन है। स्त्री-पुरुष का स्नेह केवल शारीरिक मोह से ही पूर्ण नहीं होता। मात्र मानसिक मोह स्त्री पुरुष को शास्त्र की डोरी से बाँध सकता है यह समझना भी अज्ञान है। नैसर्गिक जीवन म यदि प्रेम से दाम्पत्य शुरू हो तो उस दाम्पत्य के करार को स्वीकार करके, बाद म हम स्नेहपूर्वक ही जीवन बितायेंगे कहना सरल है क्या ? यह बात नही कि वह सम्भव नही है, अपितु सम्भव होना कठिन है। भोग स बच्चे पैदा हो ही जाते हैं। पर माता पिता का पूरा प्रेम ‍ प्राप्त होगा ? पिता के बिना और पिता को देखे बिना भी माँ सन्तान प्राप्त कर सकती है। पर तु उस बच्चे की बाढ के लिए विकास के लिए प्रेममय वातावरण अवश्य होना चाहिए। मनुष्य अन्न जीवी है पर सुख के लिए उसे स्नेह जीवी भी होना पडता है।

हित शत्रु

यदि स्वीकार किया जाय कि स्त्री पुरुष के लिए दीर्घकाल का स्नेह आनन्द

है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें आकर्षण और शृंगार हो तो अधिक हितकारी होगा। पर एक क्षण भर का काम मोह, प्रेमिया को क्षण भर के लिए समीप लाए भी तो उतने से ही वह मित्रता दीर्घकाल तक नहीं चल सकती। तात्कालिक मोह को यदि दीर्घकाल तक बनाये रखना है तो स्त्री पुरुष की मनोवृत्ति, आन्तरिक उद्देश्य, स्नेह में मेल होना चाहिए। उनकी शारीरिक मानसिक इच्छाएं भी मिलनी चाहिए नहीं तो विवाह शब्द का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए पाश्चात्य देशों में विवाह विच्छेद की दौड़ लगी रहती है। पति पत्नी का, बच्चों के सामने झगड़ने की अपेक्षा उनका दूर रहना ही बेहतर है। हमारे समाज में दाम्पत्य को विधाता द्वारा बनाया गया मानते हैं।

हमारे यहाँ शुरू में आकर्षण और शृंगार के लिए स्थान ही नहीं होता, आगे भी शायद वह प्रकट न हो। इस विषय की आन्तरिक तृप्ति और अतृप्ति के बारे में विवाहित स्त्री-पुरुष चर्चा ही नहीं करते। स्त्री अधिकतर काम की पूर्ति के लिए शरीर देनेवाली दासी के समान है। उसमें उसके मन का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ मन के लिए स्थान होता भी है वहाँ दोनों के मन की प्रवृत्ति और मनोभाव न मिले तो वहाँ झगड़ा भी हो सकता है। रोज लड़ते झगड़ते एक ही घर में रहते भिन्न शत्रु की भाँति दाम्पत्य जीवन चल सकता है?

इतना सब होने पर भी मन की इच्छा और तन की इच्छा चुप रहेगी? तब इच्छित आकर्षण व विलास दाम्पत्य जीवन से बाहर दीखने लगते हैं या असहज रास्ते पर चलने लगते हैं। यह स्त्री के जीवन में भी हो सकता है। दाम्पत्य जीवन में जब तृप्ति नहीं मिलती तब तन और मन बाहर तृप्ति खोजने लगते हैं। नीति के डर से अवसर के अभाव से, जब वह सम्भव नहीं हो पाता तो मन विपरीत मार्ग अपनाने लगता है। क्रोध, उद्वेग हिंसा प्रियता, अश्लील भाषण और भ्रम आदि के दमन का अन्त होता है। हमारे नित्य जीवन में निसर्ग की सहज मनोवृत्तियों को अवकाश न मिले तो विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं।

समाज में इस प्रकार के दाम्पत्य और भोग-नीतियों के प्रश्न को ध्यान में रखकर ही आगे सोचना पड़ता है। उनको छोड़कर कोई भी नीति व्यावहारिक न होगी केवल किताबी रह जायगी। यदि जबरन उसे थोपना चाहें तो हम उसकी प्रतिक्रिया भुगतनी पड़ती है।

विस्तृत काम

काम शास्त्र में मनुष्य यौवन आने पर विकसित होनेवाली एक शक्ति है। उसका उ... समान और मन ... है। उस काम साधन में शृंगार और आकर्षण सहायक हैं। मानव समाज में ... दाम्पत्य जीवन के लिए यह काम और ... मानव समाज की विभिन्न अभिरुचियों और शारीरिक

मुलाएँ स्त्री-पुरुष के दूर-दूर रहने के कुछ सन्दर्भ, दोस्त या सहेलियों से दूर रहते समय किसी अन्य आवरणों में पनपनेवाले दूसरे प्रसंग, इन सबको ध्यान में रखकर नीति की रूपरेखा बनानी चाहिए। इन बातों की ओर ध्यान दिये बिना थापे गये आदर्श व्यावहारिक नहीं हो सकते।

अप्रकट विरक्ति

कितने संन्यासी और संन्यासिनियों के मठ नहीं हैं! जबरन थोपा गया वैधव्य नहीं है! उनमें रहनेवाले क्या काम दहन कर चुके हैं? मैंने मुख देखकर ही कुछ ऐसे व्यक्तियों का परीक्षण किया है। जैसा कि पहले बताया कि बच्चों के बारे में मैंने जैसे परीक्षण किये वैसे यहाँ भी किये। उनका आदर्श जो चाहे रहे उनके मुख उनके आदर्श चित्रित नहीं करते यह मेरा निश्चित विश्वास है। ऐसे संन्यासी और संन्यासिनियाँ क्या करती हैं यह उनसे पूछकर देखिये।

लगभग बारह वर्ष की खोज, विचार विनिमय और अनुभवों के आधार पर मैं उपर्युक्त निर्णय पर पहुँचा। यह निर्णय मैंने अपने लिए किया है। परोपकार के लिए ब्रह्मचर्य का उपदेश देनेवाले व्यक्ति का भी बारह वर्ष के अन्त में इस निर्णय पर पहुँचना आपको आश्चर्य में डाल सकता है। उसे विशद रूप में बताने के लिए और बारह वर्ष लग सकते हैं। परन्तु अनुभव के आधार पर सही बात कहने के लिए डर की आवश्यकता नहीं। मैंने जो बात पहले कही उसी को सिद्ध करने का हठ भी नहीं है। मुझे अपने में ईमानदार होने की बात ही मुख्य है।

आदर्श बदल गया

इतना मानसिक संघर्ष करने के बाद अपने बारे में निर्णय लेने में मुझे कोई मुश्किल नहीं हुई। शुरू में विवाहित जीवन मेरे दृष्टिकोण से दूर था। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक सेवा में लगे व्यक्ति का यह एक भार भी हो सकता है। मुझे उससे एक सहायता भी मिली। वह यह थी कि निश्चिन्त होकर अपना काम करने और अपनी शक्ति और मन को उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाने में सहायता हुई। एक निष्ठुर आदर्श मेरे सम्मुख होने से ही चाहे मैं कैसे भी मित्रों के साथ रहा चाहे जहाँ भी भ्रमण करता रहा यौवन के सहज शृंगार की बलि होने से बचे रहने में सहायता मिली। ऐसे उद्वेगों के परवश हो जानेवाला मैं, अब उनकी कीमत सा जानने लग गया हूँ पर तब तो मैं उन्हें निन्दनीय समझता था। मेरे सबके मित्रों में तरह-तरह के आदमी थे। नीतिवादी उसका दिखावा करनेवाले नीतिहीन—सब से मेरा परिचय था। इससे मेरे जीवन का पथ बदला नहीं। उस जमाने में ही मैंने ब्रह्मचर्य पर 'जीवन रहस्य' नाम की पुस्तक लिखकर प्रकाशित करायी थी। तब का मेरा जीवन मेरी मानसिक प्रवृत्ति के अनुकूल था।

गांधीजी और रामकृष्ण आदि की रचनाओं के प्रभाव और अन्य प्रभावों से मन का झुकाव तब भगवान की ओर अधिक था। वह एक स्वतन्त्र विषय के रूप में आगे लिखूंगा। यहाँ तो केवल इतना ही कहूंगा कि ऐसी इच्छा के लिए वही जीवन अनुकूल था।

सहचरी का मिलना सरल है?

मेरे उद्देश्य में परिवर्तन आने से पहले लोगों के शादी के लिए मजबूर करने पर भी मैं तैयार न था। यदि मैं तभी स्वीकार कर लेता तो मेरे जीवन का यह रूप न बन पाता। बारह वर्ष की लम्बी अवधि में मेरे पुराने आदर्श बदल गये। विवाह न करने का हठ जाता रहा। ऐसा लगा कि सांसारिक जीवन व्यक्ति के संस्कार के लिए आवश्यक है। यह संस्कार जाति के चाहे बाहर हो या भीतर दीर्घ मित्रता से बनना चाहिए। जीवन पत्नी और बालबच्चों में गुजारना होता है परन्तु उसकी सफलता या असफलता सही सहचरी के मिलने पर ही सम्भव है। ऐसी सहचरी के मिलने तक विवाह की आशा लगाये रहा। आँखें मूंदकर रीति में शरणागत होकर जन्मपत्री मिलाकर विवाह करना मेरे लिए सरल था। पर यह मेरे जीवन की कल्पना के साथ मेल नहीं खाता था। मेरे जीवन की, मेरी बात को समझने की बुद्धि शक्ति मेरी सहचरी में नहीं होनी चाहिए? यह चुनाव कैसे सम्भव था? हमारी समाज में स्त्री-पुरुष को अपने अपने आवरण में जीना पड़ता है। अगर उस सीमा को लाँघें तो निन्दा के शिकार बनते हैं। यह मालूम है कि ऐसी स्थिति में साधारणतः हमारे युवक युवतियों के लिए सरल स्नेह और परिचय के लिए अवकाश ही नहीं है।

मैं शुरू से जाति के बन्धनों को नहीं मानता था। जब से सार्वजनिक काम शुरू किया तब से जातियाँ मेरे मन के रास्ते में बाधा नहीं बन पायें। परन्तु मेरा विचार है कि मत धर्म और संस्कृति हमारी मानसिकता को प्रभावित करते रहते हैं। दूसरे मतावलम्बियों में विवाह करना हितकर नहीं रहेगा। परन्तु हिन्दू समाज में ही मुझे अन्तर्जातीय विवाह में कोई दिक्कत नहीं दिखाई दी।

मेरा संसार क्षेत्र बड़ा विस्तृत था। दोस्तों का दायरा भी बड़ा विस्तृत था। परन्तु उन विषयों में मेरे और उन लोगों के विचारों में काफी अन्तर था। बहुत परिचित मित्रों से भी स्त्रियों के बारे में चर्चा करना कठिन काम था। इस कारण सहचरी बनाने का निश्चय कर लेने के बाद गृहस्थ बनने में तीन चार वर्ष लग गये। तब तक मैं अपने समाज के विचार में परिपक्व हो चुका था। बस अपने विचार में मैं सभ्य मर्द ही था। अन्तर केवल इतना था कि मैं मूछों वाला मर्द था।

पत्रकारिता

स्वप्नलोक से

पिछले एक अध्याय में मैंने खादी प्रचार के साहस और उसकी इतिश्री के बारे में लिखा है। उस प्रयास में मुझ पर कर्ज हो गया था। यह काम बन्द करते-करते मुझे दूसरे काम के लिए अवकाश मिला। कॉलिज छोड़ने के बाद गुजारे गये चार-पाँच वर्ष में मुझे अपने कल्पनालोक और वास्तविकता के साथ काफी संघर्ष करने का मौका मिला। तब मैंने यह जाना कि अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना आशा और अभिरुचियाँ सुदृढ़ आधार प्राप्त नहीं कर सकतीं।

सेवक ?

अब तक मैं यह सोच रहा था कि मैं एक देशभक्त हूँ। 'देश सेवा' जैसी बात बहुत बड़ी चीज है। एक अर्थ में वह सब कुछ लेकर चलती है। दूसरी ओर उससे कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। यह बड़ी बात अर्थ की अस्पष्टता होने से पैदा हुई। क्या उसका यह अर्थ है कि देश की उन्नति यानी अमुक उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए? देश की स्वतन्त्रता—क्या यही एक काम है? राजनीतिक स्वतन्त्रता, साम्प्रदायिकता से मुक्ति, अन्धविश्वासों से छुटकारा, इन सब बन्धनों में फँसी मानसिकता एवं व्यवहारों से मुक्ति—इनमें से कौन-सी बात देश सेवा नहीं है? केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही वह सेवा है? देश जैसी बात ही बहुत बड़ी है। किसी एक गाँव में बैठे व्यक्ति के लिए अपना देश, अपना समाज कूप मण्डूक जैसा ही होता है। हम चाहे जो भी काम करें वह परिचित वातावरण में ही होना चाहिए। हमारे क्रियाकलापों को चलाने के लिए वहाँ ज्यादा मौका नहीं मिलता। मुझ जैसे के लिए वह एक ग्राम हो सकता है। ज्यादा से ज्यादा एक तालुका हो सकता है। अब 'सेवा' शब्द भी मुझे एक आडम्बर ही लगता है। सेवक बनने में दिखावा नहीं है। पर अपने आपको काम में लगानेवाला व्यक्ति कैसा सेवक? वह किसकी सेवा करता है? जब कोई स्वयं को अपने समाज का अंग समझे तो उसमें सेवा की बात ही नहीं उठती है। यह तो ऐसा ही हुआ

जैसे हम अपने घर के काम आप करते हैं। क्या वह सेवा हुई? उस समाज का ही विस्तार किया जाय तो वह देश सेवा होती है। देश स्वतन्त्र होता है तो हम भी स्वतन्त्र होते हैं। उसके लिए किया जाने वाला काम सेवा है? बड़े बड़े शब्दों के मोह में पड़कर हम कई बार अपना कर्तव्य ही भूल बैठते हैं। हम 'सेवा करते हैं' कहना केवल एक झूठे गर्व की बात होती है।

कन्नड-सेवा

मैंने जो एक काम शुरू किया वह कन्नड सेवा थी। कन्नड हमारे घर की भाषा थी। मेरा तुळुनाडु से सम्पर्क भी नहीं था। अपनी भावनाओं को कन्नड में प्रकट करने के सिवा मैं क्या कर सकता हूँ फिर भी एक जमाने में मुझे यह भ्रम था कि मैं 'कन्नड की सेवा' कर रहा हूँ। वह भ्रम भंग होने में काफी दिन नहीं लगे। काम करने के आरम्भ में यह भ्रम होता है। काम करते चलो तो भ्रम अपने आप मिट जाता है। कुन्दापुर में देवण्णा पै नाम के एक मित्र थे। वे एक वकील के मुनीम थे। उन्हें पढ़ने का बहुत शौक था। कई मराठी और बंगाली पत्रिकाएँ मँगवाते थे। मराठी के मासिक मनोरंजन, नवयुग और बंगाली का भारतवर्ष आदि पत्रिकाएँ मँगवा कर पढ़ा करते थे। अगडी की शेषाचल ग्रन्थमाला के भी वे खरीदार थे। मैं कन्नड की पत्रिका 'कादम्बरी' मँगवाता था। उसके और बंगाली तथा मराठी पत्रिकाओं के स्तर में अन्तर देखकर हम दोनों को दुख हुआ। हमें ऐसा लगा कि कन्नड पत्रिका में न तो बाह्य आकर्षण है और न भीतरी आकर्षण। तब मेरी यह इच्छा हुई कि क्यों न एक अच्छी कन्नड पत्रिका शुरू करें। हमने योजना बनाई कि उस पत्रिका में उपन्यास और कहानियाँ भी होनी चाहिए अच्छे लेख होने चाहिए और काफी चित्र भी होने चाहिए। 1924 में हमने यह निश्चय किया कि मेरे सम्पादन में 'वसन्त' नाम की एक पत्रिका शुरू की जाय। सम्पादक शब्द से मुझे बड़ा मोह था। मुझे ऐसा लगा कि चाहे कोई किरण न मिले पर सम्पादक का विरुद मिल जाये तो बड़ा व्यक्ति हो जाऊँगा। मैंने यह काम करना स्वीकार कर लिया। मेरे पास पैसे नहीं थे। देवण्णा पै ने कहा, 'चलो पत्र शुरू कर इस काम के लिए किसी प्रकार चलायेंगे।' दिमाग में विचार उठा। तो हमने वसन्त कार्यालय की स्थापना करके 'वसन्त' मासिक पत्रिका चलाने का निश्चय कर लिया। मेरे और एक मित्र थे बी॰ आनन्द भण्डारी। वे एक स्कूल मास्टर थे। पढ़ाई के नाम पर वे केवल मैट्रिक थे फिर भी हमने भण्डारकर बी॰ ए॰ की उपाधि देकर उन्हें सम्मानित व्यवस्थापक बनाया। सम्पादक बनने के बाद मैं 'हम' बन गया। स्वयं को 'हम' कहने की सम्पादक की गर्व भरी माया मुझ में बाकी बची है।

पत्रिका चलाने के बाद उसमे लेख नही भरने चाहिए ? तब शुरू हुई असली मुसीबत। स्थानीय मित्रों से तकादा कर करके लेख लिखाये। अधिकाश लेख मैं ही लिखता था। पहले दो वर्षों मे 'विचित्र कूट', 'भूत' नाम से दो जासूसी उपन्यास प्रकाशित किये। आज भी उसकी प्रसिद्धि शेष है। कई लोग बहुत दिनो तक 'विचित्र कूट की प्रतियाँ हैं ?' कह कर पत्र लिखते रहे। वह सेक्सटन ब्लेक की कहानियाँ पढने की प्रेरणा थी। उन जासूसी कहानियो मे पता नही मैंने कितनी गोलियाँ चलाइ, कितने कत्ल कराये हैं यह मुझे याद नही। उस समय जसी मनोवत्ति थी वैसी मनोवत्ति वालो को आज भी व कहानियाँ पसन्द आ सकती हैं। परन्तु मैं तो उससे बहुत जल्दी ऊब गया। एक बुजुर्ग श्री उग्राण मगश राय ने मुझसे एक दिन पूछा "ऐसी कहानियो स देश का क्या उद्धार होगा ?" तब मुझे उस प्रश्न के बारे सोचना ही पडा। उन्हीं दिनो 'निर्भाग्य जन्म' नाम से एक सामाजिक उपन्यास लिख कर प्रकाशित किया। तब उस पर मैंने लेखक का नाम नही दिया था।

खाली स्थान पर कविता

पहले दो वष तक तो पत्रिका म किसी प्रकार लख भरे। मेरे गुरु श्री ऐ० शिव रामय्या जी उसके लिए लेख लिखते थे। मैं मजेश्वर गोविन्द पै स कविता लिखने का तकाजा करता था, 'प जी, लखो के बीच म स्थान बच जाता है। उनम कविता हो तो सुन्दर लगगा। मुझे तो कविता की गन्ध तक मालूम नही है। आप एकाध कविता दे दें तो बहुत उपकार होगा।" उन्होन भी एसे सम्पादक पर अभिमान रखकर कुछ कविताएँ भेजी। कुछ दूसरो स लिखवायी। खाली स्थान कविता म पूरा किया। बम्बई, कलकत्ता से रगीन और अन्य चित्र मगवाकर, अपनी पत्रिका की जगह भरा करता था। अग्रेजी की 'शिशिर' मासिक पत्रिका की तरह कार्टून और व्यग्य चित्र मैं खुद लिखता था। कुछ विशेषाक भी निकले। उसम एक सी० आर० दास के बारे म था। पत्रिका मे सत निहाल सिंह के लेख का अनुवाद करके छापने की अनुमति प्राप्त की। बाबू भगवान दास का आशीवाद भी प्राप्त किया। जो भी हो, पत्रिका के प्रथम दो वष बडे सभय स बीते।

ग्राहकों की तलाश मे

पत्रिका का सपादन करने मे श्रम करने से ही काम पूरा हो जाता है क्या ? उस बचना नही चाहिए ? ग्राहक बनाने के लिए मैंने मसूर, बगलूर मद्रास बम्बई, उत्तर कर्नाटक आदि स्थानो के कई-कई चक्कर लगाए। उसम राह खच क लिए

भी पैसे नहीं जुट पाते थे। लोगों के घर जाता तो वे भिक्षुकों के साथ जैसा सलूक करते। 'मुसीबत को टालने के लिए वी०पी० भेज दीजिए' कहते। वी०पी० न लौटा, पर खर्च बेकार जाता। कई बार अगले स्टेशन तक पहुँचने के लिए भी पैसे न हुआ करते थे। तब कोई-न-कोई चन्दादार पेशगी में चन्दा दे देता और मुझे आगे जाने में मदद करता। कई बार ऐसा भी हुआ है। मैं एक बार गदग गया था। वहाँ के एक होटल में ठहरा। हाथ में केवल एक अठन्नी थी। आगे हुबल्ली जाने के लिए पैसे की जरूरत थी। पर होटल वाले को पैसे दिए बिना काम कैसे चलता। होटल छोड़ते समय मैंने पूछा, 'कितने पैसे हुए?' उन्होंने "कोई बात नहीं, जाइए" कहा। उनकी कृपा से मैं हुबल्ली पहुँचा। कई बार इस प्रकार मेरे साथ घटित हुआ है जिसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। साल के अन्त तक हमारी पत्रिका को चार सौ चन्दादार भी नहीं मिल सके। अगले वर्ष के आरम्भ में चार सौ में केवल एक सौ रह गये थे। इन यात्राओं से एक लाभ तो हुआ। हमें अनेक गाँव देखने का अवसर मिला। उससे लेख लिखने के लिए सामग्री मिली।

जातिवादी पत्रिका

दो ही वर्षों में मेरे मित्र हार गये। मैं भी कर्जदार हो गया। मित्र भण्डारी का हमारे लिए परिश्रम करना व्यर्थ गया। उनके पास मेरी ओर से चन्दा प्रदान की गई बी० ए० की डिग्री रह गयी। पत्रिका बन्द करनी पड़ी। बाद में 'अरे आपकी पत्रिका अच्छी थी। आपने उसे बन्द क्यों कर दी?' यह बात पूछनेवाले भी मिले। इसके बाद लगभग तीन वर्ष तक अज्ञातवास में रहा। उसकी कहानी और कभी बताऊँगा। बाद में मैं मंगलूर आ गया। सन 1927 में मेरे भाई रामकृष्ण कारंत वहाँ वकील थे। 'भू-स्वामी और अरण्य' के बारे में काम कर रहे थे। तब वे मद्रास विधान सभा के सदस्य थे। उन्होंने कहा, "मेरे काम में सहायक होने वाली एक पत्रिका चाहिए। अगर तुम यहाँ रह कर पत्रिका चला सको तो शुरू कर दो।" तब मैंने उनसे उसके लिए आवश्यक प्रबन्ध करने की बात कही। उसके बारे में दूसरों से भी परामर्श करके उस पर मद्रास के मित्रों से चर्चा करने के लिए वे मद्रास गये। वहाँ के मित्रों ने भी सहमति दे दी। भैया खुशी-खुशी गाँव लौटे। उनकी [illegible] करने के लिए एक सज्जन मद्रास से बेंगलूर आये। पर वे अपना वचन भूल गये। उन्होंने दूसरी ही एक पत्रिका की नींव रखी। उसे उन्होंने मेरे भाई के मित्र [illegible] को सौंपा। वे उस पत्रिका को ब्राह्मणों के उद्धार के लिए [illegible] चलाना चाहते थे। मद्रास में उन बुजुर्ग मित्र ने पहले कांग्रेस के विरोध में [illegible] के लिए काम किया था। मित्र जी ने मुझसे ही पूछा, 'क्या तुम हमारी पत्रिका की मदद करोगे?' मुझे शुरू से ही ब्राह्मणों से कोई मोह न था। मैं उसके लिए तैयार न हुआ। उन्होंने दूसरा ही सम्पादक

नियुक्त किया। धीरे धीरे मित्र भी उनसे दूर हो गये।

सम्पादकीय द्विज

इससे निराश होने पर भी अपनी 'वसन्त' पत्रिका को फिर से चलाने की इच्छा हुई। मंगलूर में और एक बार 'वसन्त कार्यालय' की स्थापना हुई। वहाँ एक वर्ष तक पत्रिका चलाता रहा। तब पैसे की जिम्मेदारी या यूँ कहना चाहिए कि कर्जे की जिम्मेदारी मेरी ही थी। धर्मप्रकाश प्रेसवाले छापने को तैयार हो गये। पैसा सुविधा के अनुसार दिया जा सकता था। वास्तव में उन्हीं को मालिक कहना चाहिए। पत्रिका देखने में मनोहर थी। अनेक विषयों से उसे भरने का प्रयास किया। अनेक मित्रों ने उसके लिए लेख लिखे। तब जर्मनी में रहनेवाले प० आचार्य से पत्र द्वारा ही परिचय हुआ। वे वहीं से अराजकतावाद पर लेख लिखते थे। मैं इंगलैण्ड के लेबर पार्टी कार्यालय से रूस के बारे में पुस्तकें प्राप्त करके लेख लिखने लगा। चीन से Agnes Smedley नाम की महिला लेख भेजा करती थी। जो भी हो, एक पत्रिका को विषयों से भरना एक कठिन कार्य होता है। ऐसा लगता है कि विषय का अध्ययन करके लिखने का गुण हमारे लोगों में नहीं है। उन्हीं दिनों मेरे भाई वासुदेव ने भारतीय वास्तुकला पर लेख लिखे। उनसे मैं चित्रकला की ओर आकर्षित हुआ। उस विषय का अध्ययन करके मैंने भारतीय चित्रकला पर एक लेखमाला तैयार की। बाद में उसे पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया। उसे देवराज बहादुर निधि का प्रथम पुरस्कार भी मिला। मेजर बसु की Rise of the Christian Power in India के सार को लेख माला के रूप में देने का मन हुआ। उनकी अनुमति प्राप्त करके, 'भारत वर्ष में ब्रिटिश लोग' नाम की लेखमाला प्रकाशित की। उसे भी बाद में मैंने पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। तब 'शूद्रों पर संसार' (बच्चों की दुनिया) नाम का मेरा एक सामाजिक उपन्यास तभी प्रकाशित हुआ। 'वेंबरिग जयवा गलि' (पसीने की विजय हो) नाम से एक नाटक भी प्रकाशित किया। 'वसन्त' में ही मेरा 'कृष्णार्जुन' नाटक प्रकाशित हुआ।

सिद्धवनहल्ली कृष्ण शर्मा ने 'निर्माण्यद बोरगोड' शीर्षक से अर्थशास्त्र सम्बन्धी एक लेखमाला दी। और भी कई मित्र मेरे सहायक हुए। फिर भी ऐसा लग रहा था कि पत्रिका के लिए पर्याप्त लेख नहीं मिल रहे हैं। कठिनाई यह थी कि लिखने वालों को पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं था। चन्दादाता की संख्या भी बढ़ी नहीं, तीन सौ पर ही खतम हो गयी। तब एक सचित्र पत्रिका चलाना कैसे सम्भव था?

कृतिचौर

उन दिनों मैं और भी एक-दो कटु अनुभव हुए। हमारे लेख किसी विषय पर

अच्छी तरह पढ़कर लिखने का कष्ट नहीं उठाते। वे केवल यश चाहते हैं। यश भी जो आसानी से मिल जाय। कृतिचौर्य से ही उसे प्राप्त करनेवालों की संख्या ज्यादा रहती है—अल्पमति सम्पादक को वह मस समय में आये? उसे इस बात का भी ध्यान नहीं रहता कि ऐसे लेखकों को छापकर वह भी उस चोरी में सहायक बनता है। मेरी पत्रिका को, पहले ही वर्ष में एक महाशय ने 'भीष्म की भयानक भूल' नाम का एक लेख भेजा। वह युक्तिपूर्ण था। उसमें यह तर्क था कि भीष्म के विवाह न करने से ही महाभारत युद्ध हुआ। उस लेख की प्रशंसा में एक-दो मित्रों ने पत्र भी लिखे। पर एक मित्र ने यह लिखा कि वह मराठी के 'भीष्मांचे भयंकर भूल' का अनुवाद है। और एक बार एक लेखक ने 'कट्टू रोहिणी सबनार दलित' नाम का एक नाटक दिया। मैंने उसे भी प्रकाशित किया। कईयों ने उसकी प्रशंसा की। कुछ समय के बाद पता चला कि वह मराठी पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित 'काहे सर्पचि नरत' नाटक का अनुवाद है। वहाँ का 'रोना पत' यहाँ 'नरशय्या' हो गया था।

कन्नड में आजकल कृतिचौर्य खूब जोरों पर है। प्रायः अंग्रेजी से और हिन्दी पत्रिकाओं से चोरी होती है। कन्नड़वाले राष्ट्रभाषा से स्फूर्ति पाकर अपने नाम पर उसे कन्नड में छपवा देते हैं। इस प्रकार चोरी बार-बार प्रकट हो जाती है। एक बड़े साहित्यकार ने चेखव की कहानी को अपना बताया था। उसके कन्नड के अनुवाद से उसका दोष कम प्रकट हो गया। इसी प्रकार एक ग्रन्थ में एक लेखक ने Will Durant की Mansions Philosophy में एक अध्याय का अनुवाद करके, अपने नाम से निकाल दिया। एक लेखक मित्र ने 'Sixth Beatitude' कहानी को 'छठा स्वर्ग' या 'सातवाँ स्वर्ग' नाम से अनुवाद करके अपने नाम से प्रकाशित किया। और एक ने 'सवन की बनाव' कहानी को अपनी कहकर प्रकाशित कराया। इस तरीके से अपनी पत्रिकाओं को भरने से बड़ा अपमान देश के लिए और क्या है। इस बार में मुझे और एक व्यक्ति की याद आती है। एक महान साहित्यकार का ग्रन्थ साहित्यिक स्पर्धा में प्रथम स्थान पाता देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। उस बार मैं एक कहानी प्रतियोगिता का निर्णायक था। उसमें भी उसे प्रथम स्थान मिला। बाद में मुझे पता चला कि यह कन्नड में एक बड़े लेखक की कहानी का रूपान्तर है। यह बात मैंने साहित्य परिषद के अध्यक्षीय भाषण में कहा। उस भाषण को सुनकर वह लेखक मुझसे झगड़ने लगा। उस विषय में लिखने का काम मैंने पी० डी० जा० पर छोड़ दिया। उन्होंने लिखा कि इस चोरी पर हम कम से कम यह तो बताना ही चाहिए कि हम लिख रहा है। हमारे उन महान साहित्यकार का यह काम न्याय नहीं हुई। उन्होंने पत्रिकाओं में भी विरोध किया। उनका विचार रहा होगा कि प्रतिष्ठित लेखक के सम्मान में प्रतियोगिता की आवश्यकता नहीं होती।

हमारी 'वसंत' का पुनर्जन्म तो हुआ लेकिन दो वर्ष तक ही चल सकी। उससे और भी कर्ज बढ़ गया। यह विचार स्वाभाविक रूप से उठा कि जब पाठक ही नहीं है तब भला पत्रिका किसके लिए निकाली जाय। इसलिए उसे बन्द कर देना पड़ा। 'वसंत' नाम की वह मासिक पत्रिका मेरे वैभव की स्मृतियों में से एक है।

कभी समाप्त न होने वाली आशा

आज भी मेरा मन पत्रिका चलाना चाहता है। नुकसान से भी उसे चलाने का उत्साह है। जब विदेशी पत्रिकाओं को मँगवा कर पढ़ता हूँ तब कन्नड की पत्रिका-जगत का दारिद्र्य अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। हमारे सम्पादकों में अध्ययन और विद्वत्ता दोनों पर्याप्त मात्रा में दिखाई नहीं देते। ऐसा लगता है कि वे इस अनुभव के लिए अपवाद हैं। अलग अलग विषयों के लिए समर्पित पत्रिकाएँ भी नहीं हैं और सामान्य पत्रिकाएं भी नहीं हैं। 'कन्नड की सेवा के लिए पत्रिका चला रहे हैं, लेख भेजिए' इस अधिकार से लिखनेवालों की संख्या ही ज्यादा है। एक दो ही लेखकों को पारिश्रमिक दे पा रहे हैं। परन्तु अपने लिए आवश्यक लेख हेतु नोटिस भेजनेवाले सम्पादक ही ज्यादा हैं। उनका विचार है कि लेखक एक अक्षयपात्र है उसे तो किसी चीज की जरूरत नहीं होती। एक विशेषांक निकालकर सिने जगत् की चार तारिकाओं के फोटो और सिनेमाओं की चर्चा करने से उन्हें पैसे मिल जाते हैं और पत्रिका चलाना भी सम्भव हो जाता है। और कुछ तो जन्म से ही सर्वज्ञ होते हैं। दुनिया के ज्ञान की आँख और कान खोले बिना ही बड़ी बड़ी बातें लिखने लग जाते हैं। चार लोगों की निन्दा करके पत्रिका की प्रसिद्धि करने की घटिया पत्रकारिता भी सिर उठा रही है। अच्छी पत्रिकाओं से अच्छी अभिरुचि पैदा करने की इच्छा कितनों में है? उस इच्छा से परिश्रम करने का मन कितनों में है? फिर भी हमारा देश बड़ा है, पत्रिकाएँ भी बड़ी हैं। आत्म विमर्श से मुँह मोड़कर ऐसा बड़प्पन रखने वालों की कमी नहीं है इस देश में।

अपने पास आनेवाले लेखों की सही जाँच करने, अपनी आवश्यकता के अनुसार सहायता पाने के लिए सम्पादक में आवश्यक संस्कार, अभ्यास और विद्वत्ता नहीं होनी चाहिए? अपने पत्रिकोद्यम से मैंने यह अनुभव किया कि मैं अभी अबोध विद्यार्थी ही हूँ। उस उद्यम से तो कोई यश प्राप्त नहीं हुआ।

परोक्ष लाभ

पत्रिका व्यवसाय में यश प्राप्त नहीं हुआ। पर विषय भरने के लिए जो अभ्यास करना पड़ा उसमें मेरे भीतर कुछ अभिरुचियाँ अपने आप जागी। उसके साथ फोटोग्राफी की ओर भी मेरा मन गया। इसके अतिरिक्त मेरा प्रधान काम ऐन्द्रजालिक-वृत्ति उसी से पुष्ट हुई। मैंने एकदम शुरू में जादूगरी उद्योग में कदम रखा।

लघु साहित्य

मेरी कन्नड़ पत्रिका तो रुक गयी। पर पत्रकारिता वहीं नहीं रुकी। उसके बाद भी मैं लेखन व्यवसाय करता रहा। मंगलूर में 'स्वदेशाभिमानी' का सम्पादन कई वर्षों तक मेरे मित्र वामन कुडुव करते रहे। उन्होंने पहले मेरी पत्रिका के लिए कुछ लेख लिखे थे। बाद में मैंने भी उनकी पत्रिका के लिए लेख लिखे। उन लेखों में कुछ वास्तविक और कुछ काल्पनिक व्यक्ति चित्र अधिक रहे। देहज्योति नाम से या किसी और उपनाम से कुछ लेख लिखे। 'चिक्क दोड्डवरु' (छोटे-बड़े) लेखमाला भी उसी में प्रकाशित हुई। ज्ञान के सारे अध्याय उसीमें प्रकाशित हुए। और भी ऐसे ही कई लेख प्रकाशित हुए। उस सम्पादक को सहायता देने हेतु मैं भी कभी-कभी सम्पादकीय लेख लिख देता था। आगे चल कर कुछ समय तक स्थानीय राजनीति पर समीक्षा-लेख लिखता रहा। यूरोप की राजनीति पर भी कुछ लेख लिखे। लगभग तीन वर्ष तक उस पत्रिका के साथ मेरा निकट का सम्बन्ध रहा। बाद में मुझसे प्रत्येक सप्ताह लिखना सम्भव न हो सका, पर बीच बीच में उसके लिए लिख दिया करता था।

मैं जिन कन्नड़ पत्रिकाओं के लिए लिख रहा था उनकी अपेक्षाएं ऊंची नहीं थीं। ऐसा लगा कि सब को हल्के फुल्के लेख चाहिए। वास्तव में मेरी रुचि उनमें कम थी। विषयों के अध्ययन में ही ज्यादा रुचि थी। इस के लिए मुझे अंग्रेजी पत्रिकाएं पढ़नी पड़ती थीं।

अंग्रेजी पत्रिकाओं में

यदि मैं यह कहूँ कि मेरी अंग्रेजी अपने ढंग की थी तो गलत नहीं होगा। फिर भी मैं अंग्रेजी में लिखा करता था। कर्नाटक से बाहर जाने पर अंग्रेजी में भाषण देना पड़ता था। इसलिए लिखने से डरता नहीं था। मुझे लगता था कि विषय मुख्य है, भाषा कभी भी बाधा न हो। मैंने मद्यपान पर एक लेख लिखा था, जो अमरिका की 'एशिया' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। उसके पारिश्रमिक के रूप में तीन डालर चालीस डाक से मिले। लेख के अनुसार पारिश्रमिक 'इलस्ट्रेटेड वीकली' से भी मिलता था। अधिकांश पत्रिकाओं में लेख तो स्वीकृत हो जाते पर पारिश्रमिक नहीं मिलता था। यदि मिलता भी तो वह बहुत कम। कलकत्ता की एक पत्रिका ने मुझ से कई लेख लिखवाये। वैसे देने का वायदा भी किया। पर देते समय उनसे हुआ नहीं दिया गया। हिन्दू पत्रिका ने एक बार पांच-पांच सौ पृष्ठों की दो पुस्तकों की समीक्षा करायी। उस सौदे में भी कारण आने लगे हुए। मेरी लेखा तो के पारिश्रमिक के रूप में मनिआर्डर का कमीशन काटकर एक रुपया दस आने मिले अर्थात् मेरा पारिश्रमिक कमीशन आने रहा। उनका लेखा जोखा तो

इंच और सेंटीमीटर पर चलता था।

पहले मैं 'बम्बई क्रानिकल' नाम के वीकली को भी लेख भेजा करता था। अन्तिम एक घटना के बाद से मैंने उसे लेख देना बन्द कर दिया। 'मलेकुडियर' जीवन के बारे में मैंने एक लेख लिखा। उनके पहाड़ी स्थान में गया। आठ दिन वहाँ रहा। उनके फोटो लिये। बाद में लेख तैयार करके भेजा। उसके प्रकाशन पर उन्होंने चित्र और लेख पर केवल आठ रुपये दिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पत्रकारिता से धन कमानेवालों को खाल उधेड़ने के लिए ऐसे लेखक ही उपयुक्त व्यक्ति हैं जो प्रायः दूसरे देशों के लेखकों के लेखों की चोरी करके ही अखबारों को भरते हैं। ऐसे काम करने वाले को सौ, दो सौ देने से काम चल जाता है। दूसरों के परिश्रम को वे महत्त्व नहीं देते। हमारी कन्नड की हालत तो और भी खराब है। कन्नड में लिखनेवाले को केवल सेवा के लिए लिखना पड़ता है। एक बार लिखकर यदि उसने आगे लिखना बन्द कर दिया तो साथ में झिड़कियाँ भी खानी पड़ती हैं। मुफ्त में लिखते समय जितनी आपकी प्रशंसा होती है उसे बन्द करने के बाद उतनी ही निन्दा भी होती है। बेंगलूर की एक प्रगतिशील पत्रिका ने इस बार में मुझे सबक भी सिखाया। फिर भी मेरा विश्वास है कि देश की पत्रिकाएं और लेखक भूख की सीमा लाँघकर सुखद जीवन बिता सकेंगे। आज पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई है। अतः लगता है कि सम्पादक अपनी अभिरुचि का विकास करेंगे और जनता से सम्पर्क स्थापित करके पत्रिकाओं के द्वारा ज्ञान प्रसार कर सकेंगे, करना भी चाहिए।

यहाँ भी हम एक विषय का परिशीलन कर सकते हैं। हमारी पत्रिकाओं का, खासतौर पर साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं का कलेवर बढ़ा है। लेखकों की संख्या भी बढ़ रही है। ऐसा भी देखने में आया है कि अपने गाँव के स्कूल में पढ़े रहनेवाले व्यक्ति ने भी 'अर्जेंटीना के पेड़' के बारे में लेख लिखा है। आठवीं तक पढ़े लिखे लड़के भी साहित्य, विज्ञान पर लेख लिखकर भेजने लगे हैं। ऐसे लेखकों का समुदाय बढ़ रहा है। उनमें कुछ के लिए कतिचोय मुख्य वृत्ति बन चुका है। सम्पादक से ऐसा अन्धा नहीं हो सकता। परन्तु मुफ्त में मिलने वाले लेख मन में तब भी खुशी ही होती है। इन अवाञ्छनीय परिस्थितियों के कारण अपनी योग्यता से लिखनेवालों को प्रोत्साहित करने वाले बहुत कम हैं।

रंगमंच

नाटक से समाज सुधार

'वसन्त' का शुरू करते ही मुझे कुन्दापुर छोड़ना पड़ा। चाहे कांग्रेस का काम हो या पत्रिका का, वहां रहते हुए आगे नहीं चल पा रहा था। इसी बीच पत्रिका के लिए चन्दा देने वालों की खोज में और ब्रह्मचर्य के बारे में भाषण देते हुए गांव-गांव भटकने वाले मुझे इस परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। मुझमें एक नयी अभिरुचि पनपी हुई। मैंने एक-दो नाटक लिखे थे। उनके मंचन के लिए प्रयत्न कर रहा था। यह अभिरुचि विद्यार्थी काल में ही अंकुरित हो गई थी। विद्यार्थी काल समाप्त होने तक मैंने किसी नाटक में भाग नहीं लिया था। अपने बम्बई के प्रवास काल में मैंने जो मराठी नाटक देखे उनके कारण नाटकों में अभिरुचि बढ़ी। कला की दृष्टि से उनके बारे में अलग से ही लिखूंगा। यहां कम्पनी के नाटकों और उनसे सिद्ध होनेवाले प्रयोजन के बारे में लिखूंगा। गडकरी के मराठी नाटक 'एक प्याला' का कन्नड़ में अनुवाद करने की इच्छा हुई। एक मराठी भाषी को पास बिठाकर उसका अर्थ समझ कर अनुवाद पूरा किया। शराब के दुष्परिणाम दिखाने वाले उस नाटक में दुखान्त नाटक के सभी लक्षण थे। अनुवाद का नाम मैंने 'निजा महिमे' रखा। तब से मुझे मराठी पढ़कर समझना सरल हो गया। महाराष्ट्र के रंगमंच पर उन दिनों सामाजिक नाटकों का जोर था। तभी मन में यह विचार आया कि क्या नाटक सुधार का साधन नहीं बन सकता? इसलिए मैंने अपने नाटक को रंगमंच पर लाने का प्रयत्न किया। कई विद्यार्थियों और मित्रों को [illegible] में 'निजा महिमे' के मंचन की तैयारी की। उसमें मैंने [illegible] के मित्र [illegible] की भूमिका की। उस नाटक में [illegible] के विरुद्ध [illegible] देशपाण्डे [illegible] था। उसका पात्र शराब से दूर रहने वाले मेरे एक [illegible]। उस [illegible] राष्ट्रीय परिषद् के सम्मेलन के अवसर पर [illegible] मंचन करने का निश्चय हुआ। पर इसी बीच हमारे हैड मास्टर [illegible] ने अपने विद्यार्थियों को बुलाकर यह आदेश दिया कि नाटकों

में अभिनय करने में नीच काम और कोई नहीं। इससे मेरे काम में बाधा पड़ी। मुझे गुस्सा आया। मैंने उन्हें कहला भेजा, 'नाटक तो जरूर खेला जायगा। अगर आपके विद्यार्थी न मिले तो मैं गाँव के पाचकों से अभिनय करा लूंगा।' वे चुप रह गये। उनके विद्यार्थियों को लेकर ही मैंने नाटक खेला। वह संगीत नाटकों का जमाना था। एक वार्तालाप और एक गीत की आवृत्ति होती थी। मैं जब स्वयं अभिनय करने लगा तब यह महसूस हुआ कि भावों के प्रवाह में गीत से बाधा पड़ती है। मुझे लगा कि गद्य नाटक ही श्रेष्ठ है।

व्यावसायिक लोगों से परिचय

उन्हीं दिनों अथवा कुछ पहले हमारे गाँव गदग के गुरुड सदाशिवराव की नाटक कम्पनी आयी थी। नाटकों से समाज सुधार हो सकता है इस बारे में वे लम्बे चौड़े भाषण झाड़ा करते थे। तभी मुझे पहली बार नाटकों से सम्बन्धित लोगों का जीवन देखने का अवसर मिला। उनके जीवन और समाज सुधार में कोई समता दिखायी नहीं दी। पर मुझे यह आशा अवश्य थी कि नाटकों से समाज सुधार हो सकता है। उस व्यवसाय के लोगों का ही सुधार करें तो उनके द्वारा समाज सुधार हो सकता है। यह पागल कल्पना मेरे मन में बलवती हो उठी। सन् 1925 में मगलूर की एक नाटक कम्पनी हमारे गाँव आयी। पहले बताये श्री रा—के भाई उस कम्पनी में थे। मेरा उनसे और दूसरे लोगों से परिचय हुआ। उस परिचय से जहाँ जहाँ नाटक मण्डली ठहरती वहाँ वहाँ मैं भी जाता। उसी नाटक कम्पनी को अपना एक नाटक देकर तयार कराया।

सुधार असम्भव

वे मेरे नाटक को तयार करके खेलने लगे। बाद में अपना नाटक 'सती संयुक्त' उनसे खिलवाया। इस काम से मुझमें अभिनय में भी अभिरुचि उत्पन्न हुई। परन्तु उस व्यवसाय के लोगों को सुधारने की आशा में उनके साथ बहुत दिनों तक सम्पर्क रखने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। उन्हें सुधारना, उनके द्वारा समाज को सुधारना एक सपना सा ही लगा। एक बार उसके लिए बहुत प्रयत्न किया। वही कम्पनीवाले जब 'कोन्नेगाल' गये तो वहाँ उन्हें पैसे की कमी पड़ गयी। तब वहाँ के मगलूर के एक मित्र ने आश्वासन देते हुए कहा, "अगर आप प्रबन्ध का ढंग बदलें तो मैं पैसा उधार दे सकता हूँ।" मैं जब गया था तब मेरा उनसे परिचय हुआ था। उन्होंने कहा "अगर आप इसकी जिम्मेदारी लें तो मैं पैसा दे दूंगा।" मुश्किल के समय कोई पैसा दे दे कम्पनीवालों के लिए यही बहुत था। मैं उनका मित्र था। मुझ पर उन्हें विश्वास था। वे अपने गाँव की कम्पनी की सहायता करना चाहते थे। इसके अलावा उनका और किसी प्रतिष्ठान की आशा

न थी। उनके पक्ष के कारण कम्पनी मेरे नाम पर हो गयी। कर्ज उतरने तक मैंने उनके लिए कम्पनी का प्रबंध सम्भाला। कम्पनी कोल्लेगाल से येलदूर गयी। जाते ही मैंने कम्पनी के सूत्र अपने हाथ में ले लिये। नये नाटकों का अभ्यास शुरू कराया। फालतू कलाकार हटा दिये। नयी योजनानुसार सही कलाकारों की खोज में उत्तर कर्नाटक का कोना-कोना छान आया। बीजापुर में हुलसिगी के मेरे एक मित्र श्री पी० धूला को भी इसी प्रकार का एक भ्रम था। वह मुसलमान था। हम दोनों की बड़ी मित्रता थी। मेरे लिहाज से वह मेरे साथ हो गया। उसकी सहायता से मैं उत्तरी कर्नाटक से कुछ कलाकार चुनकर ले आया। जब यह सब कुछ हुआ तब अधिकार का सूत्र अपने हाथ से खिसकते देखकर कम्पनी के पुराने मालिक को दुख हुआ। कम्पनी और भी दो-तीन गाँव गयी। तब उन्होंने महसूस किया कि उनकी इच्छा और रंगढंग में मेरी उपस्थिति एक बाधा है। ऐसे अविश्वास के वातावरण में मेरी कोई आशा पूर्ण नहीं होगी यह निश्चित था। उनके रंग ढंग सुधारने की कठिन मुश्किल में लगी थी। मैं कम्पनी जिस ढंग से चलाना चाहता था, उसमें उन्होंने सहयोग नहीं दिया। मुझे लगा कि ऐसी परिस्थिति में मेरा कम्पनी छोड़ देना ही ठीक है। इसलिए जिन्होंने कम्पनी का भार सौंपा था उन्हीं को उसे वापस सौंपना पड़ा। उस नाटक कम्पनी से मुझे थोड़ा सा अंश पैसा मिलना था उसे लेने का भी मन नहीं रहा। वहाँ से चला आया।

कुन्दापुर में ग्रन्थ तथा मासिक पत्र से जो कर्ज हो गया था वह भी मेरी प्रतीक्षा में था। उसके साथ यह निराशा भी मिल गयी। फिर भी नाटक द्वारा समाज सुधार का भ्रम नहीं गया। इसलिए मैंने यह सोचना शुरू किया कि मेरे लोगों के सहयोग से मैं ही क्यों न एक संस्था खड़ी करूँ। यह स्वप्न बहुत दिनों तक मेरे दिमाग में चक्कर काटता रहा।

भालू मामा

रायचूर नाटक कम्पनी जब चन्नपट्टण में थी तब उसे छोड़कर दावणगेरे में एक मित्र के पास जाने का निश्चय किया। उस समय घटी एक घटना बताता हूँ। चन्नपट्टण से चलते समय मेरे पास कुल दो रुपये भर थे। उस संस्था से मुझे बहुत नफरत हो गयी थी। इसलिए मेरी यात्रा के समय वे जो पैसे देने आये थे भी मैंने स्वीकार नहीं किये हालाँकि मेरा ही पैसा उनकी तरफ था। खाली हाथ ही निकल पड़ा। रास्ते में एक परिचित मिला, उसका भी रेल का भाड़ा मैंने ही दिया। गुण अपनी सीमाओं का पता था। मुझे दावणगेरे तक का टिकट खरीदना था पर मेरे पास बीरूर तक के पैसे ही बचे थे। किराये से अति रिक्त वजन का भार था। चाहे जो हो सोचकर मैं रेल में बैठ गया। मैं बीरूर पहुँच गया। बस आगे अभी मुझे पचास मील और जाना था। मेरे पास एक थैला,

एक एलयुमिनयम का लोटा और दो आने थे। उन दो आनों में से एक आना मैंने अपने प्रिय भोजन के लिए खर्च किया। चने खरीदकर पानी के लोटे में भर लिये। बीरूर में गाडी से उतर कर पैदल दावणगेरे के लिए चल पड़ा। बीरूर से चार मील आगे निकल आया। वहाँ कुछ बच्चे खेल रहे थे। वे मेरी आकृति और रूप को देख कर, मुझे 'भालू मामा' 'भालू मामा' कहकर पुकारने लगे। मुझे भी हँसी आ गयी। कई बार बच्चों के साथ खेलते समय यही बात याद आने पर मैंने अपना नाम भालू मामा बताया है।

दान से नुकसान नहीं

धूप में चलते हुए अज्जमपुर नाम का गाँव पार करके दोपहर के बाद दो बजे मैं शिवनी स्टेशन पहुँचा। मैंने वहाँ नाश्ता किया। वहाँ के स्टेशन मास्टर ने "आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं?" आदि बातें पूछीं। तब मैंने क्या जवाब दिया आज याद नहीं। एक घण्टे बाद आयी मिक्स्ड गुड्स ट्रेन में बिठाकर उन्होंने मुझे दावणगेरे भेज दिया। गाड़ी में बैठकर मैंने हिसाब लगाकर देखा कि मैंने जो पैसे दिये थे और मेरी जो मुफ्त यात्रा हुई, उसका किराया बराबर था। शायद वह बारह-तेरह आने का हिसाब था।

मुसाफिर

आगे की यात्राओं में मेरा और भी कई नाटक मण्डलियों से परिचय हुआ। मेरे मन में उन के प्रति कोई गौरव न होने पर भी किसी सपने में बहककर मैंने अपना कुछ समय उनके साथ बिताया।

लगभग सन् 1925 से अगले दो-तीन वर्ष उद्देश्यहीन घूमता रहा। नया कार्यक्षेत्र नहीं चुना। पुराने क्षेत्र में कोई काम जमा नहीं। कर्ज की चिन्ता मुझे खाये जा रही थी। मन को कुछ सूझा। कर्ज की याद बनाये रखने के लिए एक निशानी रख कर घूमने लगा। दाढ़ी बनाना छोड़ दिया। दाढ़ी खूब बढ़ गयी। उससे मेरी आयु बीस वर्ष अधिक लगने लगी। वे मेरे बड़े कष्ट के दिन थे। नाटक के प्रशिक्षण से जो थोड़े बहुत पैसे मिलते उनसे मैं गाँव-गाँव घूमता रहा। मैंने अपने प्रदेश का कई बार चक्कर लगाया। मेरे एक मित्र की पत्नी जब भी मुझे देखती तो 'कारंत के पाँव में चक्र है।' कह कर मज़ाक किया करती जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता। उन दिनों मेरा जीवन संयम का था। अपना खाना मैं आप पकाता था। उसका स्वाद अपने ही ढंग का होता था इसलिए मैं ही खा सकता था। गेहूँ, दूध, मूँगफली और चने यही मेरे मुख्य खाद्य पदार्थ थे। अपने घुमक्कड़पन का चित्र खींचने से पहले नाटकों में सुधार का भ्रम कैसे छूटा, यह मैं बताऊँगा।

[illegible] का जट्टप्पा

[illegible] नाम का एक [illegible] है। वहाँ के जट्टप्पा [illegible] की [illegible] नाटक कम्पनी से परिचय हुआ। जट्टप्पा मेरा बहुत [illegible] मित्र बन गया। मैं कई महीने उनके साथ रहा। उन दिनों महाभारत का अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर [illegible] की कथा पर आधारित एक नाटक लिखा। [illegible] में थी, तब प्राणी दया संघ के एक मित्र की प्रेरणा से [illegible] नाम का एक नाटक लिखा था। उसे जट्टप्पा की कम्पनीवालों ने खेला। विजयनगर साम्राज्य के समय का एक नाटक खेलने की उनकी बहुत इच्छा थी। मैंने Sewell's Forgotten Empire नाम की पुस्तक पढ़कर तीन अंकों का एक नाटक लिखा। उसका नाम 'विजय नगर का सूर्य' रखा। उसमें मैंने दिखाया कि विद्यारण्य के समय में सूर्य का उदय होता है और कृष्णदेव राय के समय में उसकी कीर्ति आकाश को छूने लगती है। रामराय के काल में वह डूब जाता है। यह नाटक रंगमंच तक पहुँचा ही नहीं। उन्हीं दिनों अपनी माँ के प्रतिबंध के कारण मैंने एक और पुस्तक आरम्भ की। उसे भगवान पर अखण्ड विश्वास था। मेरी उन दिनों की मनोवृत्ति भी उसके अनुकूल थी। रामकृष्ण परमहंस धार्मिक गुरु थे। आज भगवान और धर्म के बारे में मेरे विचार बदल गये हैं। पर रामकृष्ण के प्रति गौरव की भावना जा नहीं सकती। इसीलिए मैंने उनकी जीवनी का सौ पृष्ठों में अनुवाद किया। जब घर गया तो वह अनुवाद माँ को पढ़कर सुनाया। नाटक कम्पनी में काम करने पर भी मैं अलग समय निकाल कर [illegible] करता था। नाटक का प्रशिक्षण देने मैं रोज वहाँ जाया करता था। मैं उनका तालीम मास्टर था। उन्हें अभिनय सिखाना मेरा काम था। मैं जो कुछ सिखाता उसे समझने की शक्ति उन नटों में नहीं थी। उस जमाने में अच्छे गलेवाले ही नट कहलाते थे। गाने के अलावा उन्हें कुछ और आता ही न था। यहाँ तक कि कई पढ़ना लिखना भी नहीं जानते थे। ऐसे नटों को लेकर अभिनय कला में क्या सफलता मिलती? जट्टप्पा जी तब मुझसे बीच बीच में कहा करते [illegible]

म भी अल्पप्राण और महाप्राण ज, च श, य, स, ट का विपरीत उच्चारण कर डालते। रंगमंच पर रंगटन पर भी उनकी जबान ठीक से घूमने वाली नहीं थी।

जट्टप्पा की एक आदत मुझे बहुत पसन्द थी। वह जिस गाँव में जाता वहाँ कभी कर्ज नहीं लेता था। जस भी हो अपने गाँव जाकर अपने एक मित्र से उधार-सुधार लेकर कम्पनी चलाया करता। वह कपटी नहीं था। बहुत ईमानदार था। पर जल्दी गुस्से में आ जाता था। उसका सरल स्वभाव अनगढ़ हीरे जैसा था। उसे कोई बीमारी लग गयी थी। उसके मरने से दो महीने पहले गाँव में उससे भेंट हुई थी। वही उसके अंतिम दर्शन थे।

जिन्ना से पहले के

हलगेरी नाटक कम्पनी जब दावणगेरे में थी तब की एक घटना सुनाता हूँ। वह नाटक कम्पनी खाडिलकर के 'राक्षसी महत्त्वाकांक्षा' का अनुवाद खेल रही थी। दावणगेरे के मुसलमानों को आकर्षित करने के लिए उन्होंने मूल नाटक का नाम 'खूबसूरत बला' उर्दू अक्षरों में जगह-जगह बोर्ड पर लिखवा दिया। उसका परिणाम उल्टा ही हुआ। गाँव के कुछ मुसलमान उनके पास आये, "अरबी लिपि हमारी है। आप लोगों ने हिन्दू होकर उसे क्यों लिया?" कहकर उन्होंने सारे बोर्ड उतरवा दिये।

दावणगेरे में मराठी बोलनेवाले काफी संख्या में हैं। एक बार उन्होंने मुझे शिवाजी पर भाषण करने को बुलाया था। भाषण के एक मास के भीतर ही वहाँ भी हिन्दू-मुसलमान दंगे की नौबत क्यों आनी थी?

गुब्बी वीरण्णा

मेरी एक और परिचित कम्पनी गुब्बी वीरण्णा की थी। जब वह कम्पनी मंगलूर आयी तब मंगलूर ट्रेनिंग कॉलिज के विद्यार्थियों ने मेरा 'सती संयुक्ता' नाटक उनके थियेटर में खेला। वहीं से मेरा और वीरण्णा का परिचय आरम्भ हुआ। उन्होंने मेरा 'गदायुद्ध' नाटक खेलने का लिया। तीन चार महीने उसका अभ्यास भी किया। पर बीच बीच में कलाकार बदलते रहे इस कारण वह नाटक रंगमंच पर आया ही नहीं। मुख्य पात्र दुर्योधन की भूमिका ही अनेक बार बदली गयी। उसे भलप्पा (दिवंगत) को निभानी थी। उसने कम्पनी ही छोड़ दी। बाद में कन्नड़ सिने जगत के प्रसिद्ध अभिनेता सुब्बय्या नायडू (दिवंगत) को अर्जुन की भूमिका का अभ्यास कराया। दुर्योधन के अभिनय के लिए वीरण्णा का ही अभ्यास कराया। उन्होंने अपना सारा समय हास्य अभिनेता के रूप में बिताया था। कम्पनी की दुनिया को नया रूप देने के लिए अपनी सारी शक्ति उसी में खर्च कर दी

हलगेरी का जट्टप्पा

राणबेन्नूर के पास हलगेरी नाम का एक गाँव है। वहाँ के जट्टप्पा (बड़ा) की श्रीहालसिद्धेश्वर नाटक मण्डली से परिचय हुआ। जट्टप्पा मेरा बहुत अच्छा मित्र बन गया। मैं कई महीने उसके साथ रहा। उन दिनों महाभारत का एक अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर गदायुद्ध की कथा पर आधारित एक नाटक लिखा। जब वह मण्डली दावणगेरे में थी तब 'प्राणी दया संघ' के एक मित्र की प्रेरणा से 'गो माता' नाम का एक नाटक लिखा था। उसे जट्टप्पा की कम्पनीवालों ने खेला। विजयनगर साम्राज्य के समय का एक नाटक खेलने की उनकी बहुत इच्छा थी। मैंने Sewel's Forgotten Empire नाम की पुस्तक पढ़कर तीन दृश्यों का एक नाटक लिखा। उसका नाम 'विजय नगर का सूर्य' रखा। उसमें मैंने दिखाया कि विद्यारण्य के समय से सूर्य का उदय होता है और कृष्णदेव राय के काल में उसकी कीर्ति आकाश को छूने लगती है। रामराय के काल में वह सूर्य डूब जाता है। वह नाटक रंगमंच तक पहुँचा ही नहीं। उन्हीं दिनों अपनी माँ के प्रति श्रद्धा के कारण मैंने एक और पुस्तक आरम्भ की। उन्हें भगवान पर अखण्ड विश्वास था। मेरी उन दिनों की मनोवृत्ति भी उसके अनुकूल थी। रामकृष्ण परमहंस मेरे आदर्श गुरु थे। आज भगवान और धर्म के बारे में मेरे विचार बदल तो गये हैं पर रामकृष्ण के प्रति गौरव की भावना जा नहीं सकती। इसीलिए मैंने उनकी जीवनी का सौ पृष्ठों में अनुवाद किया। जब घर गया तो वह अनुवाद माँ को पढ़कर सुनाया। नाटक कम्पनी में काम करने पर भी मैं अलग कमरा लेकर रहा करता था। नाटक का प्रशिक्षण देने भर को वहाँ जाया करता था। मैं उनका तालीम मास्टर था। उन्हें अभिनय सिखाना मेरा काम था। मैं जो कुछ सिखाता उसे समझने की शक्ति उन नटों में नहीं थी। उस जमाने में अच्छे गलेवाले ही नट बनते थे। गाने के अलावा उन्हें कुछ और आता ही न था। यहाँ तक कि उनमें कई पढ़ना लिखना भी नहीं जानते थे। ऐसे नटों को लेकर अभिनय कला में सफलता कैसे मिलती? जट्टप्पा जो तब गुस्से बीच बीच में कहा करते, 'मास्टर जी, बिना दण्ड के उन्हें विद्या नहीं आयेगी। अगर आप मारने से हिचकते हैं तो मैं इस काम के लिए एक आदमी देता हूँ। उसके हाथ में चाहे चाबुक थमाइए या डंडा।' अगर समझा नहीं तो वह अपना काम करने लगेगा। तभी जाकर ढंग को [illegible]। ऐसी मनस्थिति के स्तर तक [illegible] पहुँचना सम्भव था? उनकी तालीम [illegible] रही। [illegible] के एक प्रसिद्ध हास्य कलाकार के [illegible] शुरू किया। वह महाकवि कालिदास के रूप में रंगमंच पर आता और अपना भाषण [illegible] किया। "[illegible] इसको माँ की [illegible] [illegible] [illegible] पर [illegible]। उसके [illegible] इतने बढ़िया थे! [illegible]

म भी अल्पप्राण और महाप्राण ज, च श, य, ल, ड का विपरीत उच्चारण कर डालते। रेगमार से रगडने पर भी उनकी जबान ठीक से घूमने वाली नहीं थी।

जट्टप्पा की एक आदत मुझे बहुत पसन्द थी। वह जिस गाँव में जाता वहाँ कभी कर्ज नहीं लेता था। जैसे भी हो अपने गाँव आकर अपने एक मित्र से उधार सुधार लेकर कम्पनी चलाया करता। वह कपटी नहीं था। बहुत ईमानदार था। पर जल्दी गुस्से में आ जाता था। उसका सरल स्वभाव अनगढ हीरे जैसा था। उसे कोई बीमारी लग गयी थी। उसके मरने से दो महीने पहले गाँव में उससे भेंट हुई थी। वही उसके अंतिम दर्शन थे।

जिन्ना से पहले के

हलगेरी नाटक कम्पनी जब दावणगेरे में थी तब की एक घटना सुनाता हूँ। वह नाटक कम्पनी खाडिलकर के 'राक्षसी महत्वाकांक्षा' का अनुवाद खेल रही थी। दावणगेरे के मुसलमानों को आकर्षित करने के लिए उन्होंने मूल नाटक का नाम 'खूबसूरत बला' उर्दू अक्षरों में जगह जगह बोर्ड पर लिखवा दिया। उसका परिणाम उल्टा ही हुआ। गाँव के कुछ मुसलमान उनके पास आये, "अरबी लिपि हमारी है। आप लोगों ने हिन्दू होकर उसे क्यों लिखा ?" कहकर उन्होंने सारे बोर्ड उतरवा दिये।

दावणगेरे में मराठी बोलनेवाले काफी संख्या में हैं। एक बार उन्होंने मुझे शिवाजी पर भाषण करने को बुलाया था। भाषण के एक मास के भीतर ही वहाँ भी हिन्दू-मुसलमान दंगे की नौबत क्यों आनी थी ?

गुब्बी वीरण्णा

मेरी एक और परिचित कम्पनी गुब्बी वीरण्णा की थी। जब वह कम्पनी मंगलूर आयी तब मंगलूर ट्रेनिंग कॉलिज के विद्यार्थियों ने मेरा 'सती संयुक्ता' नाटक उनके थियेटर में खेला। वहीं से मेरा और वीरण्णा का परिचय आरम्भ हुआ। उन्होंने मेरा 'गदायुद्ध' नाटक खेलने का लिया। तीन चार महीने उसका अभ्यास भी किया। पर बीच बीच में कलाकार बदलते रहे इस कारण वह नाटक रंगमंच पर आया ही नहीं। मुख्य पात्र दुर्योधन की भूमिका ही अनेक बार बदली गयी। उसे भल्लप्पा (दिवंगत) को निभानी थी। उसने कम्पनी ही छोड दी। बाद में कन्नड सिने जगत के प्रसिद्ध अभिनेता सुब्बय्या नायडू (दिवंगत) को अर्जुन की भूमिका का अभ्यास कराया। दुर्योधन के अभिनय के लिए वीरण्णा का ही अभ्यास कराया। उन्होंने अपना सारा समय हास्य अभिनेता के रूप में बिताया था। कम्पनी की दुनियाँ को नये ढंग के लिए अपनी सारी शक्ति उसी में खर्च कर डाली

थी। लेकिन मुझे ऐसा लगा कि उनमें गम्भीर अभिनय करने की क्षमता है। इसके लिए मैंने स्वयं उन्हें कुछ अभ्यास कराया और पाया कि उनमें सब प्रकार के रसों को चित्रित करने की शक्ति है। मुझे यह देखकर दुख हुआ कि एक गम्भीर कलाकार अपना सारा जीवन अर्थहीन भूमिकाओं में ही नष्ट कर रहा है। उन दिनों (1930) में उनके पास दो-दो कम्पनियाँ थीं। खूब आमदनी थी। कलाकारों के लिए लंगर चलता था। उन दिनों वे अपने कलाकारों को जितना वेतन देते थे उतना सारे कर्नाटक की रंगभूमि में और कोई नहीं देता था। परन्तु उनमें उन दिनों तीन सौ रुपये महीना वेतन पाने वाले कलाकार भी असंतुष्ट थे। उन्हें खुद की कम्पनी खोलकर पैसेवाला बनने की लालसा थी। ऐसे कई कलाकार खुद की कम्पनियाँ बनाकर डूबे भी। एक अभिनेत्री को सात सौ रुपये महीना देनेवाले गुब्बी में थे। उन्होंने लोगों को खुश करके अपना सम्मान बनाये रखा। एक कम्पनी चलाने की जितनी शक्ति उनमें थी उतनी दूसरों में नहीं थी। उस कम्पनी में रह-रहकर उनके बेटों को काम दिया देखकर मैं बहुत दुखी हुआ था। "पैसे के लालच में आप बच्चों का भविष्य बिगाड़ रहे हैं।" इस आशय का एक पत्र मैंने उन्हें लिखा था।

उस नाटक कम्पनी के लोग हर गुरुवार को भजन किया करते थे। सबसे बड़ी विशेषता यह कि सभी के सभी संगीत जानने वाले थे। उस भजन में [illegible] गुरप्पा सदा बेला बजाया करते थे।

भजन के समय उनका बेला बजाना अच्छा लगता था। परन्तु आस पास बैठे भजनीकों का जाँघ पर हाथ मारकर ताल देना और भजनों का खण्ड खण्ड करके उनका गाना मुझे बहुत अखरता था। तब मुझे गांधीजी के साबरमती आश्रम का शान्त वातावरण याद आ जाता था।

गुरु समर्थ

सन् 1930 के लगभग मंगलूर में 'गुरु समर्थ नाटक मण्डली' नाम से एक कम्पनी खुली। उनके लिए विजयनगर के साम्राज्य की कहानी पाँच अंकों में लिखकर दी। उसका नाम 'कटारी भैरव' रखकर उसका मंचन भी कराया। वे लोग काफ़ी समय तक उसका मंचन करते रहे।

छोटे-छोटे नाटक

इस अवधि में मैंने पाँच अंकों के कई नाटक लिखे। कुछ तो समाज सुधार के लिए लिखे गये थे और कुछ अभिनय कौशल के प्रदर्शन के लिए।

इस तरह लिखे गए करीब [illegible] नाटकों में 'दृश्यांकुर' [illegible] प्रकाशित हुए। [illegible] उनमें 'निरुद्योगी', 'कौन गुरु बड़ा', 'उद्यानों

कंघन', 'विजयदशमी', 'बादल बिजली', 'गो माता' आदि के नाम याद हैं। 'विजयदशमी' एक बड़ा नाटक था। महल के प्रदर्शन से लेकर गरीबी तक का चित्रण उसमें हुआ था। नाटक की कथा के अंत में विजयदशमी की शोभायात्रा के सामने से एक गरीब का शव निकलने का अभिनय किया जाता है। बाद में सुना कि जिस वर्ष मैंने यह नाटक लिखा उसी वर्ष मैसूर की विजयदशमी की शोभायात्रा के समय ऐसी ही एक दुखद घटना हो गयी थी।

कला की पृष्ठभूमि

नाटकों के द्वारा सुधार का मेरा भ्रम कैसे टूटा यह कहने के बाद यह अध्याय समाप्त करूँगा। व्यावसायिक नाटक मण्डलियों का जीवन पास से देखने के बाद, उनसे सुधार हो सकता है यह आशा बाकी नहीं रही। उन्होंने भी दूसरों के समान ही इस जीविका का एक साधन मात्र समझा था यद्यपि उनमें कुछ की संगीत में अभिरुचि थी और अभ्यास भी किया था। किसी भी कला को भली प्रकार प्रकट होने में कलाकार का अपना संस्कार प्रमुख होना चाहिए। उसके संस्कार का आधार है इस जगत का ज्ञान और अनुभव। भले ही वह सामान्य कलाकार क्यों न हो, विविध पात्रों का अभिनय करने के लिए उन मूल व्यक्ति के जीवन की कल्पना तो होनी ही चाहिए। चाहे रोना हो या हँसना या और किसी रस को अभिव्यक्त करना हो, एक ही तरह दूसरा नहीं करता। गली-गली आवारा घूमने वाले का गुस्सा और दुर्योधन जैसे व्यक्ति का गुस्सा समान नहीं होता। दुर्योधन उच्च संस्कारों में पला होता है। उसका वर्चस्व उसके क्रोध के ढंग में व्यक्त होना चाहिए। क्या एक ही व्यक्ति हर परिस्थिति में रोने या हँसने समय एक ही जैसा रोयेगा या हँसेगा?

पौराणिक नाटक खेलनेवाले हमारे कलाकारों में प्राचीन काल की हमारी संस्कृति की कल्पना नहीं होनी चाहिए? सामाजिक नाटक खेलना भी सरल नहीं। विविध स्तरवाले जन जीवन के भीतर घुसकर देखनेवाली आँखों को ही अभिनय करने का रास्ता दीखता है। ऐसी चीज़ें पढ़कर समझी जा सकती हैं, पर पढ़े लिखे कलाकार कम ही होते हैं। पढ़ने की आदत हमारे कलाकारों में बहुत कम है। संकुचित वातावरण और संकुचित ज्ञान के कारण समाज-सुधार की बात वे समझ ही नहीं सकते। एक और बात हमारे उपदेश और हमारे जीवन में अगर कोई सम्बन्ध न हो तो हमारी बात की कोई कीमत नहीं रहती। हृदय से निकलने वाली बात ही हृदय को छू सकती है। मुझे ऐसा नहीं लगा कि ऐसा हृदय व्यावसायिक कलाकार के पास हो सकता है। वह तो उनमें हो ही नहीं सकता। चार दिन के मनोरंजन के लिए नाटक खेलने वाले नाटकप्रेमियों में भी मैंने यह बात नहीं देखी।

अपनी कम्पनी

कभी मुझे ऐसा लगता था कि मुझे अपनी ही एक मण्डली बनाकर यह काम करना चाहिए। आमतौर पर मेरे लिखे नाटक मेरे व्यावसायिक कलाकारों को पसन्द नहीं आते थे। वे सदा यही कहा करते थे कि हमारी कम्पनी के लोगों के लायक नाटक लिखिए। रोज़ कम्पनी छोड़कर चले जानेवाले कलाकारों के हिसाब से नाटक लिखता? इसके अलावा उनकी आँखें सदा कलेक्शन पर लगी रहतीं। हास्य और बहुत मज़ाक, लोगों को आश्चर्यचकित करनेवाले रंगों की तड़क-भड़क और ट्रांसफर सीन नाटक में हों तो उनका काम चल जाता था। नाटक में आदि से अन्त तक संगीत होना चाहिए। स्त्री कलाकार होने ही चाहिए। स्त्री कलाकार रहें तो लोग पैसे देकर नाटक देखते हैं। पुरुष कलाकारों के पास चिल्लाने भर को गला हो तो काफ़ी था। ऐसे में मेरी कौन-सी आशा पूरी होनेवाली थी? मैंने कुछ एमेच्योर संस्थाएँ भी देखी थीं। वहाँ भी कला पर श्रद्धा या जीवन की पवित्रता देखने को नहीं मिली। ऐसा होने पर भी मैं केवल अपने पागलपन के लिए मंगलूर के एक नेता से सहायता लेकर एक नाटक कम्पनी बनाने चला। उसके लिए बैंगलूर से पूना तक घूमकर आया। महाराष्ट्र के बालगंधर्व से भी मिला। उन कम्पनियों के पास गया। मेरे नाटक के लिए गुब्बी वीरण्णा ने जो पैसा दिया था वह सब इसमें उड़ गया। अन्त में हाथ खाली हो जाने पर चुपचाप बैठ गया।

अनुराग का परदा

बैंगलूर में रहते (1927-30 में) अपने कुछ मित्रों के साथ मिलकर मैंने एक दो नाटक गढ़े। यह काम करते समय मैंने देखा कि कला और प्रचार में बहुत अन्तर है। भावुकता में बहकर किसी एक बात से अनुराग हो जाता है तब नाटककार पात्र के मुँह से वही बात कहलवाना चाहता है। उन नाटकों में हमारी भावना में ईमानदारी भी हो और कथा का प्रसंग नाटक के उपयुक्त भी हो फिर भी पात्रों का निर्माण वास्तविक नहीं हो सकता। प्रत्येक पात्र को उसके ही दृष्टिकोण से देखकर उसका निर्माण करने में और अपनी आँखों से देखकर उसका निर्माण करने में अन्तर है। समय के अनुसार विषय जनप्रिय होते हैं। उदाहरण के लिए अस्पृश्यता निवारण, खादी प्रचार, मद्य का विरोध, बालविवाह का विरोध इत्यादि। इन विषयों में भावुकता की कमी नहीं। सो लोग तालियाँ बजाते हैं। इस विषय को मन्दिरों के द्वार की मुक्ति के प्रश्न को उठाएँ तो वे नाटक प्रगतिशील हो जाते हैं। [illegible] कथा के अंग नहीं बन सकते। प्रचार भर हो सकता है। कला [illegible] एक प्रश्न का विवेचन करता है तब उस के सब कारण जाननेवाले व्यक्तियों को [illegible] चित्रित करना चाहिए। ताकि नाटक देखनेवाले उस बारे में

अपना ही निर्णय कर सकें। नाटक में नाटककार यदि अपने पूर्व निर्णय के अनुसार रंगभूमि पर इन नमूने प्रस्तुत करें तो वह नाटक नहीं हो सकता।

समस्या नाटक

मंगलूर में आकर बसने के बाद मेरा मोलहल्लि शिवराय से परिचय हुआ। हमारे जिले में ऐसा कोई न था जो उन्हें न जानता हो। उनके बारे में विस्तार में आगे लिखूंगा। तब (1928 29 में) वे पुत्तूर तालुक बोर्ड के अध्यक्ष थे। उनके अधीन कई हायर सेकेण्डरी पाठशालाएँ थीं। उनके स्कूल के बच्चे सभी प्रकार में कार्यक्रमों में भाग लेते थे। एक बार उन्होंने अपने स्कूल के बच्चों के द्वारा समस्या नाटक कराने की इच्छा प्रकट की। मैंने उनके लिए दो नाटक लिखे। एक वर्ष उनके स्कूल के बच्चों ने मेरा 'डोमिंगो' नाम का एकांकी नाटक अभिनीत किया। दूसरे वर्ष मेरा ही 'साक्षिर मिलिया' नाटक खेला। पहले वाले नाटक में एक हरिजन और ब्राह्मण लड़के की दोस्ती की कहानी थी। दूसरे में एक पियक्कड़ की कहानी थी। सात-आठ स्कूल के बच्चों ने उस नाटक का अभ्यास किया और अपनी क्रिसमस की छुट्टियों में अलग अलग गाँवों में, अपना सामान सिर पर ढो कर ले जा कर वह नाटक दिखाया। इस प्रकार उन नाटकों को दस-बारह दिनों की छुट्टियों में उन सात आठ स्कूलों के बच्चों ने पचास-साठ गाँवों में जाकर उसे प्रदर्शित किया।

आगे एक बार शिवराय की मित्रता से मैंने पुत्तूर के तैंतीस गाँवों का भ्रमण किया। उस भ्रमण का उद्देश्य गाँवों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना था। चार मास के अपने प्रवास में मैं जिन गाँवों में गया वहाँ तीन-तीन दिन गुजारे। अपने साथ चार-पाँच युवकों को लेकर नाटक का सामान ढोकर ले गया और नाटकों के प्रदर्शन भी किये। तब मैंने 'हणेबरह' (भाग्य का लेख) नामका नाटक भी लिखा। उसमें भाग्य पर विश्वास रखने वाले एक व्यक्ति की कहानी थी। मेरा दूसरा एकांकी नाटक था 'अदु इदु' (आज कल)। इन दो दिन खेलने और तीसरे दिन गाँववालों से ही यक्षगान करवाते थे। यह कहना चाहिए कि नाटकों के द्वारा प्रचार करने का मेरा प्रयोग यहीं समाप्त हो गया। वह अंतिम प्रयास था।

बाद में मैंने नाटक के अलग-अलग भेदों के प्रयोग किये। इसलिए नाटक के बारे में मेरी कल्पना और दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा।

घुमक्कड़ जीवन

हलगली में

यहाँ मैं अपनी कुछ यात्राओं की कहानियाँ बताना चाहता हूँ। यात्रा यदि सामान्यतः बनानी हो तो कोई-न-कोई अभिरुचि या उद्देश्य होना चाहिए। दूसरों के यहाँ रोटी तोड़ना ही उद्देश्य नहीं होना चाहिए। पहले से ही मैं घुमक्कड़ था। [illegible] के [illegible] के समय मैंने कई गाँव देखे थे। उससे अलग-अलग प्रान्त की कन्नड़ जनता के जीवन का परिचय हुआ था। एक बार मैं बीजापुर ज़िले के हलगली गाँव गया। वहाँ पूना चन्दमल्ल बाफना आदि मित्र थे। मेरा तो हमेशा कन्नड़ ज़िले से सम्बन्ध था। सदा अकालपीड़ित बीजापुर का परिचय कहाँ होता? वहाँ तो पेड़-पौधे बहुत नाम भर के लिए थे। जब मैं वहाँ गया तब मेरी आँखें धूप से जलने लगीं। हलगली इसका अपवाद नहीं था। वहाँ के घरों का क्या कहना! मधुमक्खी के छत्ते के समान एक-दूसरे से सटे थे। चारों ओर धूल का साम्राज्य था। लगता था मानो गाँव का गन्दगी से निकट का सम्बन्ध है।

मैं वहाँ नागपंचमी के दिन गया था। पूना साहब के बड़े भाई गाँव में थे। मैं उन्हीं के यहाँ जाकर ठहरा। मेरे लिए आवश्यक मूँगफली और दूध का उस गाँव में अभाव नहीं था। उस दिन शाम को एक गौड़ा के घर के सामने नागपंचमी [illegible] के लिए गाँव के सभी लोग इकट्ठे हुए। पहली बार मैंने उत्तर कर्नाटक के [illegible] का सौन्दर्य देखा। उस गाँव में किसी ज़माने में छोटा नाटक [illegible] कवि हुआ था। उसकी 'लावणी' उस गाँव के रामचन्द्र नाम के कलाकार ने गाकर सुनाई। उसके बाद ही एक मुसलमान शायर ने जोरों [illegible]। [illegible] के लोग। हलगली के रसिकों की कथाएँ अभिमन्यु की [illegible] आदि [illegible] एक के बाद एक [illegible]। [illegible] 'जिस [illegible] बिना [illegible] कोई नहीं' [illegible] को दिया। उस [illegible] को जिसने [illegible] मुसलमान [illegible] के लिए [illegible]

नही लगा। अब्दुल करीम जैसा उत्तर हिंदुस्तान का ऐसा कौन-सा मुसलमान गायक है जो 'मेरे कन्हैया जमुना तीर,' 'मेरे तो गिरधर गोपाल' आदि भक्ति के गीत गाने में हिचकिचाता है ? कला के राज्य में मत और द्वेष का दखल नही होता, वैसे ही हलसगी गाँव के जीवन मे हिंदू मुसलमान पूरी तरह घुल मिल गये थे। आज इन साम्प्रदायिक झगडो को देखने से लगता है कि हमारे नेता ही राजनीतिक स्वार्थ के लिए सौहार्द के दूध के प्याले में विष घोल रहे हैं। रामचन्द्र की लावणी सुनने हिंदू मुसलमानो का उस दिन का मिलाप मेरी याद में बहुत दिनो तक बना रहा। मैंने आगे एक बार उन्हें अपने गाँव बुला कर, उनकी लावणी सुनी थी। एक बार उनसे हमारे स्कूल के लडको को सिखाने का प्रबन्ध भी हुआ था।

नविलरु (मोरगाव)

हलसगी गाँव की याद आने पर उस गाँव के मोरो को मैं कभी भूल नहीं सकता। उस गाँव के पास एक नाला है। उसके पास नीम के पेडो का झुरमुट है। सन्ध्या को सैकडो मोर वहाँ आकर इकट्ठे होते हैं। उनकी बोली का क्या कहना ! एक बार जब मैं उस गाँव गया उस दिन खूब काले बादल घिर आये थे। तब मोरो का मस्त नृत्य देखकर मैं मुग्ध हो उठा था। उसी याद में मैंने एक बार 'मेघ-मयूर' नृत्य की संयोजना की थी। उस हलसगी को मैंने अपने एक उपन्यास में भी याद किया है।

निसर्ग का मोह

मैंने शुरू-शुरू में जो प्रदेश देखे उनमें उत्तर कन्नड ही मुख्य है। हमारे जिले के सौंदर्य की वह बराबरी कर सकता है। उस प्रान्त के भटकल के पास समुद्र के किनारे के टीले पर खडे होने पर जो दृश्य दीखता है वह अनुपम है। कारवार के समुद्र का किनारा, बीच के पहाड प्रत्येक निसर्गप्रिय को मोहित करते हैं। मलनाड के सब से आकर्षक स्थान को मैंने कई बार देखा है। वहाँ के सारे झरने मनमोहक हैं। शरावती नदी के किनारे बैठ भोजन पकाकर खाया है और उसकी रेत में सोता हूँ। पहाड की शीतल छाया तथा जामुनी रंग की काई को देखकर प्रसन्न हुआ हूँ। एक बार पैदल थे। यह नदी पार करने का मन हुआ। वहाँ के बडे-बडे पत्थर लाँघकर, पानी में उतरकर दूसरे किनारे तक जाने की इच्छा हुई। पत्थरो पर से छलाँग लगाकर पानी में उतरकर उसे पार करने का प्रयत्न किया। बहुत दूर तक साहस करने के बाद, अन्त में किसी एक चट्टान पर भागा सा ठाठें मारता पानी। उसके वेग को देखकर डर गया। उसमें मैं बच गया यही बडी बात थी। धडकने दिल से और आधा घण्टा के श्रम के बाद होटल लौटा। तब सोचा कि ऐसे पागलपन के काम में हाथ नहीं डालना चाहिए।

बादामी

हाथ में कमरा लिए हलबिड, अब्लु, तंजावूर, बेलूरु आदि सब देख आया हूं। शिल्प और वास्तुकला के मोह के कारण ऐसे स्थानों की स्मृतियां कभी मिट नहीं सकतीं। और एक बार मित्र धूला को साथ लेकर बादामी बनशंकरी देख आया। चालुक्यों की उस राजधानी में अब कुछ मंदिरों के अलावा कुछ भी नहीं बचा है। वह प्रदेश चारों ओर से चट्टानों से घिरा है। सदा धूप भूनती रहती है। व्यक्ति चाहे कितना भी थका-मांदा क्यों न हो, बादामी गुफाओं के भीतर जाते ही शीतलता पाने लगता है। वहां के जैन मंदिर हमारे देश के गौरव की वस्तु हैं। वहां शिल्पकला ही नहीं, वास्तुकला के भी उत्कृष्ट नमूने हैं। प्राचीन चित्रकला के अवशेष भी वहां मिलते हैं।

वास्तुकला में ममता

एक बार मैं हुनगुंद गया और वहां से पैदल ही ऐहोल गया। वहां के कई भग्न मन्दिर देखे। ई० बी० हावेल ने पट्टदकल्लु, ऐहोल को 'हिंदु मंदिरों का पालना' कहा है। यह बात बहुत सटीक है। ऐसी जगहें देखते समय न मुझे थकान लगती है न भूख-प्यास। एक मात्र चीज भरकर देख लेने की आतुरता रहती है। पांच कोस पैदल चलकर ऐहोल पहुंचा था और उसे देखने के बाद 'पट्टदकल्लु' की चल पड़ा। रास्ते में छाया नाम भर को भी नहीं थी। धूप और धूल यही वहां की साथी रहीं। चाहे जहां तक चला, किसी गांव या घर द्वार का अता-पता नहीं। पीने का पानी का भी भरोसा नहीं। ऊपर से धूप आंखें चौंधियाने का काम उपस्थित करती है। धरती पर के पहाड़ सरोवर में पड़े पहाड़ों से दीखते हैं। यह सब देखता पानी के बदले पानी की छाया पीता हुआ पट्टदकल्लु पहुंचा। घमंडे की [illegible] नदी पार करके ही उस गांव पहुंचा था। सबसे पहले मैं विरुपाक्ष मंदिर देखने गया। वहां बना-बना मंदिर चालुक्य काल की वास्तुकला की [illegible] था। पास ही दूसरा पापनाथ मन्दिर है। एक ही स्थान पर [illegible] और उत्तर भारत के मंदिरों के नमूने यहां दिखाई दे जाते हैं। लगता है कि [illegible] के मंदिर हैं। विद्वानों का मत है कि यहीं से उत्तर भारत का [illegible] स्थापत्य हुआ होगा। यहीं से चालुक्य वास्तुकला का विकास हुआ और [illegible] में फैल गया। मन्दिरों को [illegible] शांत हो [illegible] था। वहां [illegible] का मन [illegible] लौट आया। भूख और थकान [illegible] पत्थर [illegible] भूल गया। उस गांव की [illegible] [illegible] उस गांव में बना [illegible] हुए घर [illegible] दिखाई पड़ते थे। [illegible] की अपना स्थानों की महत्ता अधिक है।

मुझ अपरिचित को देखते ही भौंकने लगे। आखिर डरता डरता चौपाल आ पहुँचा। मुझमें तब यह देखने की शक्ति नहीं रह गयी थी कि उस गाँव में कोई होटल भी है या नहीं। बहुत थक गया था। किसी तरह सो जाना चाहता था। मुझे यह भी ध्यान नहीं आया कि भूखे लटने पर नींद नहीं आयेगी। तभी वहाँ एक सज्जन आये। पूछने लगे, "तुम कौन हो? कहाँ से आये हो?" फिर उन्होंने ही मुझे जबरन अपने घर ले जाकर दूध और रोटी दी। इतने वर्ष बीत जाने पर भी उनकी करुणा और आतिथ्य की याद कभी भूल नहीं सकता।

मैंने कई बार हम्पी के खण्डहर देखे हैं। जब पहली बार गया था तब वहाँ के एक साहूकार से परिचय हुआ था। तब उनकी लडकी से मेरे एक मित्र की शादी हुई थी इसलिए कमलापुरम में भोजन की सुविधा रही। कुछ परिचित मित्र थे। वहाँ तीन दिन रहकर हम्पी और आनेगुंदि आदि स्थानों को छान मारा। उस हम्पी का विस्तार—वहाँ के पहाड़, उजड़े मंदिर भग्न मूर्तियाँ सब के सब कर्नाटक की आज की दुरावस्था का प्रदर्शन करते हैं। उसे देखकर सोचता हूँ कि एक अरण्य को विजयनगर की राजधानी भला क्या बनाया था। हम्पी रामायण की याद अवश्य दिलाता है। बन्दर के झुण्ड ही सब से पहले यह याद दिलाते हैं। बाली की गुफा के भीतर जाना चाहता था, पर चिमगादड़ों की दुर्गन्ध के मारे घुस न सका। और यह पम्पा सरोवर! आज उससे तो हमारे गाँव का गन्दा-गन्दा तालाब भला। सारा जल काई और कमल के फूल-पत्तों से ढँका पड़ा है। राम के जाने के बाद यहाँ मच्छर बस गये होंगे अब वे मलेरिया का प्रचार कर रहे हैं। त्रिपुण्ड्रधारी एक मित्र ने, "बाली के जलने की जगह भी यहीं है" कहकर राख भी दिखायी। और क्या चाहिए था पुण्य कमाने को! उस भग्न हम्पी को देखकर लगा कि जब नागरिकता ही तहस नहस हो जाती है तो भला नगरों की क्या बिसात! राज्य वैभव की क्या बिसात! उसके आगे मर कर भस्म होनेवाले मानव की क्या बिसात!

साबरमती में

आमतौर पर जब मैं किसी यात्रा पर जाता हूँ तो वहाँ के कैसा सुन्दर स्थान देखकर आ जाता हूँ। उस सन्ताप को कुछ समय तक उदासी करता रहता हूँ। फिर आने पर फिर चल पड़ता हूँ। बम्बई में सुन्दर रूप में वास्तुकला के लिए प्रसिद्ध स्थान देखा ही जाता था। और तब एक बार बादामी गुफाओं से प्रेरित हुआ मैं अजन्ता की यात्रा पर चल पड़ा। उन दिनों विद्यार्थी से मेरा मन हुआ था। गांधीजी का अनुयायी होने के कारण मुझे साबरमती स्थान की इच्छा हुई। पहले बम्बई गया। वहाँ से बड़ोदा पहुँचा। सारा दिन बड़ौदा में घूमकर काटा। फिर वहाँ से रेल से अहमदाबाद गया। स्टेशन पर उतरकर जेब में हाथ डाल कर देखा तो खरीदा हुआ टिकट ही गायब था। पता नहीं कहाँ गिरा दिया था।

गोधा गेट पर जाकर टिकेट चेकर से कहा, 'मेरा टिकट गिर गया है।" उसने पूछा, 'उसे खरीदने की याद है?' बड़ौदा में इतने पैसे देकर खरीदा था। नड़ियाद में उसकी चेकिंग हुई थी। पता नहीं आगे क्या हो गया?' मेरी यह बात सुनकर उसने फिर पूछा 'कहाँ जाना है?' "साबरमती' मैंने कहा। उसने "जाइए" कह दिया। उसने सोचा होगा कि गांधीजी के पास जानेवाला यह व्यक्ति झूठ नहीं बोलेगा। वहाँ आश्रम में सिद्दय्या गोडा नाम के एक सज्जन थे। उनके नाम पर मैं एक परिचय-पत्र ले गया था। उनके साथ आश्रम में भोजन के लिए भी गया। वह मेरे लिए परिचित, बिना नमक का भोजन था। उन दिनों गांधीजी और कस्तूरबा आश्रम में ही थे। उनके प्रिय मगनलाल गांधी वहाँ की उद्योगशाला की देखभाल करते थे। मैंने वहाँ कुछ दिन रहकर रुई धुनने का काम सीखा। आगे वर्षों बाद (1980 के लगभग) साबरमती से अपने गाँव पहुँचकर तहसीलदार के पद से निवृत्त हुए सिद्दय्या गोडा से मंड्या में भेंट हुई।

भजन

आश्रम के क्रमबद्ध जीवन को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रातःकाल चार बजे सब जाग जाते। उठकर गांधीजी के निवास के सामने के आँगन में इकट्ठे होकर भजन करते थे। पहले कुछ संस्कृत श्लोकों का पाठ होता। कोई भक्त कविता की कुछ पंक्तियाँ या कुछ भजन गाता। सब शांत होकर सुनते। तभी मैंने नरसिंह मेहता का लिखा गांधीजी का प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिये' सुना। भजन होने के बाद सब मिलकर रघुपति राघव कीर्तन करते। बाद में गांधीजी गीता के कुछ श्लोकों की व्याख्या करते। बड़ा प्रशांत था वहाँ का वातावरण। भजन करना हो तो मन से करना चाहिए। संगीत प्रदर्शन से क्या लाभ? शाम के सात बजे प्रार्थना [illegible] भजन [illegible] चलता। शाम का भोजन तो छह बजे से पहले ही समाप्त हो जाता था।

आश्रम के समीप ही पुराने राष्ट्रीय विद्यालय की इमारत है। जब मैं वहाँ रहा तब वह खाली था। वहीं समीप एक बड़ा पुस्तकालय है। अध्ययन करने के लिए बहुत अच्छा शांत वातावरण है। जितने दिन मैं आश्रम में रहा [illegible] पूरा [illegible] करता। गांधीजी भी कभी [illegible] हँसते हुए उधर से आते जाते थे। एक दिन मैं अहमदाबाद [illegible] गया। वहाँ कुछ [illegible] का एक मित्र था। उसके साथ जाकर एक पुरानी मस्जिद [illegible] मस्जिद [illegible] और [illegible] बड़ी सुन्दर थी।

[illegible]

आश्रम के [illegible] सिद्दय्या गोडा से परिचय हुआ

था। इसी प्रकार कुछ और लोगों से भी दोस्ती हो गयी थी। उनमें एक तमिलनाडु के सुब्बय्या थे। एक दिन गांधीजी ने उन्हें बुलाकर गत वर्ष उन्हें सम्भालकर रखने दी गयी मच्छरदानी के बाँस माँगे। पता नहीं सुब्बय्या ने उन्हें कहाँ रख दिये थे। उन्हें वे मिले ही नहीं। इस लापरवाही के लिए गांधीजी ने उन्हें सजा दी कि सारी रात उनके पलंग के पास बैठकर उन्हें मच्छर भगाने होंगे। यह देखकर लगा कि कई बार गलती पर सजा देने में गांधीजी से अधिक क्रूर और कोई नहीं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि स्वयं उनसे भी गलती हो जाती थी तो अपने लिए भी वे उतने ही कठोर और निष्ठुर हो जाते थे।

जब मैं वहाँ था तब एक चीनी भिक्षुक वहाँ आया था। गांधीजी हर रविवार को मौन व्रत रखते थे। उसने भी छह मास का मौन रखा था। श्री एंड्रूज का मुझे प्रथम साक्षात्कार वहीं हुआ। वे खादी की धोती कमीज पर हैट लगाकर आये थे। सफेद दाढ़ीवाले उस बूढ़े को देखने की इच्छा मुझे कई दिनों से थी। मन में जब से शांतिनिकेतन जाने की लालसा उठी थी तभी से उन्हें देखने की इच्छा बनी हुई थी। गांधी जी और एंड्रूज के बीच वार्तालाप सुनने में बड़ा आनन्द आता था। लगभग पन्द्रह दिन साबरमती में गुजारने के बाद मैं वापस कर्नाटक चल पड़ा।

अजन्ता को

सन् 1916 ई० में लगभग हमारे गाँव आलूर वेंकटराय मुन्धोह कृष्णराय आये थे। उन्होंने हम लोगों में कर्नाटक के प्रति अभिमान जगाया था। उन्होंने बताया था कि अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ कर्नाटक वालों का कृतित्व है। 'कन्नड़' नाम का ग्राम अजन्ता के समीप है। मुझे पहले से ही चित्र और वास्तुकला के प्रति अभिरुचि थी। अतः उन दोनों को देखने का निश्चय करके निकल पड़ा। सूरत के रास्ते से ताप्ती नदी की घाटी पार करके भुसावल पहुँचा। वहाँ से जलगाँव आया। जलगाँव से बस पकड़ कर करीब चालीस मील की दूरी पर पाहूर पहुँचा। हाथ के थैले में खाना बनाने का सामान आदि था। थोड़ा सा गेहूँ का आटा, मूँगफली और गुड़ खरीद कर पाहूर से आगे चल पड़ा। वहाँ से करीब छः कोस की दूरी पर अजन्ता की गुफाएँ हैं। राह पर धूप का ही साम्राज्य था। नाम को भी पेड़ नहीं दीखा। राह में एक गाँव में थोड़ा सा पानी मिला। लगभग तीन बजे अजन्ता के उस पहाड़ी प्रदेश में जा पहुँचा। वहाँ से पहले एक [illegible] वाला मिला। उसने गुफा दिखाने को कहा। उसने वहाँ ठहरने का रास्ता बतला दिया। मैं आगे चल पड़ा। रास्ते के दोनों ओर पारिजात के वृक्ष थे। हवा पारिजात की गंध से सनी हुई थी। और आधा मील आगे चलने पर घाटी की नाल की आकृति की एक श्रेणी दिखाई दी। चढ़ाई चढ़कर थोड़ा आगे बढ़ा तो एक एक करके गुफालय दिखाई देने लगे। करीब सेतीन विहार गुफाएँ हैं। कुछेक

चैत्यालय भी हैं और कुछ बुद्ध विहार हैं। एक ज़माने में यहां बौद्ध भिक्षुओं का एक विश्वविद्यालय था। वहां जाकर खड़े होने के बाद यह याद ही नहीं रहता कि बाहर भी एक दुनिया है। वहां की गुफाओं का निर्माण, वहां का शिल्प, चित्रकारी अत्यन्त मोहक हैं। प्रकृति ने भी उस सौंदर्य में एक पुट दिया है। उस भव्य पर्वतश्रेणी के नीचे एक छोटी-सी नदी बहती है। रात को वहीं सोने की इच्छा हुई। पर पहरेदारों ने कहा, 'यहां रात को कोई नहीं रह सकता। हम सब भी यहां से चले जायेंगे। दरअसल लोग यहां खाना आदि पका कर धुएं से यह जगह खराब कर देते हैं। उनकी बातों की सच्चाई वहीं दीख रही थी। और कोई चारा न होने से वहां से चल पड़ा। काफी दूर चल चुकने के बाद अजंता की नदी में स्नान कर चूल्हा सुलगाया और आटा गूंधा। रात को वहीं सोने का विचार किया। मैं निर्जन पहाड़ी प्रदेशों में मैं कई बार अकेला सोया था इसलिए मुझे उसमें कोई खास बात नहीं लगी। तभी वहां एक बैलगाड़ी आयी। वह पाहूर जा रही थी। मैंने गाड़ीवान से आग्रह किया 'आधा घण्टा ठहर जाओ मैं भी साथ चलता हूं।' गाड़ीवान जल्दी में था। इधर भूख और थकान दोनों ही ज्यादा थी। गाड़ी की सवारी का मोह भी नहीं छोड़ सकता था इसलिए थोड़ी-सी मूंगफली और गुड़ खाकर उसके साथ चल पड़ा। दूसरे दिन प्रातः पाहूर की नदी के किनारे अपना भोजन किया। पाहूर से चालीस मील तक रास्ता है। रास्ते में उसी [illegible] मुकाम किया वहां से मुड़कर ऐलोरा रोड पर चला। वहां पुलिस के [illegible] मेरा नाम लिखकर ही आगे जाने दिया। मेरे खादी के कपड़ों ने [illegible] सी० आई० डी० पुलिस को आकर्षित किया होगा।

एलोरा

एलोरा अथवा वेरूल एक प्रसिद्ध धाम है। यहां अहिल्याबाई होलकर का बनवाया हुआ एक सुन्दर देवालय भी है। यहां पहुंचते ही यहां के पण्डों ने घेर लिया। मेरे [illegible] का श्राद्ध करने को वे सभी तत्पर थे। मैं मुंह मांगी [illegible]। मैंने सोचा कि यहां के [illegible] में स्नान करके यहां भोजन बना लूं। पर [illegible] यहां भी नहीं छोड़ा। लगा कि एक धाम में तो [illegible] ही [illegible] का [illegible] नहीं। किसी तरह [illegible] ही दो मील दूर पर [illegible]। यहां की पर्वतश्रेणी में अजंता से भी बड़ा सुन्दर [illegible] है। ये [illegible] राजाओं के समय की निर्मित हैं। बौद्ध गुफाओं के [illegible] और [illegible] देवालय भी बनाये गये हैं। [illegible] पत्थर को काट कर [illegible] का निर्माण किया है। [illegible] है। [illegible] की चारों ओर से काटकर देवालय बनाया गया है।

हमारे पूर्वजों की महान आकांक्षाएँ उनके भव्य सपने अजर अमर हो शिलाओं में बस चुके हैं। एक से बढ़ कर एक भव्य मंदिरों पर हम गर्व कर सकते हैं।

वहाँ से उसी दिन चार कोस की दूरी पर स्थित दौलताबाद पैदल ही गया। मार्ग में बूंदाबांदी होने लगी। सिर पर की गठरी और कपड़े सब भारी हो उठे। भूख और थकान का ठिकाना नहीं। कागदीपुर लांघ कर और भी आगे चलता गया। उस गाँव में एक मस्जिद है। पता चला कि वह औरंगजेब का विश्रामस्थल है। दौलताबाद पहुँचने तक कहीं भी रुका नहीं। देवगिरि का किला और मीनारें देखीं। यदि थकान अधिक न होती तो देवगिरि का किला चढ़ने की इच्छा थी। संगीतज्ञ सारंगदेव यहीं के थे। पर मन का उत्साह शरीर में बचा नहीं था। आधे घण्टे के बाद रेल भी पकड़नी थी इसलिए स्टेशन पर जा बैठा। वहाँ से सीधा हुब्बल्ली पहुँचा। मेरी यह यात्रा चिरस्मरणीय है। अजन्ता तक फैला कर्नाटक आज शोलापुर को भी खो चुका है। यह हमारा दुर्भाग्य ही तो है।

काल चैत्यालय

कन्नड़ वालों की ऐसी ही एक और महान कृति कार्ल में है। वहाँ का चैत्यालय पहली सदी का हो सकता है। उसकी मूर्तियाँ का तराशने वाले का उल्लेख उस मंदिर के सामने ही है। कहा जाता है कि बनवासी के एक व्यापारी ने इसे बनवाया था। बौद्ध चैत्यालय का यह इतना भव्य और इतना सुन्दर नमूना! खण्डाला की पहाड़ियों में आँचल में है यह कार्ल पहाड़ी जहाँ उन्होंने इस चैत्य को उकेरा है। बौद्धालय के पास ही पाँच छः विहार हैं। इस की बात है कि सृष्टि के सौंदर्य का अनुकरण करने में हमारे पूर्वजों की आँखें अन्धी नहीं थीं। उस पहाड़ी पर मिलनेवाले रंग बिरंगे पत्थरों से हमारे प्राचीन काल के चित्रकार चित्रकारी के लिए रंग तैयार करते थे। अजन्ता के चित्रों का रंग अब तक फीका न पड़ने का कारण उनका पक्कापन है। कार्ल से चार मील की दूरी पर लोनावाला है। वहाँ पहाड़ों की घाटी में बाँध बना कर एक सुन्दर सरोवर का निर्माण किया गया है। संध्या काल की वहाँ की रमणीयता अवर्णनीय है। चारों ओर छायी हरियाली आँखों को शीतलता प्रदान करती है। उस सब को देखता हुआ पहाड़ से उतर कर मैदानी रास्ते से सोनावा जा चल पड़ा। वहाँ से मवल्यधाम को जाना ही मेरा उद्देश्य था। योगागम के लिए वहाँ जाने की अपनी बात मैंने पिछले अध्यायों में लिखी है। अब राह में घटी एक घटना भी सुन लीजिए।

दिखावे के प्रभाव में फँसे लोग

जब मैं कार्ल छोड़ा तो सूरज डूबने को था। अंधेरा होने से पहले सोनावाला पहुँचने की जल्दी थी पर पहुँचते पहुँचते अंधेरा होने लगा था। एक

ग्रामीण मराठी मुझे देख पीछे पीछे आने लगा। वह मुझे पुकारे जा रहा था। मैंने मुड़ कर देखा। सोचा कि वह शायद मुझे अपना परिचित समझ कर बुला रहा है लेकिन ऐसी कोई बात नहीं थी। समीप आते ही झुक कर नमस्कार करके उसने पूछा 'आप साधु हैं ?'

मेरे 'नहीं' कहने पर वह कहाँ मानने वाला था ? गुफा से निकल कर आनेवाला यह भी दाढ़ीवाला भला साधु नहीं होगा तो कौन होगा यह उसकी कल्पना थी। जब तक मैंने उस पर गुस्सा नहीं दिखाया तब तक मुझे वह साधु ही समझता रहा था। और तो और मुझे वह अपने घर ले जाने का आग्रह कर रहा था। बड़ी मुश्किल से उससे छुटकारा मिला और इस तरह मैं लोनावाला पहुँचा।

दाढ़ी से साधु

मैंने अपना कद पाँच रखने के दाढ़ी बढ़ा ली थी। बाद में वह भी एक भार लगने लगी। आकृति और वेशभूषा के भुलावे में आनेवाले कितने लोग नहीं हैं हमारे देश में ? इस देश के लोगों का [illegible] में करने के लिए संन्यास ही बड़ा त्याग और [illegible]। जब मैं दावणगेरे में था तब एक गाँव का मित्र मुझ से कभी कभी भेंट करने आता था। वह भी मुझे साधु ही समझ बैठा था। वह मुझ से [illegible] [illegible] कह कर एक वचन का प्रयोग करता था। तब मुझे दाढ़ी से [illegible] हुई। उसे पूरा करने के लिए और एक घटना घटी। हुबली में मैं एक बार 'दुर्गबयल' से गुजर रहा था। वहाँ लोगों की बड़ी भीड़ थी। एक राहगीर ने मुझे देखा। मुझे कुछ समझ में नहीं आया। उसने मेरे मुख की ओर ध्यान से देखा और बिना कुछ बात सड़क के बीच मेरे पाँव छूकर नमस्कार करके चला गया। मैं हैरान रह गया। मुझे डर लगा कि दाढ़ी ने जिस प्रकार दूसरों को धोखा दिया इसी प्रकार यह मुझे भी धोखा दे सकती है। हुबली छोड़ने तक पूरा रहा। वहाँ से मोलकाल्मुरु गया। वहाँ मैं तीन दिन रहा। वहाँ मेरा पहला काम था इस दाढ़ी से छुटकारा पाना। अब केवल मूँछ बची थी। [illegible] प्रयास के कारण वह भी [illegible] रह गयी। तब मुझे लगा कि कभी भी बाह्य [illegible] नहीं होना चाहिए।

साधु

इस विषय में एक कहानी सुनाता हूँ। [illegible] नाम के एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। नागपुर में रहते समय मेरा उनसे परिचय हुआ। वे कभी-कभी रमण महर्षि के पास आया करते थे। उन दिनों [illegible] [illegible] [illegible] थे। एक-दो बार वे हमारे घर भी आये थे। [illegible] [illegible] [illegible] धारण करके आये। [illegible] 'भारतीय'

कह कर पुकारते थे। मैंने उनके कपड़े देखकर पूछा, 'आप पर यह पागलपन कब से सवार हो गया?" उन्होंने हँस कर कहा "दो आने देंगे?" मैंने पूछा, "क्या?" तो वे बोले, "ऐसे ही आप के कपड़ों को भी काषाय रंग में रंगवा देता हूँ। दो आने में संन्यास मिल जाता है।" बाद में हँसते हुए मुझ से कहा मुझे य रंग और कपड़े आसान लगे इसलिए पहन लिये। हमारे दृष्टिकोण में इन सब का और कोई खास अर्थ नहीं है।" और एक बार, बल्कि कहना चाहिए दो-तीन बार, नन्द नाम का संन्यासी हमारे यहाँ आया था। उसका चाहे जैसा भी सत्कार करने, चाहे जितना भी अच्छा खाने को क्यों न देते उसे कभी तृप्ति नहीं होती थी। खाने-पीने के बारे में आतिथ्य के बारे में जहाँ भी गया वहीं झगड़ा खड़ा कर देता था। जैसे काषाय वेश के अधिकार की स्थापना के लिए ही वह घूमा करता है। उसे मैंने स्वामी 'कोपिष्टानन्द' उपनाम दिया था। उसके नाम के साथ आनन्द जुड़ा होने पर भी उसमें कोई आनन्द नहीं था। बहुत क्रोधी था। भग्न मनोरथ होकर काषाय धारण करने पर भी दुनियाँ में जिन वस्तुओं का उसने त्याग किया था उसी के लिए लार टपकाता फिरता था। मैंने ऐसे कई लोगों को देखा है जो संन्यासी बनकर विरक्त हो जाते हैं और बाद में लोगों की पूजा-सत्कार के शिकार हो जाते हैं। फिर आश्रमों की स्थापना करके गृहस्थों से ज्यादा मोह माया में फंस जाते हैं। अपने को बड़ा भक्त समझना भी अपने का नुकसान पहुंचाना होता है। बाद में जब ये 'राम' 'कृष्ण' के नाम से पूजे जाने लगते हैं तो यह अनुमान होने लगता है कि पूजा करनेवाले मूर्ख हैं या पूजा पानेवाले मूर्ख हैं।

रामकृष्ण परमहंस का जीवन साधु-सन्तों में एक आदर्श है उसे समझ लेनेवाला व्यक्ति कभी भी नकली साधुओं से धोखा नहीं खा सकता।

वाले ने उसे अपना व्यक्तित्व ही खो दिया है। एकदम निचली पंक्तियों में वात्स्यायन के कामसूत्र के चित्र हैं, शिल्प और संस्कृति की दृष्टि से व होय्सल युग के जीवन को सम्मान नहीं दिला पाते हैं।

पल्लवों का आदर्श

शिल्पकला का भव्य रूप महाबलिपुरम् में देख सकते हैं। वहाँ अर्जुन की तपस्या के बारे में इतना भव्य चित्रण हुआ है कि उसका वर्णन करना ही कठिन है। लगता है कि उन पल्लव राजाओं ने हमारे लिए शिला शिल्प और वास्तुकला की आधारशिला रखी थी। वहाँ अखण्ड शिला से बने मंदिर और गोपुरों के अच्छे नमूने हैं। समुद्रतट का वह शिवालय किसी को भी मोहित कर लेनेवाली कृति है। वह पत्थर पर नहीं खोदा गया बल्कि पत्थरों से ही बना है। एक जमाने में बंगाल की खाडी की लहरें वहाँ के विग्रह के पाँव धोती थी। अब भी समुद्र का जल मंदिर के भीतर जा सकता है लेकिन मंदिर में विग्रह ही नहीं। उसके बनवाने वाले पल्लव राजाओं ने तीसरी ओर आगे की सदियों में मलाया, स्याम जाकर वहाँ भी हिन्दू संस्कृति के बीज बोये। उनके कृतित्व के अवशेष बोरोबुदर, देवालय, इण्डोचीन के अंकोरवाट देवालय में देखने की मेरी इच्छा अब भी बाकी है। महाबलिपुरम् के शिल्पियों को देवी देवताओं से जितना लगाव था उतना ही प्रकृति से भी था। उनके बनाये हिरण, बन्दर, हाथी आदि किसी भी प्रकृतिप्रेमी कलाकार को आकर्षित करेंगे।

वास्तु दर्शन

एक बार मैं पुरी के जगन्नाथ मन्दिर गया था। नागर शिल्प का वह मन्दिर सदा यात्रियों से भरा रहता है। इस कारण वास्तुकला के प्रेमी के लिए आवश्यक शांति वहाँ नहीं मिल पाती। वहाँ का मन्दिर एक भव्य कृति है। विद्वानों का कथन है कि उस नागर शैली का प्रारम्भ हमारे कर्नाटक के 'पट्टदकल्लु' से आरम्भ हुआ था। लेकिन उस शैली का विकसित रूप भुवनेश्वर कोणार्क और खजुराहो में है जो उन दिनों मैं देख नहीं पाया था। गोपुर और मंदिर दर्शन की इच्छा केवल एक यात्री की दृष्टि से नहीं वह तो कला-दृष्टि से प्रेरित होती है। विचार में जहाँ भाव बना के दर्शन होते हैं वहीं संस्कृति की महानता के भी दर्शन होते हैं।

शिल्प के बारे में

एक बार मैंने कलकत्ता के संग्रहालय में पाँच फीट ऊँची सूर्य की मूर्ति देखी थी। सूर्य हमारा पहला देवता है। आज संस्कृति में सूर्य के स्थान विष्णु को मान्यता है। उत्तर भारत में हमें अधिकतर सूर्य के ही विग्रह मिलते हैं। मैं सोच के

कुछ अन्य यात्राएँ

मन्दिर यात्रा नहीं

इस अध्याय में अपने कुछ प्रवासों के अनुभव बताने के बाद दूसरे विषय लूँगा। प्राचीन वास्तुकला को देखने के मेरे पागलपन ने मुझसे उत्तर और दक्षिण भारत के कई चक्कर कटवाए। मुझे जगह जगह पर चिड़ियाघर देखने की भी बड़ी इच्छा होती। तरह-तरह के जानवर देखने का मन होता। कलकत्ता आदि महानगरों के म्यूजियम में रक्षित प्राचीन शिल्प देखने में भी मुझे बड़ा आनन्द आता था। [illegible] हृदय में लिए उनके फोटो खींच कर ले आता था। यदि उनको मैं अन्य की आकृति मिल जाती तो आनन्द दूना हो उठता।

[illegible] में [illegible] राजस्थान [illegible] का, हलेबिड और बेलूर के मन्दिर आकर्षित करते ही हैं। बेलूर में कामदेव की मूर्तियों की नृत्य मुद्राएँ और शृंगार चमत्कारी हैं। [illegible] का सौन्दर्य दिखाने में भी ये अद्वितीय हैं। ये सूक्ष्म कारीगरी के नमूने हैं। [illegible] में ऐसी सूक्ष्मता से क्या मिलता है? हमारे लोग शिल्पकारों में चमत्कार पसन्द करते हैं। हलेबिड या बेलूर की शिल्पकला के [illegible] का विकास न बनी तो और भी उत्कृष्ट स्तर तक पहुँच न पाते। [illegible] के देवालय के सहज सौन्दर्य को वहीं न दिखाई देने [illegible] के भ्रम में डालता है। हमारी चित्रकला, संगीत, वास्तु [illegible] अति आत्मविश्वास है। [illegible] अपने उद्देश्य पर [illegible] इस देश में कला का निर्माण करने [illegible] करने की लालसा में तो यह अवनति की ओर [illegible] है।

[illegible] मन्दिर की दीवारें [illegible] पौराणिक मूर्तियों की [illegible] ऊँचाई से [illegible] दूर बना कई मूर्तियों का सौन्दर्य [illegible] मूर्ति बहुत मोहक है। [illegible] मानो उन्हें स्वयं ही ने बनाया हो। कहीं [illegible]

वाले ने जैसे अपना व्यक्तित्व ही खो दिया है। एकदम निचली पंक्तियों में वात्स्यायन के कामसूत्र के चित्र हैं, शिल्प और संस्कृति की दृष्टि से वे होय्सल युग के जीवन को सम्मान नहीं दिला पाते हैं।

पल्लवों का आदर्श

शिल्पकला का भव्य रूप महाबलिपुरम में देख सकते हैं। वहाँ अर्जुन की तपस्या के बारे में इतना भव्य चित्रण हुआ है कि उसका वर्णन करना ही कठिन है। लगता है कि उन पल्लव राजाओं ने हमारे लिए शिला शिल्प और वास्तुकला की आधारशिला रखी थी। वहाँ अखण्ड शिला से बने मंदिर और गोपुरों के अच्छे नमूने हैं। समुद्रतट का वह शिवालय किसी को भी मोहित कर लेनेवाली कृति है। वह पत्थर पर नहीं खोदा गया बल्कि पत्थरों से ही बना है। एक जमाने में बंगाल की खाड़ी की लहरें वहाँ के विग्रह के पाँव धोती थीं। अब भी समुद्र का जल मंदिर के भीतर जा सकता है लेकिन मंदिर में विग्रह ही नहीं। उनके बनवाने वाले पल्लव राजाओं ने तीसरी और आगे की सदियों में मलाया, स्याम जाकर वहाँ भी हिंदू संस्कृति के बीज बोये। उनके कृतित्व के अवशेष बारोबुदर, देवालय, इण्डोचीन के अंकोरवाट देवालय में देखने की मेरी इच्छा अब भी बाकी है। महाबलिपुरम् के शिल्पियों को देवी देवताओं से जितना लगाव था उतना ही प्रकृति से भी था। उनके बनाये हिरण, बन्दर, हाथी आदि किसी भी प्रकृतिप्रेमी कलाकार को आकर्षित करेंगे।

वास्तु दर्शन

एक बार मैं पुरी के जगन्नाथ मंदिर गया था। नागर शिल्प का यह मंदिर सदा यात्रियों से भरा रहता है। इस कारण वास्तुकला के प्रेमी के लिए आवश्यक शान्ति वहाँ नहीं मिल पाती। वहाँ का मन्दिर एक भव्य कृति है। विद्वानों का कथन है कि इस नागर शैली का प्रारम्भ हमारे कर्नाटक के पट्टदकल्लु से आरम्भ हुआ था। लेकिन उस शैली का विकसित रूप भुवनेश्वर, कोणार्क और खजुराहो में है जो उन दिनों मैं देख नहीं पाया था। गोपुर और मंदिर दर्शन की इच्छा केवल एक यात्री की दृष्टि से नहीं, यह तो कला-दृष्टि से प्रेरित होती है। विचार में जहाँ मैं रचना के दर्शन होते हैं वहाँ संस्कृति की महानता के भी दर्शन होते हैं।

शिल्प के बारे में

एक बार मैंने कलकत्ता के संग्रहालय में पाँच फीट ऊँची सूर्य की मूर्ति देखी थी। सूर्य हमारा पहला देवता है। आर्य संस्कृति में सूर्य के बाद विष्णु को माना गया है। उत्तर भारत में इस अधिकतर सूर्य के ही विग्रह मिलते हैं। मैं स्याम के

समय वहाँ गया था। साँझ की सुनहरी किरणें उस विग्रह की लाल शिला पर पड़ रही थीं। उसका पार्श्व सिंदूरी हो उठा था। और उसकी छाया में जामुनी रंग बिखर गया था। लग रहा था जैसे साँझ के सूरज ने ही मानवाकार ग्रहण कर लिया हो। मद्रास के संग्रहालय में भी मैंने काँसे की कुछ सुन्दर प्रतिमाएँ देखी हैं। उनमें एक शिव ताण्डव की मूर्ति है। शिव की उसी भंगिमा का नृत्यकारों ने अनुकरण किया है। ताण्डव नृत्य में चरमोत्कर्ष की भंगिमा है यह, परन्तु उसी विन्यास को सामने रखकर नृत्य-विन्यास दिखाने का प्रयत्न करते मैंने किसी को नहीं देखा। केवल [illegible] समय वह भंगिमा दिखा देने से ही चल जाता है क्या?

मद्रास में राम लक्ष्मण और सीता की कांस्य प्रतिमाएँ भी हैं। [illegible] में जो स्वभाव दिखाई नहीं पड़ता वह उनमें दिखाई दे जाता है। उन प्रतिमाओं का बनाने वाला शिल्पी भी महान रहा होगा।

एक बार मैं जोग से उतरकर घाटी में नीचे बसे गेरसोप्पा गया और वहाँ के भग्न पुरातन नगर को देखा। एक जमाने में जो भरा-पूरा था अब वह वीरान हो गया है। वहाँ के अनेक जैन मन्दिरों पर पेड़ पौधे उग आये हैं। उनकी रक्षा करनेवाले विभाग में भी उदासीनता ही है। देखने वाली आँखों में भी कुतूहल नहीं बचा। वहाँ जैन तीर्थंकरों की कुछ बड़ी बड़ी प्रतिमाएँ हैं। उनमें एक-दो बहुत ही उत्तम रचनाएँ हैं।

साँची

उत्तर भारत के प्राचीन स्मारकों में साँची बहुत प्रसिद्ध है। यह मध्य प्रदेश में भोपाल के पास है। वहाँ का रेलवे स्टेशन बहुत छोटा है। शायद ही वहाँ कोई गाड़ी रुके। वहाँ भोजन-पानी तक उपलब्ध नहीं हुआ। मैं वहाँ सर्दियों में गया था। सब ओर [illegible] के पठार [illegible]। [illegible] अग्नि की आरती सा दीख रहा था। स्टेशन से [illegible] दूर ही [illegible] स्तूप हैं। ये ईसा से पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी की कृतियाँ हैं। ये बुद्ध के स्मारक हैं। करीब सौ फुट से भी ऊँचे [illegible] के साथ [illegible] पत्थर [illegible] स्तूप बनाए गए हैं। उनके चारों ओर [illegible] था। चारों ओर पत्थर के ही तोरण बने हैं। उन पर बुद्ध की [illegible] कथाएँ उत्कीर्ण हैं। थोड़ी दूर पर यदि हम [illegible] तो [illegible] बुद्ध की-सी शान्ति हम प्राप्त होगी।

[illegible] बुद्ध [illegible] बड़ा [illegible] है। उनके नाम से ही [illegible] है। [illegible] निर्वाह करो। [illegible] के [illegible] सुन्दर [illegible] तोरण हैं। [illegible] में [illegible] किया है। उसमें लिखा है

कि ये मानव नागरिकता के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। साँची के स्मारक भी वैसे ही हैं।

सारनाथ

उसी बुद्ध के प्रति प्रेम मुझे काशी के समीपस्थ सारनाथ खींच कर ले गया। सारनाथ में प्राचीन स्तूप नष्ट हो चुका है। केवल ईंट मिट्टी के निशान भर बच हैं। वहाँ के मूर्ति-संग्रहालय में बुद्ध की कुछ प्रतिमाएं हैं। कहा जाता है कि बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश सारनाथ में ही दिया था। महाबोधी सभा वालों ने वहाँ एक मंदिर बनवाया है। जब मैं वहाँ गया तब वह पूरा बन चुका था। उसके भीतर दीवारों पर एक जापानी चित्रकार चित्र बना रहा था। उनमें एक चित्र मार' (कामदेव) के बुद्ध को छेड़ने का था। अजन्ता चित्रों की-सी सौम्यता उसके चित्रों में दिखाई नहीं दी। वह बहुत ही भड़कीले रंग इस्तेमाल कर रहा था।

आबू की बारीक नक्काशी

मैं एक बार आबू पहाड़ गया था। राजस्थान की मरुभूमि में स्थित ये जैन मंदिर बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी के हैं। इन्हें दिलवाड़ा मंदिर भी कहते हैं। जब मैं पहली बार वहाँ गया, मेरे जैन न होने के कारण मंदिर देखने से पहले मुझे एक-दो रुपये कर के रूप में देने पड़े। बाहर से देखने पर ये मंदिर इतने सुंदर नहीं हैं। वास्तु रचना में विशेष महानता नहीं है। वहाँ का सारा सौंदर्य भीतर का है। गर्भ मंदिर, नवरंग और मण्डप सब संगमरमर के बने हैं। मोम की तरह संगमरमर की शिलाओं पर बहुत ही बारीकी से काम किया गया है। स्तम्भों और भीतरी छतों पर यह बारीक कारीगरी स्पष्ट दिखाई देती है। वहाँ की इस कारीगरी के नमूने की परिकल्पना देखने के लिए ही मैं वहाँ गया था। हलेबिड और बेलूर के समान ही यहाँ की कारीगरी बड़ी सूक्ष्म है। वहाँ सेलखड़ी पत्थरों पर कारीगरी की गयी है लेकिन यहाँ संगमरमर के पत्थरों पर उसी नक्काशी का चमत्कार दिखाई देता है। आबू जलवायु के लिए भी प्रसिद्ध स्थल है। यहाँ एक सुंदर सरोवर है। उस पहाड़ से स्टेशन तक पहुँचने के लिए उस मरुभूमि में जो सड़क बनी है वह भी अपने में एक अपूर्व है, मोहक है।

संगमरमर पर इसी प्रकार की सूक्ष्म कारीगरी और नमूने देखने के लिए हम आमेर के राजमहल, आगरे में एतमादुद्दौला और फतहपुर सीकरी में सलीम चिश्ती की मसजिद देखनी चाहिए।

दक्षिणा-पथ में

उत्तर भारत के कुछ मंदिरों के समान दक्षिण भारत के भी कुछ मन्दिर

देखने की इच्छा हुई। इसी उद्देश्य से पश्चिम समुद्र के करावली से कन्याकुमारी तक गया। पश्चिम करावली के कुछ मंदिर तो बहुत ही साधारण हैं। उनके वास्तु सौन्दर्य को तो ताँबे से मढ़ी छतें निगल गयी हैं। कन्याकुमारी बहुत सुन्दर स्थल है। भारतखण्ड के अंतिम छोर पर खड़े होकर पूर्व पश्चिम और दक्षिण के समुद्रों के संगम को देखकर ही स्वामी विवेकानन्द अपने आप को भूल गये थे। इस प्रदेश की रमणीयता ही ऐसी है कि हम भी अपने को भूल सकते हैं। यहाँ का निसर्ग ही एक यात्रा-स्थल है दूसरे मंदिर और गोपुरों की आवश्यकता ही नहीं। और एक बार मैं मदुरै तंजावूर चिदंबरम तिरुकलिकुड्रु क्षेत्र देखकर आया। रामेश्वरम भी गया था। रामेश्वरम् का समुद्रतट भी एक सुंदर स्थल है। पर यहाँ का मन्दिर मुझे पसन्द नहीं आया। यहाँ बिना किसी सही कल्पना के धन खर्च करके अपनी भक्ति का प्रदर्शन करने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है। सब जगह अनगिनत खम्भों का बेमेल निर्माण हुआ है।

महाबलीपुरम्

मेरे मन को सबसे ज्यादा आकर्षित करनेवाला स्थल तंजावूर का बृहदीश्वर मन्दिर है। यहाँ के गोपुर मदुरै हम्पी के विमानों के ऊँचे दर्जे के न होने पर भी उसकी मान्यताओं का अपना ही महत्त्व है। उसका सौन्दर्य कुछ और ही है। कैसा ही परेशान क्यों न हो उसे देखकर मूक हो जाता है। मन बृहदीश्वर के मन्दिर में केन्द्रित हो जाता है। लगता है जैसे वास्तुकला का सौन्दर्य यहाँ अपना शिखर छू रहा है। आकार में भी यह मन्दिर बहुत बड़ा है। उसका गगनचुम्बी शिखर ही शिव की महानता का द्योतक है। मैं उस मंदिर के भीतर गया ही नहीं। ऐसी इच्छा भी नहीं हुई। मुझे तो यह मंदिर ही भगवान सा लगा। [illegible] के [illegible] के मन्दिर को देखकर मुग्ध हो गया था। [illegible] है पर वह भी एक ऐसा ही भव्य स्थल था। [illegible] की वास्तु [illegible] में यहाँ धार्मिक कार्यक्रम होने पर भी मंदिर के विस्तार के कारण कोई [illegible] का प्रभाव [illegible] है। ऐसे [illegible] वास्तु शिल्पियों का मन [illegible] निर्माण में मग्न [illegible] उनका [illegible] रहा होगा।

[illegible] गोपुरम्

[illegible] में [illegible] हिन्दू धर्मनिष्ठ [illegible] की कुछ इमारतें देखीं। [illegible] और [illegible], [illegible] का [illegible] था। ये [illegible] के अद्भुत उदाहरण हैं जो हमारे मन को आकर्षित करते हैं। [illegible]

सीकरी देखने मैं अकेला ही गया था। वह एक गाँव है। पहले भी वह एक गाँव ही था। अकबर बादशाह पहले एक बार उसे अपनी राजधानी बनाना चाहते थे। अपने धर्मगुरु सलीम चिश्ती की याद में उन्होंने उसे बनाया भी। पर चिश्ती को राजधानी का शोरगुल रास नहीं आया तो अकबर ने उसे वैसा ही वीरान छोड़ दिया। वहाँ जाने के पहले बुलन्द दरवाजा मिलता है। उसके भीतर राजवैभव के मुताबिक कई इमारतें हैं। वहाँ का 'पंच महल' बड़ा आकर्षक है। इसकी सरल शैली में पाँच मंजिलों में बना है यह महल। वह शैली आज भी अनुकरणीय है। वहीं निकट ही अकबर ने अपनी हिन्दू भार्या के लिए एक और महल बनवाया था। उसे महल कहने की अपेक्षा तहखाना कहना उपयुक्त होगा। उसमें रोशनी का नाम नहीं है। हिन्दू रजवाड़े में जितनी रोशनी है यहाँ उतना ही अँधेरा है। जो भी हो, अन्तःपुर जो ठहरा। सलीम चिश्ती का मकबरा भी वहीं पास में है। संक्षेप में, यह है कि यह नगर अकबर के काल की संस्कृति का प्रतिबिम्ब है।

केतकी-वन

आगरा का किला दर्शनीय है। उसके भीतर की बैठकें, मस्जिदें विशाल सभा भवन, बादशाह के शान के मुताबिक हैं। वहाँ मुगल दरबार का सारा वैभव दिखाई देता है। उनकी रसिकता, दम्भ दोनों एक साथ व्यक्त होते हैं। वहाँ के तहखाने और गुप्त मार्ग देखने से इस कथन की याद हो आती है कि केतकी वन भी साँपों का घर हो सकता है। सिंहासन की आकांक्षा के लिए यहाँ कितनी हत्याएं नहीं हुई होंगी? कितने निरपराधी बन्दी नहीं बनाये गये होंगे? वह भी भारत का ही एक चित्र है। वहाँ यमुना की ओर मुँह करके बनाया गया एक मण्डप है। वह भी संगमरमर का बना है। शाहजहाँ अपने अन्तिम दिनों में वहाँ से दूरस्थ ताजमहल को देखा करता था। इसी बात को लेकर मैंने एक गीत नाटक लिख कर मंचन कराया। डॉ. अवनीन्द्रनाथ टागुर ने शाहजहाँ के अन्तिम दिनों का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है।

गर्व करने योग्य स्मारक

बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है। कर्नाटक में ही बीजापुर भारतीय इस्लाम संस्कृति का एक चित्र उपस्थित करता है। वहाँ का गोल गुम्बद कम महत्व का स्मारक नहीं है। ताजमहल संगमरमर का बना है तो यह पत्थर की ऐसी कृति है जो आँखों को तृप्त कर देती है। अट्ठारह हजार वर्ग फुट जमीन पर यह बना सारी दुनिया में इंजीनियरी चमत्कार का जोड़ एक महान गुम्बद है। आगरा का ताजमहल इससे एकदम भिन्न है। उसकी प्रेरणा शृंगार है राज शृंगार। दोनों पर खूब धन व्यय हुआ है। ताजमहल में कारीगरी है पर वास्तु के

लिए आकर्षित एवं सन्तुलन नहीं है। वहाँ की कारीगरी अद्भुत है। गोल गुम्बज में वैसी नजाकत नहीं है। हाँ, आदिलशाह के घराने की सारी शान उसमें दिखाई देती है। गुम्बज इमारत की शान बढ़ाने को वहाँ अन्य छोटी इमारतें भी नहीं हैं। वहाँ शृंगार की स्फूर्ति भी नहीं है, पर उसकी जगह पर वह स्थान निश्चित ही बादशाह के अहम् का एलान करता है।

राजमहल

मुसलमानों के राजमहल हम जैसे दिखाई देते हैं वैसे विजयनगर, चालुक्य, पल्लव अथवा राजाओं के महल दिखाई नहीं देते हैं। उन्होंने तो इन बादशाहों से भी ऊँची संस्कृति की प्रेरणा दी है। अपने महलों के निर्माण में उन्होंने पत्थर की जगह लकड़ी का प्रयोग अधिक कराया। उनके बनवाये मन्दिर, गोपुर [illegible] बचे हैं पर महल तो उन्हीं के समान ध्वस्त हो गये। हिन्दू राजाओं के महल देखने के लिए हमें राजस्थान जाना चाहिए। आम्बेर, जयपुर, उदयपुर आदि [illegible] में दर्शनीय भवन हैं। तेरह वर्ष पहले एक बार मैं आम्बेर गया था। पहले जब मैं जयपुर गया था तो पास ही आम्बेर नहीं जा पाया था। भले ही जयपुर के महल या मन्दिर हों या आम्बेर के महल हों, वे मुगलों की वास्तुकला से कहीं भी कम नहीं हैं। राजपूतों ने बड़े ऊँचे स्तर का जीवन बिताया था। वे शृंगारप्रिय थे, वीर और रसिक भी थे। गर्व और साहस से भरे हुए थे। उनके द्वारा बनवायी गयी इमारतें भी वैसी ही हैं। गृह-युद्ध और दायादि मात्सर्य के कारण ही मोहम्मद गोरी को आमन्त्रित किया गया। उस समय शुरू हुआ हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य अन्ततोगत्वा पाकिस्तान के रूप में परिणत हुआ।

प्राचीन वैभव ही क्या पर्याप्त है?

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तब [illegible] का इतिहास पढ़ा था। भारत पर राज्य करनेवाले राजाओं के जन्म और मृत्यु की तिथियाँ याद भी की थीं। पानीपत के युद्ध में मराठों ने कहाँ [illegible] रखा थी, पानीपत में इब्राहिम लोदी ने कहाँ [illegible] लिया था—यह सब तब पढ़ा तो था पर अब भूल गया था। [illegible] इतिहास की क्या कल्पना हो सकती है। राजाओं के [illegible] की सूची भी क्या इतिहास है? इतिहास केवल राजाओं की [illegible] तो जन जीवन की [illegible] संस्कृति का [illegible] और सभ्यता का सूक्ष्म [illegible] प्रभाव का अनुभव [illegible] [illegible] [illegible]

रचनाए पढी। अब इतिहास अच्छा लगने लगा। विश्व के इतिहासकारा मे वल्स और डूराण्ट पसन्द आये। मेरा भारत कैसा है ? किस किस नागरिकता के आकर्षण और भवर म फँसकर वह आगे बढा है, यह तब पता चला। चीन और मिस्र का इतिहास भी हमार जितना ही पुराना और महान है। एक ओर आज लोग उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर सुख और सतोष का जीवन बिता रहे हैं, दूसरी ओर हम जसे प्राचीन इतिहास की धरोहरवाले सो रहे हैं।

लिए आवश्यक एक संतुलन नहीं है। वहाँ की कारीगरी अद्भुत है। गोल गुम्बज में कमी नजाकत नहीं है। हाँ, आदिलशाह के घराने की सारी शान उसमें दिखाई देती है। सुन्दर इमारत की शान बढ़ाने को यहाँ अन्य छोटी इमारतें भी नहीं हैं। यहाँ शृंगार की स्फूर्ति भी नहीं है पर उसकी जगह पर यह स्थान निश्चित ही बादशाह के अहम् का एलान करता है।

राजमहल

मुसलमानों के राजमहल हम जैसे दिखाई देते हैं वैसे विजयनगर, गुप्त, चालुक्य, पल्लव अथवा राजाओं के महल दिखाई नहीं देते हैं। उन्होंने तो उन बादशाहों से भी ऊँची संस्कृति की प्रेरणा दी है। अपने महलों के निर्माण में उन्होंने पत्थर की जगह लकड़ी का प्रयोग अधिक कराया। उनके बनवाये मंदिर, गोपुर आदि तो बच गये हैं पर महल तो उन्हीं के समान ध्वस्त हो गये। हिन्दू राजाओं के महल देखने के लिए हमें राजस्थान जाना चाहिए। आम्बेर, जयपुर, उदयपुर आदि नगरों में ऐसे भवन हैं। तेरह वर्ष पहले एक बार मैं आम्बेर गया था। पहले जब मैं जयपुर गया था तो पास ही आम्बेर नहीं जा पाया था। चाहे ही जयपुर के महल या मन्दिर हों या आम्बेर के महल हों, वे मुगलों की वास्तुकला से कहीं भी कम नहीं हैं। राजपूतों ने बड़े ऊँचे स्तर का जीवन बिताया था। वे शृंगारप्रिय थे और और रसिक भी थे। गर्व और साहस से भरे हुए थे। उनके द्वारा बनवायी गयी इमारतें भी वैसी ही हैं। झूठे गर्व और दायादि मात्सर्य के कारण ही मोहम्मद गोरी का [illegible] किया गया। उस समय शुरू हुआ हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य अन्त में पाकिस्तान के रूप में परिणित हुआ।

प्राचीन समय ही क्या पर्याप्त है ?

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तब [illegible] का इतिहास पढ़ा था। भारत पर शासन करनेवाले राजाओं के जन्म और मृत्यु की तिथियाँ याद भी की थीं। पानीपत के युद्ध में मराठों ने कहाँ हार खायी थी, पानीपत में इब्राहिम खाँ गारदी ने कहाँ [illegible] लिया था—यह सब जब पढ़ा तो था पर सब भूल गया हूँ। केवल ऐसे विवरण से क्या इतिहास की सच्ची कल्पना हो सकती है? राजाओं के [illegible] का ब्योरा ही क्या इतिहास है? इतिहास केवल राजाओं की [illegible] होना चाहिए। वह तो जन-जीवन को बनाने [illegible] और अवनति का सूक्ष्म विवेचन [illegible] चाहिए। [illegible] एक प्रयोग का अनुभव [illegible]
[illegible]
[illegible]

रचनाए पढी। अब इतिहास अच्छा लगने लगा। विश्व के इतिहासकारों म वल्स और डूराण्ट पसन्द आये। मेरा भारत कैसा है ? किस किस नागरिकता के आकर्षण और भवर मे फँसकर वह आगे बढा है, यह तब पता चला। चीन और मिस्र का इतिहास भी हमारे जितना ही पुराना और महान है। एक ओर आज लोग उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर सुख और सतोष का जीवन बिता रहे हैं, दूसरी ओर हम जैसे प्राचीन इतिहास की धरोहरवाले सो रहे हैं।

दूर और पास

हमारे गाव में ही

अपने गाँव के प्रति अभिमान कोई अपराध नही। लेकिन वह यदि हमारे मन को गाव की सीमा में ही बाँधे रखे तो व्यक्तित्व के विकास में बाधा आ सकती है। अन्यथा वह एक आवश्यक प्रवृत्ति है। जो अपने घर में ही सौन्दय नही पहचान पाये वह ससार का सौन्दय भला कैसे पहचान पायेगा ? अब मैं यह कैसे बताऊँ कि मेरा घर कौन सा है ? यदि मैं दक्षिण कन्नड जिला कहूँ तो वह सृष्टि के सौन्दय की खान है। वहाँ से मुझे जो पालन पोषण मिला वह अनुपम है। बाद मे अपनी विद्या और प्रवासो से जो ज्ञान मिला उससे मैंने समझा कि दूसरे स्थानो में और अपने जिले में देखने को अनेक कला स्मारक हैं। उनके बारे मे मैं यहाँ मोटे तौर पर कहना चाहता हू।

वास्तुकला

हमारे यहाँ पर वास्तुकला के नाम पर केवल देवालय हैं। उनमे अधिकाश शिवालय हैं। कुछ जिनालय भी हैं। इस प्रदेश में अधिक वर्षा होती है इसलिए यहाँ के मन्दिरो की छतो की बनावट महाबलिपुरम् के रथों की भाँति अथवा चैत्यालयो के भीतरी भागो की तरह होती है। ये छतें भले ही ताँबे से मढ़ी हो या पत्थर से निर्मित हो भीतरी शिल्पकला को भुला देती हैं। यह बात ध्यान मे रखकर इन वास्तुकला के सौन्दय का अध्ययन करना चाहिए। मूडबिद्रि का जिनालय, कारकल का जिनालय और कुछ शिवालय हमारे पश्चिम करावली के वास्तुशिल्प का वैभव दिखाते हैं। उनके भीतरी भाग की रचना के बारे मे बहुत समय गर्भगृह के आगेवाले नवरंग अथवा मण्डप भी देखने होते हैं। ये कुछ मन्दिर अपनी छतो और स्तम्भों के कारण भव्य हैं। उडुपि, कोटेश्वर, बसरूर, मूडबिद्रि आदि स्थान इनमे प्रमुख हैं। इन मन्दिरो के निर्माण का समय भी दसवी शताब्दी के आस-पास तक आका जा सकता है। बारकूर के पुरातन मन्दिर गोपुर

हम वास्तुकला की विशिष्ट जानकारी दे सकते हैं।

शिल्प

उत्तम शिल्प के कुछ नमूने तो हमारे जिले में भी हैं। थाल्लूर और कमण्डर की कांसे की बनी द्वारपालों की प्रतिमाएँ बहुत भव्य हैं। कदरी देवालय किसी जमाने में बौद्ध विहार था, बाद में यह शिवालय के रूप में परिवर्तित हो गया। वहाँ कांसे की बनी तीन भव्य प्रतिमाएँ जो आज तक बची हैं कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। कोल्लूर की मूकाम्बिका का विग्रह भी बहुत सुन्दर है। परन्तु हमारे अधिकांश देवालयों में भक्तों की कृपा से मूल विग्रह ही गायब हो चुके हैं।

इनके अतिरिक्त, वेणूर और कारकल में जैनियों द्वारा निर्मापित महाशिल्प कुछ ही शताब्दी पूर्व के हैं लेकिन उनके निर्माण में बहुत बड़े स्वप्न देखे गए हैं, इनमें कारकल की बाहुबली की प्रतिमा और उसके स्थापना-स्थल का याद करने पर उन लोगों की सौंदर्यप्रज्ञा के सम्मुख हमें नतमस्तक होना पड़ेगा।

अपने नजदीक की कला के बारे में इतना कहना ही काफी है। भारत के कई प्रवासों के बारे में मैं अब तक काफी लिख चुका हूँ। इन प्रवासों की बात समाप्त करने से पूर्व यदि अपने विदेशी प्रवासों के बारे में कुछ लिखूँ तो अप्रासंगिक नहीं होगा।

अति अभिमान

मैं और मेरे सहपाठी उस समय के हैं जिन्होंने परतन्त्रता से स्वतन्त्रता का युग देखा है। जब भारत परतन्त्र था तब हम अपनी प्रत्येक कमी के लिए अंग्रेजों को ही दोषी ठहराते थे और हममें यह भी भावना काम करती थी कि भारतीय धर्म, मत और जितना जो भी है सब श्रेष्ठ है। अपने यौवन में पढ़ी [illegible] भारतीय लेखकों की रचनाओं के अध्ययन से वह आत्म-गौरव मुझमें बैठ गया था। मेरे भीतर अपनी संस्कृति के प्रति अभिमान सदा-सर्वदा भरा था फिर भी हमारे शिल्प, चित्र और वास्तुकला आदि का सौन्दर्य समझने में मुझे हैवेल, फर्ग्युसन जैसे विदेशियों की पुस्तकों से ही सहायता मिली, साथ ही एक सिंहली लेखक आनन्दकुमार स्वामी की लिखी पुस्तकों से। इन लेखकों की पुस्तकें ही मेरी आकांक्षाओं को विकसित करने और विविध प्रवासों की प्रेरणास्रोत बनीं। उन्होंने ही अन्य देशों की शिल्प वास्तु चित्रकला के बारे में ज्ञानार्जन का प्रयास किया। जब मैं 'कला प्रपंच' लिख रहा था उस समय इन विषयों पर पढ़ना अनिवार्य हो गया था।

बाहर का जगत

तब बाहर भी एक सुन्दर जगत है, कलाप्रेमी म, सस्कृति के बारे म जीवन्त लोग हैं यह विचार पैदा हुआ। प्राचीन नागरिक सस्कृति के बारे म मैंने जब समझना शुरू किया तब इण्डोनेशिया, इण्डोचीन, चीन, जापान मिस्र, ग्रीस रोम आदि की पुरातन युग की महान साधनाओ का बोध होने लगा। यूरोप की चित्रकला तथा शिल्प का ज्ञान मुझे केवल पुस्तकीय था। उन मूक चित्रो और शिल्पो के बारे म और जानने का कौतूहल बढ चला। तब मुझे लगा कि हम इन क्षेत्रो म इतने आगे नही बढे हैं। चित्रकला मे पाश्चात्यो के बाद चीन और जापान भी हमसे आगे है। इससे सम्बधित उद्योग और व्यवसायो मे भी यही बात है। चीनियो के चीनी मिट्टी के बतन वनशियन काँच के सौदय के बारे म मुझे जानने की बहुत इच्छा हुई।

मैं अपनी वास्तुकला के बारे म पढकर दूसरो के मुकाबले यही महान है समझा था। इस धारणा के कारण अबतक कूपमण्डूक ही बना हुआ था। पर अब मैंने बेबीलोन, सीरिया ग्रीस, मिस्र, रोम के राजाओं द्वारा ईसा से पूव निर्मित अदभुत इमारतों और चित्रो के बारे म पढा तो मुझे अपने कला गौरव के बारे म जरा नरम होना पडा। साथ ही यह इच्छा भी हुई कि क्या कभी अवसर नहीं मिलेगा कि भारत से बाहर के जगत को कभी चार दिन को देख आऊ। जापान, जावा बाली आदि पूर्वीय देशो ने भी मेरे मन को आकर्षित किया। यूरोप देखने की मेरे मन म प्रबल लालसा हुई। पर उन दिनो इच्छा जितनी बडी थी जेब उतनी ही खाली थी। चार बच्चो का परिवार मैं बडी कठिनता स चला पा रहा था। देश मे मेरा नाम, कीर्ति खूब फल चुकी थी पर उससे नाम का चौथाई पसा भी नही मिलता था। कज भी हो गया था। उन्ही दिनो यूरोप म रूस और अय पाश्चात्य देशो के बीच द्वेष बढ रहा था। मुझे लगा कि यदि दूसरा महायुद्ध छिड गया तो मेरी यह इच्छा कभी पूरी नही हो पाएगी। इसलिए कज लेकर भी यूरोप की यात्रा की योजना बनाने लगा।

मित्रो की प्ररेणा

मेरा एक बडा भाइ और एक छोटा भाई सन् 1951 म यूरोप घूम आये थे। मेरे कलाकार मित्र हेब्बार भी एक दो वष परिस म बिताकर लौटे थे। इसी बीच मेरे बडे भाई चुनाव के अखाडे म भी उतर पडे। उनके ससद स्थान की सहायता देने को मैं असम्बली सीट के लिए खडा हुआ। मुझे गांधीजी के बाद की काँग्रेस पर तनिक भी आस्था नहीं रही थी। उसी अनास्था को जताने का अवसर देख मैं उस चुनाव म उतरा था। हम दोनो भाई हार गये लेकिन मेरा आत्मविश्वास यही

नहीं मानता था कि मेरी हार हुई। वह एक कड़वा घूंट था।

उस चुनाव के बाद सन् 1952 में मैंने फिर एक बार यूरोप जाने का निश्चय किया।

पाश्चात्य देशों में

बच-बच करके आठ हजार रुपये के भीतर ही मुझे प्रवास पूरा करना था। यान जान का खर्च ही तीन हजार रुपये थे। बाकी के पैसों से मुझे अपनी सारी इच्छाएँ पूरी करनी थीं। इसलिए तीन मास से अधिक का भ्रमण सम्भव न था। मेरी अभिरुचियाँ चाहे जितनी भी रही हों, पर मैंने कुछ ही विषयों को लेकर प्रवास का निश्चय किया। मेरे प्रवास का मुख्य उद्देश्य ललित कलाओं का परिचय और वहाँ के प्रकृति सौन्दर्य देखना भी था। उसीके अनुसार, यूरोप में कुछ देशों के भ्रमण का कार्यक्रम बनाया। कला आराधकों के प्रिय इटली और फ्रांस में मैंने एक पखवाड़ा बिताया। इंगलैण्ड में कुछ मित्र थे अतः वहाँ भी तीन दिन काटे। शेष दिनों में नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, जर्मनी, बेलजियम, हालैण्ड और स्विट्जरलैण्ड में घूमता रहा।

इस प्रवास के दौरान यूरोप की प्रसिद्ध चित्रशालाओं को मैंने एक-एक कर देखा। मेरा सारा समय वास्तुशिल्प और चित्रकला देखने में बीता, वह भी पुरातन कला संग्रहों में। उनके बारे में मैंने अलग ही एक पुस्तक 'अपूर्व पश्चिम' के नाम से लिखी है।

प्रकृति प्रेमी लोग

मुझे अपने जिले पर बहुत अभिमान है। गाँव में आस-पास के पहाड़, नदी, समुद्र, वर्षा ऋतु की हरियाली और आकाश जब नीलिमा से भर उठता, तब वह सब मुझे स्वर्ग-सा दीखता। तब मुझे अपना मलेनाड छोड़कर कहीं दूसरी जगह में जाने में उतनी खुशी नहीं होती। मेरा विचार था कि यूरोप में ऐसा सौन्दर्य कहाँ? पर मुझे वहाँ यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। यह कि बात एकदम गलत नहीं है, वहाँ के समशीतोष्ण प्रदेश जैसा सौन्दर्य हमारे यहाँ भी नहीं है। जब मैं पहली बार यूरोप पहुँचा उस दिन वहाँ वसन्त के दिन थे। तब इंगलैण्ड में उसके पहाड़ और नालों में हरियाली का साम्राज्य था। इटली के कुछ भू भाग छोड़कर यूरोप में कहीं भी प्रकृति के सौन्दर्य का अकाल नहीं है। झीलों का देश स्कॉटलैण्ड, सरोवर, जंगल और पर्वतों से घिरा नार्वे तथा स्विट्जरलैण्ड आदि देशों का तो कहना ही क्या! ये तो मुझे अत्यन्त मनोहारी लगे।

एक और मुख्य अन्तर है। उन देशों के लोगों में प्रकृति के प्रति प्यार है उसे पहचानने की क्षमता है। इसी बात पर मैं अत्यन्त ... न दम पहुँचेगा ? ... ऐसे

के किसी स्थान पर जाकर छुट्टी का समय गुजारने की उनकी आदत सी है। व ज्हाँ जाते है वह स्थान ग दा नहा करते । लगता है, हममे इस सौदय का भूख ही नही है।

गर्व की बात

इससे पहले मैंने अजन्ता, साँची और एलोरा के बारे म कितन अभिमान स नही लिखा! एसा समय भी था जबकि मैं यह समझता था कि आकार और भव्यता म एलोरा का गुहालय अद्वितीय है। परन्तु इस यात्रा म गीजा के पिरामिड स्फिंक्स की मूर्ति देखकर गामटेश्वर को भी भूल गया। रोमनगर क कालिसियस जैसे प्रेक्षागृह दखने पर एलोरा पीछे रह गया। लूव्रा का महल, वसले का महल, डागे महल सेंट पाल कथेड्रिल जसी वास्तुकला को देखने पर लगा कि मनुष्य जब तक दुनियाँ का भ्रमण नही कर लेता, तब तक उसका ज्ञान अधूरा ही रहगा।

चित्रकार और शिल्पी

यूरोप म ग्रीको के समय से आज तक कितने शिल्पी हो चुके हैं, चित्रकार हो चुके है। उन्होंने क्या किया जनता उनको क्यो सम्मान देती है यह बात वहाँ जाने के बाद ही समझ म आ सकती है। उनके बारे म हम दूर रहकर मात्र पढ़ सकते हैं। उनम जिस प्रकार कला स्मारको को देखन की इच्छा बनी रहती है उसी प्रकार स्मारकों की रक्षा करने का प्रयत्न भी वहाँ दिखाई देता है। ठीक इसके विपरीत है हमारे यहाँ! अमूल्य स्मारको के बारे म ऐतिहासिक दृष्टि से या सौंदर्य शास्त्र की दृष्टि से यदि हम कुछ जानना चाहे पढना चाहे तो ढग की चार पुस्तकें भी नही है। ऐसे अभाव को हमारा झूठा अभिमान पूरा कर देगा?

'वाह ताजमहल! ओह साँची! अहा हलेबिड के क्या कहन!' यह सुनते ही हम म बिजली-सी दौड जाती है। पर इसस हमारा ज्ञान नहीं बढता, हम म अभिरुचि नही बढती। उन्हें समझने का हम म कलाशास्त्र का ज्ञान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और आलोचनात्मक बुद्धि भी होनी चाहिए। यूरोप के कुछ देशो म इस हिसाब मे विशेष काम हुआ है। हम लोग तो केवल बातो स ही पेट भर लेते हैं।

नाटक और नृत्य

मैंने अपने यौवन का अधिकाश भाग नाटक और नृत्यो के प्रयोगो म बिताया है। इसलिए वहाँ के नाटक और नृत्य देखने की बडी इच्छा थी परन्तु ऐसे प्रदर्शन देख पाना चार दिन के प्रवासी के लिए सम्भव नहीं। वहाँ ऐसे बहुत से नाटक रह होने पर भी प्रसिद्ध थियेटरो म तो महीने दो महीने पहल ही टिकट

बिक जाते हैं। यदि मुझे अपने मित्र से सहायता न मिली होती तो कुछ भी देख पाना सम्भव न हो पाता। लन्दन पहुँचते ही स्टैफोर्ड में चलते रहे शेक्सपीयर के एक नाटक के टिकट हासिल किये। लन्दन में ही सैडलरवेल्स द्वारा निर्देशित बैले भी देखा।

इसी प्रकार पैरिस में न्यूयार्क से आया एक बैले तथा स्पेन से आया एक बैले देखने का अवसर मिला। ऐसे नृत्य-नाटक तथा संगीत-नाटक देखकर अच्छी तरह परिचय प्राप्त करने के लिए मेरे पास समय ही नहीं था। यह भी कहा जा सकता है कि उसके लिए अपेक्षित पूर्व संस्कार भी मुझ में नहीं थे। पर मैं मुक्त मन से यूरोप गया था अतः वे सारी बातें मुझे अच्छी लगीं।

वहाँ के लोग

दूसरा महायुद्ध समाप्त होने के बाद ही मैं यूरोप गया था। युद्ध समाप्त हुए केवल सात वर्ष बीते थे। उस युद्ध का कितना प्रभाव पड़ा होगा यह देखने की मुझे बहुत इच्छा थी। मैं यही कल्पना लेकर यूरोप गया था मानो घायल होकर अस्पताल में पड़े व्यक्ति को देखने जा रहा होऊँ पर वहाँ का चित्र एकदम कुछ और ही था। हजारों विमानों से आक्रान्त लन्दन, हम्बर्ग, मिलान आदि चाहे बड़े नगर हों या छोटे—जिस समय मैं वहाँ गया तब वे, जैसी मेरी कल्पना थी, वैसे नहीं दीखे। जहाँ-तहाँ नयी नयी इमारतें उभर रही थीं। 'यहाँ सचमुच युद्ध हुआ होगा?' यह सन्देह होने लगा। इतनी थोड़ी-सी अवधि में वहाँ के लोग न केवल युद्ध के घाव भर चुके थे अपितु नयी चेतना और स्पर्धा से अपना निजी का जीवन सँवारने में लगे हुए थे—यह देखकर मुझे महान आश्चर्य हुआ। उन्होंने सिखा दिया कि मानव में 'जीना चाहिए, अच्छी तरह जीना चाहिए' यदि यह संकल्प हो और उस संकल्प के अनुकूल श्रम करने की शक्ति हो तो क्या कुछ किया नहीं जा सकता। जब भी मैं अपने देश के कामचोरों और वेदान्तमतों को देखता हूँ तो मुझे उन देशों के लोगों की कार्य क्षमता की याद आये बिना नहीं रहती।

एक और सुन्दर बात है। उपर्युक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ के लोग आलसी नहीं हैं। अब यह देखना है कि सार्वजनिक जीवन में भी उनका व्यवहार अनुकरणीय है? पौर्वात्य संस्कृति की महानता और उसके बारे में जब आत्मश्लाघा की बातें सुनता हूँ मुझे और भी आश्चर्य होता है। निजी जीवन में, व्यापार और अन्य व्यवहारों में भी विशेष प्रामाणिकता उन लोगों में दिखाई दी। चोर बाजारी और धोखेबाजी बहुत कम है। मैंने अपने प्रवास के लेखों में अपने अनुभवों के कुछ उदाहरण दिये हैं। दूसरों के साथ भी उनका व्यवहार बहुत शालीन और सहयोगी है।

मेरे मन में यह डर था कि केवल इंगलैण्ड में ही अंग्रेजी से काम चल पायगा परन्तु मुझे दूसरे देशों में भी कुछ लोग अंग्रेजी जाननेवाले मिले। अतः इटली और फ्रांस इन दो देशों के अतिरिक्त मुझे कहीं भी भाषा की दिक्कत नहीं हुई। मैं यहाँ से जाते समय कुछ लोगों के नाम परिचय पत्र लेकर गया था। यह डर था कि आपत काल में कोई न कोई सहायता तो चाहिए ही। पर ऐसे कुछ ही पत्रों का उपयोग किया गया। अधिकांश पत्र वहाँ के विद्वानों के नाम पर लेकर गया था।

मेरे मित्र डा आर्नल्ड बाके लन्दन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। लन्दन जाने पर मुझे पुनः बाके दम्पती का स्नेह मिला। उनके कारण ही उनकी बहिन और उनके अन्य मित्रों के परिचय ने मेरे हालैण्ड प्रवास को सुगम बनाया। सन 1960 में वे हमें सदा के लिए छोडकर चल दिये—यह समाचार सुनकर मुझे बहुत आघात लगा।

उसी लन्दन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ हाइमन डाफ के लिए मैं डा एम एन श्रीनिवास से परिचय पत्र ले गया था। वे मानवशास्त्र के पण्डित थे। डा और उनकी पत्नी बट्टी को भारत के प्रति बहुत लगाव था। उन्होंने पहले भारत में काम भी किया था। मैंने उन्हें औपचारिकता से भारत आने का निमन्त्रण दिया। चार वर्ष बाद वह दम्पती पुत्तूर आये और मेरे साथ एक सप्ताह रहे। मैं उन्हें अपने मलेकुडी (एक विशिष्ट पहाडी जाति) के पास ले गया। उस महान् विद्वान और सरल व्यक्ति से परिचय होना यूरोप में मेरे प्रवास की एक उपलब्धि थी।

इस प्रकार यूरोप में मेरा कई लोगों से परिचय हुआ। पर बाद में उनसे मेरी भेंट न हो सकी। पुनः जिनसे भेंट हो सकी उनमें जान बॉवेस का नाम लिया जा सकता है। मैं जिन दिनों पेरिस देखने गया, वे यूनेस्को में शिक्षा विभाग के अध्यक्ष थे। उनसे परिचय हुआ। बाद में वे अपनी संस्था की ओर से भारत भी आये। मैसूर में यळवाल के पास उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी एक कार्यशाला चलायी। उस समय मैं उनसे कभी कभी मिला करता था और कुछ पुस्तकें लिखने में भी उनका सहायक रहा। तब मुझे ऐसा लगा कि केवल बातचीत की मित्रता की अपेक्षा समान रुचि के विषयों में एक साथ काम करने का अवकाश मिले तो मित्रता और स्निग्ध होती है।

धार्मिक विचार

वैदिक वातावरण

मैं गाँव का हूँ, वहाँ के लोग परम्परावादी हैं। उनके लिए 'कोट' ही एक अलग दुनिया है। धर्म में उनकी अधिक श्रद्धा है। उसे अन्धश्रद्धा भी कहें तो गलत न होगा। उसका एक उदाहरण देता हूँ। हमारे गाँव में सोमयाजियों का एक घराना है। यज्ञ करने से ही उस कुलवालों का यह नाम पड़ा है। यूँ ही नहीं आया यह नाम! इस सोमयाजी घराने के पूर्वजों ने कई पीढ़ियों से यज्ञ किये हैं। हमारी पीढ़ी के एक सोमयाजी ने अपने कुल को सार्थक करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने 'अज यज्ञ' करने की योजना बनायी। वैष्णवों के समान आटे का बकरा नहीं, एकदम चलते फिरते बकरे की बलि देने की सभी प्रकार से तैयारियाँ की जाने लगीं। जब उस यज्ञ के लिए सामान जुटा रहे थे, हम भाइयों ने उसका विरोध किया। "ब्राह्मण भी कहीं यवरी करते हैं?" कह कर मजाक भी उड़ाया। पर सोमयाजी ने अपना इरादा नहीं बदला, यज्ञ सम्पन्न करके ही छोड़ा। एक बकरे की बलि दे डाली। उन्होंने उसका मुँह कस कर बाँध दिया था। खून की एक बूँद तक गिरने नहीं दी और इस विधि से एक बकरे की हत्या कर डाली। इस प्रकार इन्द्रादि देवताओं की तृप्ति करायी गयी। इतना ही नहीं, सात-आठ दिन तक मजे से लोगों को रोज अन्नदान भी किया गया। ऐसा बढ़िया खाना मिलने पर गाँव के लोग छोड़ देते क्या? हम तो केवल मजाक करते ही रह गये। गाँववालों का विश्वास था कि वह बकरा सीधा स्वर्ग गया है। मुष्टि प्रहार से उसे मारनेवाले वीर का नाम 'अडिग' था। शतायु होकर ही मरा वह व्यक्ति!

अन्धश्रद्धा

हाईस्कूल पहुँचते-पहुँचते छुआछूत, सन्ध्या-वन्दन, आदि एक-एक करके छूटने लगे। पर घर जाने पर ही बड़ों की आँखों में धूल झोंकने के खयाल से पानी में खड़े होकर नाक दबाकर स्मृति में बचे-खुचे मन्त्र बोला करता था। [illegible] मरने के बाद से वह भी छूट गया। उसके बदले, गांधीजी की बातों का असर

मान्यता की एक और अन्धश्रद्धा ने मेरे भीतर जन्म लिया। अब सोचता हूँ तो यह साफ दिखायी देता कि जब लोगों में अपनी विवेचना शक्ति नहीं होती तब एक परम्परा को छोड़कर दूसरी एक अन्धश्रद्धा में फंस जाते हैं। यदि धार्मिक अन्धश्रद्धा छूट जाय तो उसकी जगह राजनैतिक विचारधारा हावी हो उठती है। आँख खुलने से पहले ही हम किसी न किसी वाद से चिपक जाते हैं। लगता है यह बात सदा ऐसी ही रहती है।

गीता की उलझन

गाँव के नियम, आचार विचार मुझसे छूट जाने पर भगवान, आत्मा, धर्म, मोक्ष आदि विचार जो पूर्वजों से दत्तक रूप में मिले थे, मुझसे चिपके ही रहे। आमतौर पर ऐसे विचार हमारे खून में आ जाते हैं। हम बड़े होते हैं। विचार करते हैं। ऐसी बातें तो वातावरण में रहती ही हैं, उन्हीं को लेकर हम चलते हैं। इस प्रकार भाग्य, भक्ति, मोक्ष, परमात्मा आदि ऐसी श्रद्धाएं आरम्भ से मुझमें पैदा हुई, मुझे समाज से मिली। गाँधीजी के प्रभाव से यह श्रद्धा और विकसित हुई। रामकृष्ण परमहंस की रचनाएँ पढ़ने के बाद मेरे भीतर भक्ति मार्ग में और अधिक आस्था हो गई। उन दिनों मैंने बहुत पुस्तकें तो नहीं पढ़ी, पर भगवद् गीता कण्ठस्थ किया करता था। अनुवादों के द्वारा उसे समझने का प्रयास करता था। एक दिन थोड़ी सी संस्कृत जानने पर भी मुझे गीता का कन्नड़ अनुवाद करने की इच्छा हुई। उसका मुख्य कारण यह था कि हमारे देश के सभी आचार्यों ने गीता की अपने अपने ढंग से व्याख्या की थी। शंकराचार्य ने गीता से अद्वैतवाद का प्रचार किया, तो मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का, किसी और ने तो उसमें विशिष्टाद्वैत का ही अर्थ निकाला। यदि इतना ही होता तो पर्याप्त था, पर गाँधीजी तो तक शिरोमणियों से भी एक कदम आगे निकल गये। उन्होंने कहा कि गीता ने अहिंसा का उपदेश दिया, इससे मुझ जैसे की बुद्धि को भला क्या पहन पड़ता?

पता नहीं संस्कृत किस युग में बोलचाल की भाषा थी। गीता भी किसी और काल की थी। उसमें प्रक्षिप्त अध्याय भी बीच-बीच में मिलते गये। इस काल की एक भाषा को लेकर, उस जमाने के शब्दों का प्रयोग जब समझ पाना सम्भव न हो, तो लगभग दो हजार वर्ष पुरानी चिकित्सा करनेवाले लोग चाहे जो कुछ चला सकता है। जब गीता का सही अर्थ नहीं सूझता तब अपना ही एक अर्थ लगा लिया जाता है। बात केवल इतनी ही होती तो कोई बात न थी। अपने मन का एक धार्मिक निर्णय सिद्ध करने के लिए प्राचीन कृति को सारी के सारी में घसीटने का प्रयास अत्यन्त अन्यायपूर्ण है। अपने मन मुताबिक अर्थ लगाना बहुत आसान है। जो अंश ठीक नहीं बैठते उन्हें प्रक्षिप्तांश कह दिया जाता है।

हमारा एक धर्मग्रन्थ होते हुए भी यह सब उसके नकारने का प्रयास है न ?

कुछ समीक्षकों का कथन है—उस युग के क्षत्रियों की निर्वीर्यता का खण्डन करने के लिए ही इसकी रचना हुई। ऐसी भगवद्गीता को दूसरे अनुवादों की सहायता से मैंने कन्नड़ में मटटी उतारी। उसका उद्देश्य यही था कि कम-से-कम मुझे उसका अर्थ ही स्पष्ट हो जाय। पता नहीं क्या क्या अर्थ समझा और जो समझ में आया वह लिया। उसकी अनेक बातें मेरे मन को स्वीकार नहीं हुईं और न ही समझ में आयीं। एक बात तो बहुत पसन्द आयी 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। आपको लगेगा कि परिश्रम करके थक गये व्यक्ति का ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना सहज है, कौन जानता है। शायद इसीलिए मैंने उस तत्त्व को स्वीकार किया। परन्तु आज जिन बातों में मुझे सफलता मिली है केवल वह सफलता सन्तोष का विषय बनी हो ऐसी बात नहीं। मैं समझता हूँ जो काम हम करते हैं हमें उसीसे सन्तोष मिलना चाहिए। जीत ही आपको सन्तोष दे यह बात भी नहीं। हजारों में एक व्यक्ति इतना भाग्यशाली हो सकता है।

गीता के कृष्ण

जो भी हो गीता से मेरे मन में कृष्ण के प्रति अभिमान पैदा हुआ। भागवत की कहानी मैंने बचपन में सुनी थी। महाभारत के चतुर कृष्ण के बारे में भी पढ़ा था, उन दोनों व्यक्तित्वों के प्रति ज्यादा अभिमान पैदा नहीं हुआ। मेरा कृष्ण मेरा ही होकर रह गया। इतिहास में यदुवंश का राजा यह कृष्ण पता नहीं कैसा व्यक्ति था। शायद चर्चिल के समान रहा होगा। गीता इस कृष्ण ने या ऐतिहासिक कृष्ण ने कही होगी या शायद न भी कही हो। परन्तु यह हमारे हाथ तक पहुँची है तो इसका कोई प्रयोजन भी होगा। उसी ने मेरी कल्पना के कृष्ण को जन्म दिया।

कौन-सा भक्तिभाव ?

रामकृष्ण परमहंस के भक्तिभाव की पाँच साधनाएँ यानी वात्सल्य भाव, मधुरभाव, सख्यभाव, शान्तभाव आदि के बारे में पढ़ा था। उससे मैं भक्ति-भाव से प्रेरित हुआ। वात्सल्य और मधुरभाव मुझे जँचे नहीं। शेष किस भाव से ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध हो सकता है ? पर मन में यह द्वन्द्व अवश्य पैदा हुआ कि मेरा और कृष्ण का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए।

साधु वासवानी

मद्रास में सम्पन्न हुए एक राष्ट्रीय काँग्रेस के 'भारत युवक सम्मेलन' में साधु वासवानी आये थे। उनसे मेरा परिचय था। उन्होंने मैसूर आने को कहा था।

वे तीन दिन के लिए आये थे। उनके साथ रहते मैंने यह अनुभव किया कि भक्ति से प्रेरित एक जीव कैसे रहता है। साधु वासवानी तब पचास में थे। सामान्य काठी के व्यक्ति थे। बड़ा तेजस्वी मुख, मानो आँखों में सदा सपने भरे हों। वे जब बात करते या भाषण देते एक विशिष्ट कोमलता सी छाई रहती। 'कृष्ण की बाँसुरी' आदि कुछ पुस्तकें उन्होंने लिखी थी। वे रहस्यवादी थे। वे आस पास के आवरण पत्थर मिट्टी, लोग जीव जन्तु सभी में भगवान् की छाया देखते थे। मानो वासवानी के कानों में सदा कृष्ण की मुरली सुनाई देती होगी। मैंने आज तक किसी व्यक्ति के व्यवहार में ऐसी मृदुता और भावुकता नहीं देखी। मानो कह रहे हों प्रेम ही जीवन है। उनका स्वभाव, उनका जीवन, उनके गुण, सब कुछ इतना सरल और लय पूर्ण था। एक दिन उनके भाषण का समय हो चला था मैंने कहा "चलें।" उन्होंने पूछा 'क्या समय है?" मैंने कहा, 'अभी पन्द्रह मिनट बाकी हैं।" वे बोले, 'तब तक जरा आराम कर लूँ?" मैंने कहा, "ठीक है। मैं ठीक समय पर बुलाने आ जाऊँगा।" उस दिन 'रघुनाथय्या मिमोरियल हाल' में भाषण होनेवाला था। उसके पास ही 'ब्रह्म मंदिर' था जिसमें वे ठहरे हुए थे। समय होते ही मैं उन्हें बुलाने गया तो वहाँ मैंने देखा वे उघरे बदन धूल भरे फर्श पर लेटे हुए थे। लम्बी यात्रा से कितने थक गये थे वे! उनके स्नेह ने मेरे भीतर का भक्तिभाव जगा दिया। बाद में वे आगे राजकोट गये। और फिर राजकोट से और करांची से उनके और मेरे बीच पत्र व्यवहार चलता रहा। मैंने उनमें असली साधुपना देखा था।

साधक

अपनी लम्बी यात्राओं में मैं भक्ति की साधनाएँ करता रहा। मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम का अभ्यास किया। चाहे किसी भी गाँव में जाऊँ, प्रातःकाल या आधी रात में उठकर गाँव से बाहर जाकर कहीं बैठकर ध्यान मग्न हो जाता। कुछ वर्षों तक ऐसे ही भटकता रहा। मुझे कृष्ण में आस्था थी। पर मुँह से निकलनेवाले गीत राम सम्बन्धी होते थे। राम और कृष्ण की मूर्तियाँ मेरे मन में एक के बाद आया करती थीं। भगवान का ध्यान करने बैठें तो क्या ध्यान करें? उसके रूप का, गुण का अथवा उसके चरित्र का? चाहे कितना भी प्रयत्न करूँ, भगवान पर चाहे कोई रूप आरोपित करें उसमें मानव के गुण ही आरोपित हो जाते हैं। मैंने जिस सत्य को, दया को प्रेम को क्षमा को देखा उसी को तो मैं भगवान में आरोपित कर सकता हूँ। ऐसे गुणी व्यक्तियों के चित्र में ही मैं अपने कल्पना के कृष्ण को देख सकता हूँ। यदि रूप की कल्पना करूँ तो मेरी अपनी सीमाएँ ही आड़े आती हैं। मनुष्य का रूप ही भगवान पर आरोपित होता है। काव्य में वर्णित नीलमेघ श्याम मुरलीधर मानव बनकर रह जाते हैं। जब उस

भगवान के रूप की याद करता हूँ तब जिस कृष्ण के रूप को मैंने देखा था वही रूप मेरे सामने आता है। दूसरा कृष्ण दिखाई ही नही देता। कुछ लोगो के लिए राजा रवि वर्मा का कृष्ण ही दिखाई दे सकता है। नन्दलाल वसु का कृष्ण मुझे दिखाई दे सकता है। एक बार मेरे लिए रोने का मौका ही आ गया। जब मैंने देखा कि मेरी इतनी साधना के बाद मेरे मन के सामने जो कृष्ण का रूप आ खड़ा हुआ वह किसी नाटक कम्पनी में देखे एक बाल कलाकार का रूप था।

अपना सा ही भगवान

यू कहना चाहिए कि उस एक घटना से मेरे सारे ध्यान, चिंतन समाप्त हो गये। तब मुझे लगा कि मानव जिस देवता की कल्पना कर सकता है या देवत्व के गुण देख सकता है वह उसकी कल्पनाशक्ति पर तो निर्भर होते हैं। जीवन में जिन महान गुणों को नहीं देखा, नहीं अपनाया गया वे गुण हमारे ध्यान में आ सकते हैं? देखते समय भी वही सीमा रहती है। मानव के लिए भगवान विश्व का भगवान होने पर भी उसका रूप मानव का ही रहता है। भारतवर्ष के भक्तों के लिए कृष्ण भारतीय हैं। उनका वही सौन्दर्य है जो सौन्दर्य हम बच्चों में देखते हैं। उसी को आरोपित करते हैं। रही उसके रंग की बात, प्रकृति में हम उसे आरोपित करते हैं। इसलिए ऐसा लगा कि जब तक मानव महान नहीं बनता तब तक उसका भगवान महान् नहीं बन सकता।

संस्कृति की सीमा

विश्व के इतिहास में पाठकों को यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल के देवता और उनकी संस्कृति उस वातावरण की सीमाओं से प्रभावित रहती है। विश्व के भगवान को मानव का आकार भला क्या धारण करना चाहिए? भारत में ही विष्णु नाम के भगवान को दस अवतार क्या धारण करने चाहिए थे। इसका कारण यह है कि भारतीय भगवान का निर्माण भारतीयों ने किया। वह भगवान हमारे बराबर ही उभर होता है। वह हमारे जितना ही कामी है और हमारे जितना ही प्रेमी है। जब मेरे मन में ऐसे विचार विकसित होने लगे तब मुझे धर्म के बारे में दूसरा ही दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। इस संसार को चाहे जिसने बनाया हो भले हो भगवान ने ही इसका निर्माण किया हो, या हम दुनिया को ही भगवान मान लें पर हमारा भगवान तो हमारे मन की कल्पना, बुद्धि और इन्द्रियानुभव जन्य है। गीता की एक बात यहाँ सटीक लगती है। भक्त मेरा जिस रूप में ध्यान करता है मैं उसी रूप में उसे दर्शन देता हूँ।' कितनी सहज है यह बात! अपने भीतर ही हम जिस भगवान का सृजन करते हैं अपने संस्कार के अनुसार

ही हम उसे रूप देते हैं। उसका अन्य रूप भला कैसे आ जाएगा ? अपनी ही सृष्टि का सदा ध्यान करते हुए उसी के साक्षात दर्शन पाने का प्रयत्न सदा भक्त करता है। कलाकार के सौंदर्य दर्शन का मार्ग भी ऐसा ही है। अतः मुझे भगवान न जीवन ही प्रमुख लगा। शायद इसलिए गौतम बुद्ध ने भगवान का नाम उठाया ही नहीं। उन्होंने जीवन के बारे में ही कहा। वे न आस्तिक थे न नास्तिक। उन वाद का सार है— जब तक जीओ तब तक विश्व के जीवन के साथ एक होकर जीओ। तब जाकर जीवन के मृत्यु दुःख दर्द और सुख दुःख के अर्थ पूर्ण होते हैं।'

पहुँच से परे

इस वाद से भिन्न भगवान की व्याख्या का एक मार्ग और भी है जिसमें भगवान का निर्गुण और निराकार रूप देने का प्रयास है। हमारे मन बुद्धि और इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। उनसे सगुण और साकार की कुछेक बातें समझी जा सकती हैं। निर्गुण और निराकार की कल्पना तो पहुँच से परे की बात है। वहाँ तो हम उन्हें नाम भर दे सकते हैं।

जीवन मुख्य है

मेरे लिए जीवन ही मुख्य है अतः जीवन को समझने के साधन भी उतने ही मुख्य हैं। इन्द्रियाँ हमारी वैरी नहीं। उनसे विकसित होनेवाली बुद्धि और मन भी हमारे वैरी नहीं हो सकते। वे हमारे जीवन के प्रमुख साधन हैं। ऐसे विचारों के कारण इस जगत, जीवन और जीवों के बारे के मे मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया। 'बाळनेय बेळकु' (जीवन ही प्रकाश है) पुस्तक में मैंने इसकी विस्तार से चर्चा की है।

अपने जीवन में अपनी शक्ति और स्वभाव को पहचानकर उसी से, जितना विशाल जीवन जिया पाना सम्भव है उसी में मुझे तृप्ति है। मुझे कल की परवाह नहीं। मेरा ध्यान आज पर ही रहता है। ऐसा निर्णय करने से पूर्व मैंने 'बसन्त' पत्रिका में एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था 'मुझे मोक्ष नहीं चाहिए'। मैंने लिखा था कि जब जगत के इतने जीवों का माया में फँसकर छटपटाना सत्य है तो भला अकेले का स्वतन्त्र होने का प्रयास स्वार्थ ही है। आज भी ऐसा ही लगता है। आज मुझे मोक्ष आवश्यक नहीं लगता। लेकिन जो यह सोचते हैं—मुझे दूसरों के लिए बचे रहना चाहिए—यह इच्छा भी मुझे स्वार्थ ही लगती है।

निसर्ग ही भगवान का मन्दिर है

मेरा भक्ति भाव ही मुझे कुछ यात्रा स्थलों पर ले गया। काशी-यात्रा के बारे

मे मैंने पहले बताया है। अपने मन के समाधान और असमाधान बने कुछ और प्रश्नों का यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ। लोगों की भीड़ से खचाखच भरे मंदिर मेरे मन में जुगुप्सा पैदा करते हैं। उसमें भी जब उस क्षेत्र के पण्डे पीछे पड़ जाते हैं तब रही सही भक्ति भी अदृश्य हो जाती है। हम लोगों में भक्ति एवं व्यक्तिगत भाव न होकर प्रदर्शन की वस्तु बन गयी है। शायद इसीलिए अधिकांश मन्दिर व्यापार केन्द्र बनकर रह गये हैं। मन के लिए अपेक्षित शांति ऐसी जगहों में कैसे पायी जा सकती है? प्रकृति के नदी समुद्र पहाड़, आकाश से जो शांति मुझे मिली वह मैंने मंदिरों में नहीं पायी। फिर यात्रा-स्थल तो व्यापार केन्द्र बन चुके हैं। कई मंदिरों में तो विग्रह भी सुन्दर नहीं हैं। यदि मूर्तियों को भक्ति की प्रेरणा बनना हो तो उन मूर्तिकारों को भी भक्त होना चाहिए। ऐसे विग्रह तो हम दस विश्व के वस्तु संग्रहालयों में ही मिल जाते हैं। जो प्रतिमाएँ हैं उन्हें हमारी भोली जनता अलंकारों से विकृत कर देती है। लोगों को शिल्पी के सपने में विश्वास नहीं सोना, चाँदी, हीरे, मोती ही उनके मन को आकर्षित करते हैं। ऐसे अनुभवों ने ही मुझे 'गर्भगुडी' नाटक लिखने को प्रेरित किया।

मन्दिर जो सबके लिए नहीं

भक्ति से प्रेरित होने पर भी, एक और मुख्य कारण रहा आया जिससे मंदिरों में जाना छोड़ दिया। एक बार मैं अपने जिले के धर्मस्थल नाम के स्थान पर गया। मेरे साथ जानेवाले मेरे वापस आने तक बाहर ही खड़े थे। पूछने पर पता चला कि वहाँ हरिजनों और वेश्याओं के कुलवासों को प्रवेश नहीं मिलता। उस बात से इतना दुःखी हुआ कि वहाँ भोजन के लिए भी नहीं ठहरा और वहाँ से तीन कोस पैदल चल बेलतंगडी पहुँचा। उस दिन भोजन भी मुझे अच्छा नहीं लगा। उसके बाद से मैंने सभी प्रकार के मंदिरों में जाना बन्द कर दिया।

अजन्ता और कार्ले के चैत्यालयों में खड़े होने पर जो मन को शान्ति मिलती है वह साधारण नहीं। एक दो बार दूसरी जगहों पर भी गया। एक बार मैं मथुरा वृन्दावन गया था। तब मेरे साथ मेरे कुछ मित्र थे। पिछले अनुभव ही मन में जुगुप्सा पैदा कर रहे थे। मथुरा रेलवे स्टेशन पर ही एक पण्डा पीछे पड़ गया। मैं जहाँ भी जाता वह मेरे पीछे-पीछे आता। दुकान से दूध पीने पर उसे दलाली मिली। हम जिस ताँगे पर बैठे उस ताँगेवाले से भी उसने दलाली माँगी। भगवान के नाम से लूटकर ही उनका जीवन चलता है। यमुना घाट पर भी वह हमारे पीछे-पीछे पहुँच गया। उपेक्षा करने पर भी हमारे पीछे लगा रहा। हम वहाँ से आठ मील दूर वृन्दावन गये। वहाँ एक की जगह दस पण्डे इकट्ठे हो गये। वहाँ का मंदिर बड़ा वैभव सम्पन्न था लेकिन उसे देखकर भक्ति की प्रेरणा नहीं।

मिली। 'पण्डा को हम पैसे नहीं देंगे" कहकर फटकारा और हम वृन्दावन से चल पडे। पास ही चमेली का एक बगीचा था। वहाँ जरा शान्ति थी। मनोहारिता न होने पर भी हमारे मानसिक संस्कारों के कारण कृष्ण की स्मृतियाँ जगने पर मन को सन्तोष हुआ।

इस सिलसिले में सांस्कृतिक दृष्टि से यदि कोई और स्थान प्रिय लगा तो वह था कलकत्ते का दक्षिणेश्वर मन्दिर। रामकृष्ण के जीवन के प्रति मेरे मन में आस्था होने से हुगली नदी के किनारे पर बने उस मन्दिर को देखकर मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ। वहाँ ज्यादा भीड़-भाड़ भी न थी। वहाँ की काली की मूर्ति के सम्मुख खड़े होकर तनिक ध्यान लगाने का प्रयास किया। पर उस मूर्ति ने मेरे मन में कोई विशेष आकर्षण पैदा नहीं किया। साधारणतः काली के प्रति मेरे मन में कोई भक्ति या प्रेम की भावना पैदा नहीं हुई। मूर्ति ऐसी होनी चाहिए कि हमारा मन उसमें रम जाय।

मन्दिर के पास का पंचवटी वन भी देखा। वह रामकृष्ण की साधना की ही भूमि है न ! एक ओर निसर्ग और दूसरी ओर उसके प्रति गौरवभाव—इन दोनों के होने से मुझे वहाँ बड़ी शान्ति मिली।

यह ग्रामोद्धार

स्वतन्त्रता

अपने पुराने कर्ज मुझे पिताजी की सहायता से चुकाने पड़े। मैंने जो कमाया, वह देशयात्रा, पुस्तकें और फोटोग्राफी आदि में ही उड़ गया। आगे से कमाने के लिए कोई उद्योग शुरू करना चाहता था। पर अपनी अभिरुचि के विरुद्ध अथवा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बेचकर पैसा कमाने की इच्छा न थी। यदि ऐसा कोई काम कर भी लेता तो तीस चालीस रुपये मासिक तक कमा सकता था। मैट्रिक पास करनेवाले बहादुर को उस जमाने में इससे ज्यादा और क्या मिल सकता था? इसलिए अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ही रक्षा करता चला। मैं अपना मालिक आप था, यह तृप्ति तो थी न!

अनचाही संगति

मंगलूर में रहते समय केनरा हाईस्कूल में एक-दो वर्ष तक पाँचवीं छठी कक्षा को हिन्दी पढ़ाया करता था। बच्चे मुझे हिन्दी मास्टर कहकर (हन्दी माने सुअर होता है) मजाक उड़ाते थे। एक ढंग से यह बात सही थी। क्या मुझे इतना भी समझना नहीं चाहिए था कि उन बच्चों को हिन्दी पसन्द नहीं थी। उनमें अधिकांश लड़कों की मातृभाषा कोंकणी थी, गाँव की भाषा तुलु थी और स्कूल में कन्नड़ और अंग्रेजी पढ़ायी जाती थी। उस पर हिन्दी का बघार लगाया जाता तो वे भला कैसे सह पाते? इतना ही नहीं, उस स्कूल के मुख्याध्यापक संस्कृत भी लादना चाहते थे। चाहे जो भी हो, मुझे यह अवैतनिक अध्यापक का काम पसन्द नहीं आया। बच्चे एक भाषा सीखने के बाद यदि दूसरी भाषा सीखें तो उनके लिए अच्छा रहता है। बिलकुल अलग भाषा-व्याकरण वाली तीन चार भाषाएँ यदि उनके मन में ठूँसी जायें तो उन्हें कोई भी भाषा नहीं आ सकती। तब से मैं जबरदस्ती हिन्दी थोपे जाने का विरोधी हो गया। बच्चों को अपने प्रान्त की भाषा भली प्रकार जानने के बाद वे चाहें तो वे राष्ट्रभाषा या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा सीख सकते हैं। उन दिनों मैं कालाकानीजी द्वारा स्थापित किये गये 'भारत युवक संघ'

का मन्त्री था। मैंने मगलूर मे एक 'कर्नाटक संघ' स्थापित करने का भी प्रयत्न किया। हम लोगो म चार दिन हर काम का उत्साह रहता है। जैसे चीन्टियो को पर निकल आते हैं। 'आरम्भ शूर खलु दाक्षिणात्य' यह कथन एकदम सत्य है। जो भी हो व दोनो सस्थाए अधिक दिन चल नही पायी।

भाषा प्रशिक्षण के बारे म यहाँ एक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है। छोटे बच्चे नित्य सुनाई पडनेवाली भाषा को आसानी से सीख लेते हैं। लेकिन उसी प्रकार से वे पुस्तक से नही सीख पाते। हमारी भाषा शिक्षण की विधि ही दोषपूर्ण है। किसी भी भाषा को सिखाते समय, बोलकर, बुलवाकर और प्रयोग के द्वारा सिखाना चाहिए।

और फिर शिक्षा मे भाषा ही सब कुछ नही। कभी कभार जिस भाषा की आवश्यकता पडे उसे बचपन से ही लादने की आवश्यकता नही। जिन चार भाषाओ को हमे सीखना है, उनमे एक के भली प्रकार आने के बाद दूसरा को लेना चाहिए। एक की ओर ठीक ढंग से ध्यान न देकर कि एक एक भाषा को हम कितना समय दे सकते हैं उसके साथ तीन चार भाषाओ की पुस्तकें लादने पर बच्चो का किसी भी भाषा पर अधिकार नही हो पाता। ऐसी बुरी स्थिति पैदा हो गयी है।

चलो पुत्तूर

बाद मे मगलूर म मेरा कोई काम ही नही रहा। पत्रिका बन्द हो गयी। उमस कर्ज हो गया। मेरी कुछ पुस्तकें भी बिक नही पा रही थी। ऐसी परिस्थिति मे मगलूर मे बैठे रहने मे कोई अर्थ नही दिखाई दिया। शहर स मुझे कभी मोह नही रहा। मगलूर की भीड भाड भी मुझ पसन्द नही थी। फिर अनुयायियों स अधिक संख्या नेताओ की थी। इसलिए वहाँ से पुत्तूर चला आया।

नया वातावरण

उस समय ही मैं नयी-नयी तरह के पागलपन लेकर आया था। वे थे फोटो ग्राफी का पागलपन, चलचित्र का पागलपन, ग्रामीण जीवन के अध्ययन की इच्छा। पुत्तूर म माळळिळ शिवराय जस एक दो बुजुर्ग मित्र थे। मेरी एक बहिन का घर भी पुत्तूर म है। मगलूर से पुत्तूर आ गया। यहाँ आकर बसे पचास वर्ष हो गय। यहाँ आन पर भी मेरा प्रवासी जीवन चलता ही रहा। फिर भी एक स्थायी डाक के पते की जगह बन गयी। मेरा नाम लिखकर डाक खाना पुत्तूर या पुत्तूर (दक्षिण कर्नाटक) लिखना काफी है पत्र मेरे पास पहुँच जाते हैं।

शुरू म पुत्तूर हाईस्कूल के मुख्याध्यापक रामन नम्बियार के घर डेरा जमाया। उन्होंने रहने को एक कमरा दे दिया। दो जून का खाना भी व दे ही देते थ।

मेरी ही तरह उनको भी फीका खाने की आदत थी इससे लाभ ही हुआ। उन दिनों हम दोनों आदर्शवादी थे।

शिवराय

मोळ्ळिळ शिवराय यहाँ वकालत करते थे। उनकी वकालत तो नाम मात्र की थी। वे अपना सारा समय गाँव के लोगों की सेवा में बिताते थे, यही उनका मुख्य व्यापार था। जब मैं आया तब वे तालुक बोर्ड के प्रेसिडेण्ट थे। जिला पंचायत के भी प्रेसीडेण्ट थे। लगभग सत्तर वर्ष पहले ही इस प्रांत में सहकारी संघ का जन्म उनके द्वारा हो चुका था। दस आदमियों के लिए काम करने वाला मैं उनसे बढ़कर मैंने कोई नहीं देखा। जब तालुक बोर्ड था तब पता नहीं जिले में कितने स्कूल खुले। प्रत्येक गाँव के लिए सड़कें बनीं। वे प्रत्येक स्कूल में जाया करते थे। बच्चों के प्रत्येक कार्यक्रम में वे रुचि लेते थे। बच्चों के द्वारा चलायी जानेवाली हस्तलिखित पत्रिकाएँ भी वे देखा करते थे। वे जो भी कार्य करते उसकी हर बारीकी को अच्छी तरह समझते और ध्यान देते। बच्चों के जीवन को सुंदर बनाने में उनकी विशेष रुचि थी। उनकी इस रुचि से शिक्षा सम्बन्धी कामों में मुझे बहुत प्रेरणा मिली। इस बारे में अक्सर जो भी कार्य करता उसमें वे मेरे मुख्य सहायक बनते। मेरे जीवन में बड़े भाई का स्थान उन्हीं को जाता है। बाद में वे पुत्तूर छोड़कर मद्रास में रहने लगे। उनके बाद का पुत्तूर मेरे लिए वीरान हो गया। एक व्यक्ति के वर्चस्व से जनजीवन जितना सुधारा जा सकता उतना उन्होंने किया। मुझे कर्नाटक में दूसरा शिवराय दिखायी नहीं दिया।

शिवराय और राम नम्बियार के कारण ही मेरा पुत्तूर से निकट का परिचय हुआ। मुख्यतया, ग्रामीणों तथा सैकड़ों गरीब स्कूल अध्यापकों का परिचय मुझे मिला। वहाँ के कई अध्यापकों के कारण ही मुझे अपने कुछ प्रयोग करने में सहायता मिली। ऐसे कुछ प्रयत्नों के बारे में मैं बाद में लिखूँगा।

गरम-गरम खिचड़ी

देश में जब दूसरा राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुआ तब मैं पुत्तूर में था। तब मेरा मन ग्राम-सुधार के सपने देखा करता था। आगे बड़ा काम करना पड़ेगा यह अभी समझने की बात थी फिर भी मेरा मन उसी में रमा था। मंगलूर में जब नमक सत्याग्रह शुरू हुआ तब मैं मानसिक उलझन में पड़ गया। मैं पहले असहयोग आन्दोलन में भाग ले चुका था। अब चुप रहना उचित था? पर शाला में आकर सीधे इस आन्दोलन को भी मेरा मन न था। मैंने मंगलूर के मित्रों से पूछ लिया — अब गाँव चलेंगे, वहाँ कुछ काम करेंगे। बाद में जैसा मन है। तब एक दोस्त ने कहा, 'जब गरम खिचड़ी मिले तब बासी खाने की क्या जरूरत है।' मैं निराश

होकर लौट पड़ा। पर चुप होकर बैठ न सका। यहाँ वहाँ जाकर शराब के ठेका का विरोध किया। उन दिनों मंगलूर में बीच बीच में लाठीचार्ज हुआ करता था। उस लाठीचार्ज में सीधे सादे वलमावर के मुकुन्द राव भी मार खा गये। जब मैं उन्हें देखने गया तो मैंने उनसे कहा, "इस तरह जेल के बदले कहीं और जाकर आन्दोलन को आगे बढ़ाए तो कैसा रहे?" उन्हें यह बात पसन्द आयी। उन्हें पुलिस की आँख से बचाकर मोटर में बिठाकर कोडग की सीमा पार करा आया। आगे उस आन्दोलन में मैंने अप्रत्यक्ष रूप से भी भाग नहीं लिया। मैं अपना अलग ही रास्ता खोजने लगा। सिर्फ जेल भरने की बात मुझे अच्छी नहीं लगी।

शान्ति शिविर

पुत्तूर निवास के पहले वर्ष मैंने सोचा कि कुछ लड़कों को समाज सेवा का प्रशिक्षण देकर तैयार करना चाहिए। गर्मियों की छुट्टियों में एक मास के लिए शान्ति शिविर नाम से एक शिविर पाँच छः वर्ष तक चलाया। रामन नम्बियार और शिवराय की सहायता से यह सम्भव हो सका। उस समय गाँव में जाकर एक जगह ठहरना और आस पास के गाँवों की स्थिति का अध्ययन करना, ग्रामवासियों और शिविरवालों को कुछ शिक्षण देना हमारा उद्देश्य था। तब भी गाँधी का जीवनदर्शन ही मेरे दिमाग़ में भरा था। हमारे शिविर का कार्यक्रम कुछ इस प्रकार था सुबह चार बजे उठकर साबरमती के आश्रम के समान दो घण्टे प्रार्थना करते, बाद में व्यायाम होता पश्चात शिविरवाले नाश्ता करके, कुदाल और सब्बल आदि लेकर कुएँ आदि साफ करने जाते। कुछ लोग बोर होल पाखाने भी तैयार करते। साँझ तक यही काम रहता। दोपहर को किसी-न किसी विषय पर प्रवचन हुआ करता। साँझ को ग्रामवासियों के मनोरंजन को कोई-न-कोई कार्यक्रम और भाषण हुआ करता। ठीक सूर्यास्त के समय भोजन और बाद में प्रार्थना होती। इस प्रकार का कार्यक्रम प्रतिदिन ही हुआ करता था। भोजन आदि भी गाँधीजी की पद्धति पर हुआ करता था। बहुत से अध्यापक शिवराय की नजर में चढ़ने की खातिर हमारे शिविर में आने और अनमने ढंग से भरी दी हुई पीड़ा सहन करते।

सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयों पर बाहर के लोगों से हम भाषण कराते थे। जब कोई न मिलता तो यह काम भी मुझे ही सभालना पड़ता। सेवा-दल के एक शिक्षक हमारे शिविर में आते थे और शिविर निवासी और गाँव के लड़कों को लाठी चलाना, लेजिम, जिमनास्टिक आदि सिखाया करते थे।

हमारे भाषण और प्रार्थना के समय थकान या निद्रा से जम्हाई लेनेवाले शिविर निवासी भी होते थे। शिविर का भोजन पसन्द न आने के कारण चोरी

चोरी होटल में भोजन करके आनेवाले शिविर निवासी भी थे। अपने आप स्वीकार किये नियमों को तोड़नेवाले व्यक्तियों पर मुझे बहुत गुस्सा आता था। पर क्या किया जा सकता था। लेकिन इस बात की तसल्ली थी कि आनेवाले पन्द्रह बीस में चार छ तो श्रद्धा से भाग लेते हैं। गुरुवायनकेरे के शिविर (1931) के समय उस गाँव में हमने दो पाखाने तैयार किये। एक बाजार भी बनाया। पुत्तूर के शांति गुड्डू ग्राम में हम लोगों ने दस दिन रहकर वहाँ के आर्थिक जीवन का अध्ययन किया। जब शंकर नारायण गाँव में ठहरे तब उस गाँव के तालाब को हम लोगों ने साफ किया। गाँव के लोग उसे बड़ी उदासीनता से देखते रहे। हम लोग भले ही उनके घर भी साफ करते तो भी वे उदासीन ही बने रहने वाले लोग थे।

जल की पूर्ति

बेल्लारी के शिविर के समय हमें एक विशेष अनुभव हुआ। उस वर्ष मैंने पुत्तूर तालुक का काफी लम्बा दौरा किया था। तालुके की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना मेरा मुख्य उद्देश्य था। गाँव के होलेय (अछूत) लोगों के घर देखे। वहाँ एक भी घर को ठीक से पीने का पानी नहीं मिल रहा था। नाले और छोटे छोटे पोखरों जैसे गड्ढे से जो पानी मिलता उसी से बच्चों को धोने और पीने के लिए भी प्रयोग में लाते थे। यह देखकर मुझे बहुत दुख हुआ। बीस-तीस फीट की गहराई में पानी मिल जाने की सम्भावना होने पर भी वे कुआँ खोदने के मामले में नहीं पड़ना चाहते थे। ऐसे लोगों को पास देकर कुआँ खुदवाने का प्रयास किया। पर उनकी उदासीनता आड़े आयी। एक-दो गाँवों में जब ऐसा प्रयास किया तो उनके मालिकों ने उनसे "तुम लोगों को भी कुआँ चाहिए!" कहकर मजाक उड़ाया, जिससे चलता काम भी बन्द हो गया। हम लोग गाँव घूमे लेकिन एक में भी कुआँ न खुदवा सके।

जहाँ विश्वास पैदा न हो

इस निराशा के शमन के लिए बेल्लारे के शान्ति शिविर के समय, उस गाँव के अछूतों की बस्ती में हम लोगों ने स्वयं कुआँ खोदने का संकल्प किया। कुआँ खोदने को हम जो गड्ढा, कुदाल आदि को छोड़कर आते, वे गायब [illegible] छिपा देते। उनका कहना था बाहर के लोग हमारे लिए कुआँ नहीं, बल्कि हमारे लिए गड्ढा खोद रहे हैं। जब-जब कुआँ में पानी का दर्शन हुआ। पर आश्चर्य कि उस बस्ती के लोग उस नए कुएँ के पास ही नहीं गए, हमारे परोपकार के काम के प्रति इतना अविश्वास और भय था गाँव के लोगों में। ग्रामीण जीवन में एक-दूसरे को गड्ढे में डालने का प्रयास प्रायः अधिक चलता था। इसलिए मनुष्य की

ईमानदारी मे उनका आपस का विश्वास उठ गया था।

एक बार मैं नये प्रकार की खाद उपयोग मे लाने का प्रचार करते समय पुत्तूर गाव मे लैम्प की रोशनी मे भाषण दे रहा था। गाव के मुखिया शिवराय वहाँ पधारे थे। मेरे उस भाषण सुनने के बाद एक गाँववाले की कही बात अभी तक याद है। उसने कहा था, 'इसमे शिवराय जी और इनका कुछ लाभ होगा, इनकी खाद की कम्पनी की एजेंसी होगी।' शिवराय जी ने अपने जीवन के लगभग पैंतीस वर्ष पुत्तूर की सेवा मे लगा दिये थे। जब उनके बारे मे लोग ऐसी बात कह सकते थे तो मैं तो नया था, मेरी क्या गिनती? अथवा ग्रामसुधार करने के लिए गाँव मे जानेवालो का काम शायद ऐसे ही चलता होगा। 'गाँवो का उद्धार करो' आदि बडी-बडी बातें कहनेवाले प्राय वही लोग हैं जिन्होने गाव देखे ही नही और केवल मोटर-कारो मे घूमा करते हैं। उन्हे हम कैसे बतायें कि लोगो का विश्वास जीतने के बाद ही गाव मे काम हो सकता है। और ऐसे विश्वास जीतने मे ही हमारी जिन्दगी बीत जाती है। गाँव के झगडो मे न फसकर, उनके साथ कुछ दिन रहकर, उन्हे आश्वस्त करने कि हमारा मार्गदर्शन उपयोगी है तभी ग्रामोद्धार की बात सार्थक हो सकती है।

पर्वत प्रवास

शान्ति शिविर के समय हम करीब करीब दस दिन प्रवास मे ही काटा करते थे। एक बार, अमावस्य बल' गाँव से चलकर जगल लाँघकर, थक थकाकर कुदचाद्रि पर्वत पर चढे। वहाँ से पैदल ही सागर, इक्केरी, जोग गेरसोप्पा और बटकल भी गये। इस यात्रा की कठिनता और प्रकृति का सौन्दर्य चिरस्मरणीय हैं। शिविर के शुरू मे हमारे साथ लगभग बीस लोग थे, पर अन्त मे दस ही रह गये थे।

और एक बार हम 'गुरुवायनकेरे से कुदरमुख' पर्वत की चोटी पर गये। हमारे साथ बाहर से भाषण करने को बुलाये गये एक-दो सज्जन भी थे। रामकृष्ण मठ के प्रियनाथ महाराज (दिवगत स्वामी अलदय चैतन्य) आदि भी साथ थे। वहाँ पहुँचने का रास्ता तीस मील था। तीस मील आना तीस मील जाना, उसमे उन्नीस मील तो चढ़ाई ही थी। उस तीन चार दिन की यात्रा मे प्रकृति के प्रकोप के सब रूप हमने देख लिये। हम पहाड की चोटी पर चढे आधा घण्टा भी नही बीता होगा कि अन्धड शुरू हो गया। साथ मे बादल गरजन और बिजली चमकने लगी। हवा के साथ तीखी सर्दी। गाँव लौटते समय हवा के तेज झकोरो से पेडो के तने और टहनियाँ टूट टूटकर गिर रही थी। इस हालत मे उन्नीस मील भागकर ही पार करने पड़े। आगे के नौ मील तो वर्षा मे भीगते हुए ही पार हुए। प्रकृति जब इस प्रकार पागल हो उठती है तो हमारे भीतर डर तो होगा ही पर ऐसे दृश्य मन

पर निश्चित ही विशेष छाप छोड़ जाते हैं।

इसी प्रकार एक बार हमें कुमार पर्वत पर चढ़ना पड़ा था। एक बार और हम लोग पैदल हलबिड बेलूर होकर आये। इस प्रकार यह शिविर हमने चार-पाँच वर्ष तक चलाया। शिविर के इन अवसरों पर भाषण करने आये अनेक लोगों से हमारी मित्रता हो गयी। उनमें प्रियनाथ महाराज का व्यक्तित्व भुलाया नहीं जा सकता। कोई भी ऐसा काम न था जो उन्होंने हमारे साथ नहीं किया हो। हमारे साथ पाखाने के गड्ढे खोदे, भंगी का काम किया, सब्बल और कुदाल भी उठाये, सब कामों में वे अगुआ रहे। सन् 1908 में बंगाल के विभाजन के समय वे टेररिस्ट दल के सदस्य थे। उनके शरीर पर गोलियों के दाग भी मौजूद थे। उन्हें सुन्दरबन में बन्दी बनाया गया था। सरकार से आँख बचाकर उन्होंने नेपाल के जंगल में कुछ समय बिताया था। उनके उत्साह और उनकी कार्य पटुता का क्या कहना! उनके लिए काम ही भगवान था। शान्ति शिविर ने भले ही मुझे कुछ न दिया हो पर ऐसे लोगों की मित्रता पाने का सौभाग्य अवश्य दिया। अपने और दूसरों के स्वभाव की गहराई और छिछलापन मुझे ऐसे अवसरों पर समझने का अवसर मिला। बाद में धीरे धीरे हमारा शिविर छुट्टियाँ काटने के सरल उपाय खोजनेवाले लड़कों से भर गया। इससे अनुशासन का पालन न हो सका। अन्त में, शिविर को आगे चलाये रखने का मन न होने से उसे बन्द कर देना पड़ा।

कुन्दापुर के शान्ति शिविर के समय ही, मैंने 'देवदूत' उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। बेल्लारे के शान्ति शिविर के समय 'गमगुड़ी' और 'रतन काणिके' नाटक लिखकर उनका अभिनय कराया। 'बोदपाने' नाम का नाटयरूपक बल्लारे में ही लिखा और अभिनीत भी कराया।

घोर दरिद्रता

मुझे लगा कि 'शान्तिकुंड' के शिविर में ग्रामों के बारे में किये अध्ययन को और आगे बढ़ाना चाहिए। ग्रामोद्धार चाहनेवाला व्यक्ति यदि गाँवों का सुख दुःख न जाने तो यह काम करना भला कैसे सम्भव होगा! इस प्रयोजन से एक सर्वे प्रवास का कार्यक्रम बनाया। उसके लिए शिवराम जी की प्रेरणा और सहयोग दोनों मिले। हम दोनों ने मिलकर एक प्रश्नावलि तैयार करने का विचार किया। लोगों से किन किन विषय से सम्बन्धित आँकड़े इकट्ठे करना चाहिए। खेती-बाड़ी, मनोरंजन, सहायक वृत्ति, शिक्षा अभ्यास आर्थिक स्थिति, स्वास्थ्य— इन सबके बारे में प्रश्नावली तैयार करके कुछ गाँवों के सर्वे का निश्चय किया। हमने निश्चय किया कि एक-एक गाँव में तीन-तीन दिन ठहरकर प्रत्येक गाँव से पाँच भूमालिक पाँच बटाईदार, पाँच मजदूर अथवा पाँच अन्य दस्तकारों से प्रश्न

पूछे जाय। करीब चार मास के प्रवास म पुत्तूर जिले के तीस गाँवो का भ्रमण करके यह काय पूरा किया। मेरे साथ नाटक खेलने के लिए पाँच छ लडके भा थ। पर्दे, बत्तियाँ आदि सारा सामान सिर पर उठाये पैदल चलकर यह काय वहन करना होता था। इस प्रवास के दौरान गाँव के जिस किसी व्यक्ति को साथ लकर घर घर भटकता फिरा। इतना सब होते हुए भी लोगो से पूछताछ करके उनस उत्तर लना कठिन था। बहुत स लोगो को अपनी आमदनी और खच का पता ही नही था। उन्ह तो आय व्यय जैसी चीज मालूम ही नही थी। जिन्ह पता था व छिपाना चाहते थ। बहुत से लोगो के घरो म खाने को नही होता तो भूखे ही रह जात हैं जब होता है तभी खाते है। ऐसे लोग भला क्या हिसाब बतात ?

जसे लोग वैसे ढोर

हमने हर जाति के घरो के भीतर जाकर देखा। हरिजन, मुसलमान ब्राह्मण सभी के जीवन को निकट से देखने का अवसर मिला। हमारे प्रयत्न से गाँववालो को लाभ हुआ कि नही, पर हमारी आँखें अवश्य खुल गयी। वह सन 1933 का वष था। लाग आर्थिक मन्दी के कारण बहुत दुखी थे। निधनता का कोई ठिकाना न था। पुत्तूर तालुक म एक व्यक्ति की औसत आमदनी छत्तीस रुपये वार्षिक मात्र थी और कज रुपये मे पैसठ पैस। गाव म तो आमदनी अट्ठाइस रुपये वार्षिक तक पहुँच गयी थी और कज एक-सौ पच्चीस प्रतिशत था। खेतीबाडी के बार म कहने को कुछ था ही नही। दस बीस लोगो के खेतो मे पानी की नालियाँ प्राय मिट्टी से भरी रहती थी जिसस खेती के काम म अडचन पदा होती थी। ढोरो की स्थिति को तो अत्यन्त शोचनीय थी। चारे के अभाव और जगली जानवरो क उत्पात से डरे हुए पशु भी मर जात। उनके पालन पोषण की स्थिति भी उतनी ही निकृष्ट थी। दुधारू पशुओ का औसत दूध उत्पादन एक दिन मे एक आस से भी कम पडता था। ऐसी हालत म लाग भला कैस जीवे हाते ! दूध का उपयोग दवा के रूप म होता था। वह भी कितन से घरो म ! मासाहारी लोग तो मुर्गे आदि पाल लेत थे पर उनस उन्ह विशेष लाभ नही मिल पाता था। उनका उपयाग व प्राय भूत या मन्नत के लिए करते थे।

भाग्यवादी

लोगो का स्वास्थ्य बहुत ही दयनीय था। मत्यु की दर का कोई अन्दाज नहीं था। अधिकतर लोग मलेरिया के शिकार होते। अछूतो से यदि पूछा जाता कि अमुक कैसे मर गया तो व यह नही कहते थे कि बीमारी से मर गया। व तो यही कहत थ कि भूत के प्रकोप स मरा। इस तरह अत्यन्त शोचनीय था उनका जीवन। एक सन्तोष की बात यह थी कि कई दूसरी जातियो के घरो की अपेक्षा इनक घर

साफ-सुथरे थे। साधारणतः लोगों के कुएँ खेतों के पास होते हैं। वे लोग साफ पानी की आवश्यकता समझते ही नहीं थे। उन्नत खेती क्या होती है यह उन्हें मालूम ही नहीं था। कुछ किसान उर्वरक और खली आदि का खाद इस्तेमाल करके अच्छी फसल उगा लेते थे। पर यदि उनसे पड़ोस के खेतवाले से पूछा जाय कि आप वैसा क्यों नहीं करते तो उत्तर मिलता, "यह तो भाग्य की बात है। हमारे भाग्य में कहाँ ?" यह बात ध्यान में रख कर हमने 'त्याप्पण्णन हण्ण बरह (त्याप्पण्णा का भाग्य) नामक नाटक खेला। वह नाटक देखने के बाद लोगों ने पूछा, "क्या यह सच है ?"

मेरा यह ग्रामीण स्थिति का अध्ययन सन् 1933 में हुआ। आज स्वास्थ्य आदि की स्थिति वैसी नहीं है। युद्ध के बाद मलेरिया के प्रकोप से बचने के लिए डी० डी० टी० जैसी कृमिनाशक दवाओं का प्रयोग सब जगह बढ़ गया है। इसी लिए पुत्तूर जो सदा, 'बीमारी का घर' नाम से बजता था वह अब बीमारी से मुक्त हो चुका है। कहना चाहिए कि यह एक बड़ी सफलता है।

एक जगह मैं एक अछूत के घर गया था। वहाँ एक बूढ़ा बैठा था। उसके तीन चार बेटे पास खड़े थे। मेरे यह पूछने पर कि कल उसने क्या खाया था, उसने उत्तर दिया, "कुछ नहीं।" आज क्या करोगे ? पूछने पर उत्तर मिला "मालिक के घर घास पहुँचाने के बाद यदि धान मिला तो उसका भात बनाकर खा लेंगे।" ऐसे लोगों से यदि यह पूछा जाता कि तुम्हारी रोज की आमदनी क्या है तो उत्तर मिलता "जो मिल जाय।" कुछ जगहों पर उनसे बात करने की गलती से दुखी होकर मैंने ही चावल आदि खरीदकर उन लोगों के पास भेज थे।

गाँव में दूसरे पेशेवालों की यही दशा थी। चाहे कुम्हार हो, बढ़ई या कोई गाड़ीवान। सब बड़ी कठिनाई से जीविका चला रहे थे। यदि किसी के पास थोड़ी बहुत खेतीबाड़ी या पेशा होता था, वह जिस किसी प्रकार से जी लेता था। ऊँची जाति के लोग मजदूरी पर नहीं निकलते, अवकाश का समय यूँ ही बिता देते थे। गरीबी या कर्ज इन दोनों में से कोई-न-कोई सिर पर सवार ही रहता। कभी कभी तो दोनों से उनकी जान नहीं छूटती थी।

आलसी वीर

सुब्रह्मण्य के साथ कुछ ब्राह्मणों के घर गया था। उन्होंने अपने घरों में प्याज केले के पौधे भी नहीं उगा रखे थे। सब्जी क्यारी नहीं लगा रखी थी। जब सब कुछ मुफ्त में खाना मिले तो ऐसी जड़ता आ ही जाती है। उसी गाँव में मजदूरों के घरों में भी गया था, उन्होंने अपने घरों के पिछवाड़े खूब स्वच्छता और सब्जी लगा रखी थी। एक ओर लम्बी-लम्बी फलियाँ भी बो रखी थीं। मैंने पूछा ... आप साग क्या करते हैं ... क्योंकि उनकी उपजीविका निर्भर रही है। उन ...

ली हैं पर पता नही उसका क्या करना चाहिए। मालिक के घर दे देंगे।" उनका यही उत्तर था। स्वय न खाने पर भी आलसी न बनकर दूसरा के लिए सब्जी बानेवाले मलेकुडिय एक ओर थे और यू ही समय बरबाद करनेवाले ब्राह्मण दूसरी ओर। एक बार मैं कोडग ग्राम गया। वहाँ ब्राह्मण का केवल एक ही घर था। उन्होने भी कोई सब्जी आदि नही लगा रखी थी। मुझे लगा कि हाथ के पास पानी होने पर भी शरीर झुकाकर श्रम न करनेवाले आलसीवीर थ वे।

लतें

मैंने यह भी अध्ययन किया कि ये लोग अपना अवकाश कसे बिताते है और उनके व्यसन क्या-क्या है। ब्राह्मणेतर वग म शराब और तम्बाकू की लत थी। उन्ची जातियो म तम्बाकू के विविध प्रकार से उपयोग करने की लत रही आयी। अछूतो की बात क्या कहू ये तो लकडी बेचकर चावल खरीदने के बदले, लकडी शराब की दुकान म डालकर उसी से शराब पीकर लौटत थे।

प्रचार

हम प्रत्येक गाँव म दो नाटक खेलते थे। हमारा नाटक देखने के लिए चटाई साथ लकर लोग आधी रात तक बठे रहते थे। हमारे एकाकी नाटक के समाप्त होन का भला कितना समय चाहिए था ? वह देखने के बाद निराशा से 'बस इत्त न का देखने के लिए आना था क्या ?' कह उठत। नाटक शुरू करने से पहले मैं भाषण दता था। मैजिक लालटेन की सहायता स मैं उन्नत खती के बारे म बताता था। उसी के साथ मैं अपने दश की सम्पत्ति और उन्नत देशो की सम्पत्ति की तुलना करके उन्ह समझाता था। दूसरे दिन स्वास्थ्य के बार म बतलाता। तीसरे दिन उस गाँव के अध्ययन से जो निष्कष निकलता उसकी चर्चा करता। इन सभी शिबिरो म श्री शिवराय जी एक-न एक दिन आकर अवश्य भाग लेते थ।

अवकाश

हमारे ये लोग अपना अवकाश कसे बिताते हैं इसका उत्तर एक ही वाक्य म यह है— एकदम आलस्य स। एकाध जगह कुछ लोग यक्षगान खेलते। कुछेक मुर्गे बाजी, भसादौड म समय काटत। दूसरे मनोरजन बहुत कम हैं बल्कि एकदम नहीं के बराबर कहना चाहिए। साधारणत हरिजनो म रोज ढोल बजाकर गाने और नाचने की आदत है। खान-पहनने को न होन पर भी व अपना अवकाश खुशी-खुशी बिता त हैं। यह उनका सस्कार है सम्पत्ति नही।

विकराल समस्याएँ

इस प्रवास से मैंने यह अनुभव किया कि पुत्तूर तालुके में जो समस्याएँ हैं वह दूसरे तालुकों में भी पर्याप्त मात्रा में हैं। लगा कि अज्ञान, गरीबी, आलस्य, अन्धश्रद्धा के कारण हम इस स्थिति तक पहुँचे हैं। इसलिए उसका इलाज भी प्रयत्न की पहुँच से परे हो चुका है। स्वास्थ्य का प्रश्न भी ऐसा ही है शिक्षा का प्रश्न भी ऐसा ही है, गरीबी का प्रश्न भी ऐसा ही है। कौन-सा प्रश्न सरल है और कौन-सा कठिन है यह विस्तार से बताना मुश्किल है। ज्यादा से ज्यादा हम जैसे लोग गाँव जाकर भला सुधार सकते हैं। कोई कारगर सुधार करना हो तो सरकार को ही चेतना चाहिए। गाँवों की समस्याओं से परिचित लोगों को चाहिए कि वे सरकार को बताएँ। लगता है कि आलस्य को भगाने के लिए चाबुक लेकर खड़े होनेवालों की आवश्यकता है।

इस प्रवास के फलस्वरूप ही मेरा 'चोमनदुडी' (चोमा) उपन्यास लिखा गया। इस प्रवास से मेरी आँखें खुल गयीं। उसमें मैंने कई बातें सीखीं। बिना दिये के घर और बिना आग के चूल्हे देखने का मौका मिला। तब ऐसा लगा कि भले ही स्वराज्य आ जाय पर इन लोगों का जीवन सुधरने में युग बीत जाएँगे।

वार्षिक योजना

इतना सब देखने के बाद कुछ करना चाहिए ऐसी इच्छा पैदा नहीं होगी? यह जानते हुए भी कि सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं, कुछ कर गुजरने की इच्छा हुई। उन्हीं दिनों मैंने, 'मास्को हैज ए प्लान' नामक रचना पढ़ी थी। मैंने शिवराम जी को सूचित किया कि भले ही पंचवर्षीय योजना न सही, पर एक वर्ष की योजना क्यों न बनायी जाय। उन्होंने कहा, 'अच्छी बात है करो।' मैंने अपनी कल्पना के अनुसार छः मास तक सात ग्राम केन्द्रों में खूब प्रचार करने की योजना बनायी। लोगों में विभिन्न प्रकार की रुचियाँ जाग्रत करने के लिए तीस विषयों पर भाषण मालाओं की तैयारी की। विदेशियों का जन जीवन, प्रवास, उद्योग, कृषि, पशुपालन, मुर्गीपालन, वन संरक्षण ऐसे ही रोचक विषयों की सूची तैयार की। कई जगह जाकर उनके लिए आवश्यक विषय और चित्र आदि संग्रह कर लाया। भित्ति-पत्र के आवश्यक चित्र भी मैंने बनाये, फोटो आदि खींचे। पुत्तूर तालुके के सात हजार एलिमेंटरी स्कूलों का भाषण केन्द्रों के रूप में चुना। शिवरामजी पर वहाँ के अध्यापकों को अखण्ड विश्वास था। वे जो भी कहते अध्यापक करने को तैयार हो जाते। इसलिए उक्त प्रचार की जिम्मेदारी वहाँ के अध्यापक उठाने को तैयार हो गये। एक भाषण और एक चित्रमाला का प्रदर्शन एक सोमवार को एक गाँव में होता तो दूसरे सोमवार को दूसरे गाँव में, ऐसी व्यवस्था की। साथ ही

हमने यह भी निर्णय किया कि भाषण के साथ एक नाटक हरिकथा या यक्षगान आदि का प्रदर्शन या मनोरंजन का प्रबंध भी रहे। और यह भी प्रबंध हुआ कि प्रत्येक केंद्र में वर्षा ऋतु में निश्चित संख्या में फलों के पेड़ लगाने चाहिए और उसके लिए बढ़िया बीज भी लाने चाहिए। इस अंतिम काम में कृषि विभाग से सहायता भी मिली। सभी स्कूलों में हम ही मैजिक लैम्प की व्यवस्था करते थे।

हमारा प्रचार तो चला। फलों के पौधे तथा बीज भी दिलवाये। पर उसका पैसा वसूल करना मुश्किल हो गया। अध्यापकों की सहायता से प्रचार कार्य जोरों से चला। शुरू शुरू में भाषण सुनने को बहुत जनता आयी, बाद में लोगों का आना कम हो गया। स्कूल के बच्चों के सामने ही भाषण देने पड़े। इसलिए आपको भी लग रहा होगा कि हमारा भाषणों का कार्यक्रम शीघ्र समाप्त हो गया।

चलचित्र से प्रचार

मैंने सुना था कि रूस में चलचित्रों की सहायता से जनता में महान् जागृति पैदा हुई है। प्रथम महायुद्ध के समय रूसी गाँव के लोग हमारे देश के गाँववालों की तरह आलसी अज्ञानी और गरीब थे। वहाँ सिनेमा के द्वारा शिक्षा और मनोरंजन दोनों साथ साथ दिये गये। लोग बच्चों के नाटक और मैजिक लैम्प से प्रभावित होकर अधिक दिन तक नहीं आयेंगे, इसलिए मैंने सोचा यह काम चलचित्र द्वारा क्यों न किया जाय। मेरे मित्र एम आचार्य तब बर्लिन में थे। उनसे कहकर रूस की शिक्षा सम्बन्धी बहुत सी सामग्री मँगवायी। रूस की चित्र निर्देशन सम्बन्धी पुस्तकें भी मंगाकर पढ़ी। प्रसिद्ध सिने निर्देशक पुडाविक की फिल्म टेकनीक की पुस्तक पढ़ी। एस मरटिन की चित्र निर्माण रीति किताब भी पढ़ी। मुझे भी उस ओर जाने की इच्छा थी। पैसों की चिंता पैदा नहीं हुई। साथ ही, मुझे लगा कि व्यावसायिक चित्रों से जो लाभ मिलेगा उससे हमारे प्रचार सम्बन्धी चित्र भी तैयार हो सकते हैं। मैंने शिवराय से अपनी पगली कल्पना की चर्चा की। उन्होंने कहा "ठीक है, आगे बढ़ो।" तब मेरी आयु केवल तीस वर्ष की थी। चित्र तैयार किया गया।

चलचित्र का निर्माण

कर्ज लेकर सिने कैमरा खरीदा। मैं फोटोग्राफी जानता था। इसलिए सिनेमा के चित्र लेने में कठिनाई नहीं हुई। आवश्यक सामग्री जुटाकर अस्पृश्यता निवारण सम्बन्धी अपनी लिखी कहानी डार्मिया पर सीनेरियाँ तैयार कीं। फ़िल्म मंगवायी। मैंने अपने मित्रों से अभिनय कराया और फ़िल्म तैयार की। उस फ़िल्म

को गाँव में ही धोकर मुद्रण के लिए बम्बई भेजा, प्रिंट देखने पर डर-सा लगा। फोटो तो ठीक ही खिंचे थे। हमारे गाँव की हवा के कारण उसे धोते समय फ़िल्म में धूल के कण लग जाने से चित्र दिखाते समय तितलियाँ-सी उड़ती दिखायी देती थीं। दुबारा से वही चित्र खींचकर बम्बई भेजने पड़े। वहीं से उस प्रिंट को लाकर जाकर लाया। बाद में व्यावसायिक चित्र तैयार करने के लिए एक स्टुडियो बनाया और आठ अंकों का एक और चित्र तैयार किया। उस की बात मैं बाद में लिखूँगा।

इससे पहले खींचे गये चित्रों के खराब होने के कारण दुख हुआ। आगे में ऐसा न हो, सोचकर बम्बई गया। कोडक कम्पनी के मैनेजर बबर और चित्रशाला के मैनेजर सेन जनिथन ने मुझे सहायता दी। उनकी सहायता से मैंने फ़िल्म प्रोसेसिंग सीखने का निश्चय किया। परेल की स्टैण्डर्ड लेबोरेट्री में जाकर वहाँ कुछ दिन रहा और आवश्यक जानकारी प्राप्त की।

खींचे गये चित्रों को दिखाने के लिए एक प्रोजेक्टर चाहिए था न! शिवरायजी ने ज़िला बोर्ड से कहा। ज़िलाबोर्ड के अध्यक्ष ने आवश्यक सामान खरीदने के लिए एक हजार रुपये की स्वीकृति दी। केवल एक हजार रुपये से उसके लिए आवश्यक डाइनमा, इंजन और प्रोजेक्टर तीनों खरीदना कठिन था। केवल एक नये प्रोजेक्टर की कीमत एक हजार थी। अंत में किसी से दोस्ती करके एक अमीर व्यक्ति से कम दाम पर एक प्रोजेक्टर खरीदा। बाकी उपकरण भी जुटाए। अब चित्र प्रदर्शन का काम ही बाकी रह गया था।

चित्र-दहन

बलनगडी में 'मक्कल कूट' (बच्चों की सभा) नाम से एक सम्मेलन किया। तब मैंने सोचा कि उन्हें मेरा पहला तैयार किया गया चित्र दिखाया जाय। उसके लिए ज़िलाबोर्ड का प्रोजेक्टर मँगाकर उसमें अपना चित्र भरा। लेकिन बम्बई से लाते समय वह चित्र ज़रा खराब हो गया था उसे इसलिए दिखाया नहीं जा सका।

उसके साथ ही, एक और अनर्थ हो गया। मेरा एक मित्र सन्ध्या के समय पेट्रोमैक्स जला रहा था। उसके पास ही फ़िल्म के डिब्बे पड़े थे। उधार में ला गयी फ़िल्म के डिब्बे भी वहीं थे। पेट्रोमैक्स की लपट ने उन्हें छू लिया और कमरे में आग लग गयी। कमरे के सामने एक बड़ा छप्पर पड़ा हुआ था। आग देखकर मैं खिड़की से भीतर कूदा। हाथ लगे फ़िल्म के डिब्बे बाहर फेंके। छत ऊँची होने से मकान बच गया। फ़िल्म के डिब्बे बाहर फेंक देने से आग भी बुझ गयी। अन्त में जो डिब्बे बच गए उन्हीं से तृप्त होना पड़ा। मेरे द्वारा निर्मित चित्र ही आग में स्वाहा

हुए थे। उधार की फिल्म अगर जल जाती तो पता नही मुझे कितना दण्ड भुगतना पडता। आग लगने से न जाने कितना नुकसान हुआ होता। खर, लगता था कोई शक्ति मुझे हर बात मे रोकना चाहती थी लेकिन उस साहस को आगे बढाने की जिद् मुझे भी थी। एक व्यावसायिक चित्र तैयार करके उस हानि को पूरा कर पाऊगा यह एक झूठा साहस मुझ मे समा गया था। उसकी निष्फल कहानी फिर कही बताऊँगा।

शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग

पुत्तूर में मोलहल्लि शिवरायजी गाँव के स्कूलों के बारे में बहुत अभिरुचि लेते थे। अध्यापकों को प्रोत्साहित करने और केवल 'स्कूल की लिखा पढ़ी में ही शिक्षा समाप्त नहीं हो जानी चाहिए' कह कर, उसके साथ कई तरह के कार्यक्रम चलाने की प्रेरणा देते। स्काउट से लेकर लाठी चलाना, लेजिम जैसे व्यायाम कोई मासिक त्योहार, हस्तलिखित पत्रिका, बच्चों का सहकारी संघ, बाल सभा आदि कार्यक्रमों के प्रति आसक्ति पैदा करते। मैंने कितनी ही बार उनके साथ स्कूलों में जाकर यह सब देखा था। एक बार उन्होंने पुत्तूर में अध्यापकों का सम्मेलन कराया था। उनकी ओर से मैं मैसूर के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर एन० एस० सुब्बाराव को अध्यक्ष पद के लिए आमन्त्रित करने गया था। सुब्बाराव आये। जिस सम्मेलन में शिवरायजी का हाथ होता था उसमें गड़बड़ी के लिए कोई अवकाश ही नहीं होता था। खान-पीन, और सभाओं की अन्य व्यवस्थाएं भी सुचारु रूप से चलतीं। वे बड़े व्यवहार-कुशल थे। किसी भी प्रकार की बात को मौका नहीं देते थे। जितना काम उतनी बात। जुबान की खुजली मिटानेवालों के लिए वहाँ जगह ही नहीं थी। उस सभा को देखकर मेरे मन में ख्याल आया कि एक बाल सम्मेलन क्यों न बुलाया जाय। यह बात मैंने शिवरायजी से कही। उन्होंने तुरन्त स्वीकृति दे दी। हम दोनों जानते थे कि बच्चों के कार्यक्रम में प्रस्ताव और मसौदे आदि की जरूरत नहीं। इसलिए उन्होंने मुझसे यह योजना बनाने को कहा कि वह आयोजन कैसे चलाना होगा। आयोजन यानी बच्चों की सभा होनी चाहिए, पर एक खेल की तरह ही होनी चाहिए। हमारा भी यही विचार था। उसकी भूमिका के रूप में मैंने कुछेक प्रयोग भी किए।

क्रिया शक्ति

इस काम की भूमिका के रूप में मैंने कुछ गाँवों में जाकर और वहाँ बच्चों को इकट्ठा करके कुछ प्रयोग किए। मैंने उन्हें परीक्षण करके देखा कि उन्हें लोकगीत आदि आते हैं कि नहीं अथवा कोई विनोदादि कला मालूम है या नहीं। स्कूलों में आ

चित्रादि बनाना सिखाया जाता था मुझे उनकी आवश्यकता न थी। मैं चाहता था कि बच्चे आस पास के वातावरण मे मिलनेवाले फूल पत्ते मिट्टी आदि का विषय बनाकर चित्र बनाना सीखें। एक जगह मैंने बच्चो से पूछा, ' यह बताओ, तुम्हारे गाव म कितने प्रकार की मिट्टी है?" एक अध्यापक का कहना था कि पाँच छ रग हो सकते है। पर एक लडका दोपहर को स्कूल आते समय उन्नीस रगो की मिट्टी ले आया था। पता नहीं उस लडके को उस मिट्टी से कितना मोह था और उसमे वह कितना खेल चुका था। इन प्राकृतिक वस्तुओं से बच्चो ने धरती पर रगोली बनायी पशु-पक्षियों के चित्र भी बनाकर दिखाये। कुछ ही समय म ऐसे कुछ प्रयोगों के फलस्वरूप बाल सभा का कार्यक्रम तैयार हो सका। जिले के सात आठ हायर एलिमेंटरी स्कूलों म से दस दस बच्चो का चुनाव कर एक सप्ताह एक साथ रखकर उनकी सृजनात्मक अभिरुचि का अध्ययन करने का यत्न किया। एकदम छोटे बच्चे सम्भालना मुश्किल होने से लगभग बारह से सोलह वर्ष के बच्चों का ही प्रतिनिधि चुना।

व्यवस्था

हमारी पहली बाल सभा (मवकलकूट) नदी किनारे के उप्पिनंगडी नामक एक ग्राम में सन् 1930 म हुई। उसमे लगभग साठ बच्चे आये थे। उनके साथ प्रत्येक स्कूल से एक अध्यापक और कुछ प्रेक्षक भी आये थे। इतने लोगो के भोजन का प्रबन्ध करना था। वहाँ आनेवाले कुछ अध्यापको को शिक्षा का नया पद्धति बताने के लिए भी कुछ लोगो को बुलाया गया था। पैसे की व्यवस्था के लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं थी। वह सब शिवराय जी के जिम्मे था। एक सप्ताह पहले हम दोनों उप्पिनंगडी गये। शिवरायजी ने भी अपनी जान-पहचान के आठ दस आदमियों को बुला लिया। आपको इतने पैसे देने है, इतना चावल देना है—यह कहकर ताकीद की गयी। उनके प्रभाव से सब कुछ जमा हो गया। वहाँ के स्थानीय अध्यापकों को बुलाकर और कामो की व्यवस्था सभलवायी। अध्यापकों ने मिलकर एक छप्पर तैयार कर दिया। लगर चलाया। आनेवालों को भोजन कराया। सी० पी० सी० बस कम्पनीवाले रियायती दर पर बच्चों को उनके गाँव म उप्पिनंगडी लेकर आये और छोडकर भी आये। मुझ पर बच्चों के कार्यक्रम की जिम्मेदारी थी जो कोई मुश्किल काम न था।

गुप्त शक्तियाँ

शिविर के दिनों म हम सुबह दो घण्टे और शाम को दो घण्टे बच्चों को इकट्ठा करते थे। वहाँ रहते समय शात रहना पूर्णत अनिवार्य है प्रतिबन्ध हमने नहीं लगाया। ऊब जाने पर बाहर जाने की छूट थी। इसी कारण सभा म शाति रहती। एक दिन सुबह कुछ बच्चो ने अपनी अपनी भाषा म कहानियाँ सुनायीं। और एक बार लोकगीत गाये। फिर एक बार अपने-अपने

बनाये गीत सुनाये वैसे ही उन्होंने अपना नाच भी दिखाया। आशु नाटक खेले। इतिहास से सम्बन्धित नाटक भी खेले। चित्र भी बनाये। इस प्रकार अनेक सृजनात्मक शक्तियों का प्रदर्शन किया। कुछ अध्यापकों का ख्याल था कि जो बच्चे इस सभा में आये हैं उन्हें अपनी पढ़ाई में रुचि नहीं है। उनके विचार में पुस्तकों से चिपके रहने से ही विद्या आती है। जो बच्चे पढ़ाई लिखाई में एकदम बेकार माने जाते थे उन्होंने भी अपने में कोई न कोई प्रतिभा होने का परिचय दिया। पाँच छ वर्ष तक ऐसी सभाओं का कार्यक्रम कुछ परिवर्तन के साथ चलता रहा। अन्त में सौ बच्चों की जगह दो-दो सौ बच्चे सभाओं में आने लगे। पुत्तूर तालुक से बाहर की शालाओं के लोग भी उस सभा को देखने आने लगे।

बड़ों के काम

अध्यापकों के लिए आवश्यक भाषणों की व्यवस्था के बारे में बाहर के विशेषज्ञों ने हमें सहायता दी। मैसूर और बैंगलूर के विद्वान प्रतिवर्ष आया करते थे। पंजे मंगेशरायजी से मेरा निकट का परिचय तभी हुआ। शिक्षा के बारे में उनकी असाधारण लगन थी इसलिए बीच-बीच में वे अपने मित्रों को साथ लाकर हमारा काम दिखाया करते थे। साल में एक दिन शाम को बड़े लोग बच्चों को नाटक तैयार कर दिखाते थे। नाटकों में वे इतिहास के कुछ अंश, किसी देश की वेश भूषा आदि प्रदर्शित करने का प्रयास करते। हम इसमें भारत के इतिहास के कुछ अंश नाटक द्वारा दिखाने में सफलता मिली। नेपथ्य में कथानक गाया जाता और मंच पर उससे सम्बन्धित ऐतिहासिक पात्र आकर अभिनय करते जाते। प्रथम वर्ष एक नाट्य रूपक 'परिवर्तित भारत' प्रस्तुत किया गया। उसमें भारत के परिवर्तन के मूल कारण सभी महापुरुष मंच पर से गुजरे। द्रविड़, आर्य, हूण, ग्रीक और अन्त में अंग्रेज तक हमने दिखाये। डेढ़ घण्टे के ऐतिहासिक दृश्य में गाड़-गरार कलाकारों ने भारत में परिवर्तन के दृश्य दिखाये। और एक बार बौद्ध धर्म की यात्रा को इसी प्रकार दिखाया। बुद्ध की अहिंसा का सन्देश अशोक से लेकर गाँधी तक कैसे चला यह सब उस नाटक में प्रदर्शित किया गया था। और एक बार सामान्य जनता के समाधि-स्थान दहनों का इतिहास हमने दिखाया। इन सबका उद्देश्य यह था कि इतिहास की पढ़ाई को किस तरह से सरस बनाया जा सकता है। अध्यापकों ने विविध देशों के प्राचीन और अर्वाचीन जन-जीवन का नाटक के रूप में अभिनय के द्वारा प्रदर्शन किया। जापानी लोगों का जीवन, जुलू लोगों का जीवन, एस्कीमो लोगों का जीवन, आदि के दृश्य भी दिखाये गये। इससे यह दिखाना भी सम्भव हो सका कि भूगोल का इतिहास, एक रूखा विषय नहीं है।

समाज और समता

बाल सभा के दिनों में हमारे गाँव के बच्चे ऐसा महसूस करते थे मानो कोई मेला हो। सैकड़ों बच्चों के साथ, खाने खेलने का सुयोग उन्हें और कहाँ मिलता था? साम्प्रदायिक वातावरण में पलने पर भी 'बाल सभा' में सभी बच्चे बड़ों के सामने भी जाति भेद छोड़कर एक साथ मिलकर भोजन करते थे। हिंदू, मुसलमान, ईसाई और हरिजन सब का एक जगह बैठकर भोजन करना उन दिनों एक बहुत बड़े साहस की बात थी। हाँ, जैन जाति का एक लड़का ऐसा नहीं कर सका। वह आकर लौट गया। अंतिम वर्ष जैन सम्प्रदाय का एक और लड़का आया था। वह पुराने विचारों को छोड़ने में समर्थ रहा।

व्यक्ति का प्रभाव

सूल्या में बाल सभा होगी यह पता चलते ही वहाँ के बच्चों और अध्यापकों ने स्कूल के पास के टीले को खोद कर समतल कर डाला। बड़ा सा छप्पर डाल दिया। सभा होने से केवल एक दिन पहले मैं और शिवरायजी वहाँ पहुँच पाये। मुझे डर था कि इतनी जल्दी शिविर में सबके खाने की व्यवस्था हो पायगी या नहीं। शिवरायजी के गाँव के चार आदमियों को बुलाकर कहने ही चौबीस घण्टे के अंदर ही सब्जियाँ अनाज दालों आदि के ढेर लग गये। जनता के साथ उनका स्नेह ही इसका कारण था। उस शिविर में सैकड़ों रुपये लगान देनेवाले श्रीमन्त भी कमर कसकर खाना पकाने और परोसने आदि की व्यवस्था में लगे हुए थे। इससे पता लगता है कि शिवरायजी का उन पर कितना प्रभाव था। व्यक्तित्व के प्रभाव से ही ऐसे कार्य सफल हो पाते हैं। जो काम नहीं करते, केवल बातें करते हैं उनमें ऐसा प्रभाव पैदा हो ही नहीं सकता।

अधिकारियों की आँखों में

यह बालसभा कोई पाँच वर्ष चली। इस बीच पाठशालाएँ तालुक बोर्ड के अधिकार से हट कर जिला बोर्ड के अधीन हो गयी। आरम्भ में उन्होंने हमें पर्याप्त सहायता दी। पहले बालसभा में भाग लेनेवाले अध्यापकों को ड्यूटी पर माना जाता था। अंत में एक नये डी० इ० ओ० साहब आये। वे शिवरायजी से खार खाते थे। उन्होंने यह एतराज उठाया कि बालसभा का शिक्षा की दृष्टि में कोई उपयोग नहीं। उसमें भाग लेनेवाले अध्यापकों को ड्यूटी पर नहीं माना जा सकता। यही नहीं उसमें भाग लेनेवाले अध्यापकों पर भी उनकी वक्र दृष्टि पड़ने लगी। एक डिप्टी इन्सपेक्टर ऐसे अध्यापकों को तंग करने लगे। तब हमारे लिए बालसभा को बंद करने के सिवा कोई चारा न रहा। इन्टर एजुकेशन आखिर में जब मैं कॉलेज में असहयोग आन्दोलन में भाग लेने का विचार कर

रहा था, मुझ से पूछा था, 'इस विशेष शिक्षा से कोई लाभ भी है?" बात तो सच है। शिक्षा के प्रतीक यदि ऐसे लोग हों तो यही कहना चाहिए कि इस शिक्षा से कोई लाभ नहीं।

बच्चों का मजाक उचित नहीं

बाद में मैंने बेंगलूर आदि कई स्थानों पर अखिल कर्नाटक और अखिल भारत स्तर की सभाएँ देखीं। उनमें बच्चों के लिए बड़ों की तरह अध्यक्षीय भाषण आदि सुनने पर ऐसा लगा कि वे बच्चों की शादियाँ भी करा डालेंगे। बंगलूर की एक 'बाल सभा' में पारित एक प्रस्ताव बहुत मजेदार था। वह प्रस्ताव था कि बच्चों में से जन प्रतिनिधि सभा में एक सदस्य का चुनाव होना चाहिए। बच्चों के लिए और विषम ऐसी अकल हो सकती है? यह सुनकर पूज्य डी० वी० गुण्डप्पाजी ने हँसकर मुझसे कहा था, "अब इसी प्रकार अंधे, लंगड़े, पागल आदि के प्रतिनिधि भी चुनकर काउंसिल में भेजने चाहिए।"

तीन चार वर्ष बाद हमारे यहाँ एक और शिक्षा अधिकारी आये। उन्होंने मुझसे कहा, 'आपने यह बाल-सभा क्यों बन्द कर दी? उसमें कितने अच्छे कार्यक्रम हुआ करते थे!' तब मुझे कहना पड़ा, "अफसरों की शर्तों पर जब चाहे सभा बुलाना और जब चाहे बन्द कर देना कैसे सम्भव है?"

मजे मगेशराय

हमारी बालसभा और [illegible] परिचित मंगेशरायजी मुझसे आज भी ऐसे काम करने के लिए आग्रह करने लगे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा, "तुम्हारा यह उत्साह पुत्तूर तक सीमित हो गया क्या? हमारे मंगलूर में ऐसा कुछ नहीं हो सकता?" इस पर मैंने कहा, "यह तो कहीं भी किया जा सकता है। पुत्तूर में तो शिवरायजी हैं। मंगलूर में ऐसा कौन है बताइए? उनकी व्यवस्था की जिम्मेदारी मैं ले सकता हूँ पर उसके लिए जब-तब [illegible] भी तो कोई होना चाहिए न? [illegible] कहा, '[illegible] भी दाद।' —उन्होंने विनीत होकर कहा, "अच्छा, इतना तो मैं दे सकता हूँ।"

सन् 1932 की गर्मियों की छुट्टियों में एक [illegible] और [illegible] का आयोजन करने की हमने योजना बनायी। [illegible] के लिए चार दिन में एक दिन [illegible] की तरह के भोजन की व्यवस्था की। [illegible] कई [illegible] दिये। मैंने भी [illegible] एक मनोरंजन के कार्यक्रम की तैयारी करायी। यहाँ भी पुत्तूर के [illegible] दिन [illegible] काम में सदा हाथ बँटाया। तभी मैंने [illegible] नाटक लिखकर

अभिनीत कराया। तब श्री सीतारामय्याजी द्वारा उस नाटक की बड़ी तीखी आलोचना का मैं शिकार हुआ। नाटक एम्ब नाटक' (नाटक में नाटक) तिम्मप्पन वगरणे (तिम्मप्पा का बघार) आदि नाटकों का मैंने तभी मंचन कराया। बौद्धयात्र' (बौद्धयात्रा) का दुबारा मंचन भी किया। जापान, प्राचीन मिस्र आदि देशों पर नाटय रूपक लिखकर उनका प्रदर्शन किया। वहाँ के सारे कार्य बड़े सुचारु ढंग से सम्पन्न हुए। श्री पंजेजी का विचार था कि उनके इस कार्य में कोई-न-कोई आर्थिक सहायता देगा। पर कहीं से घाटे की पूर्ति नहीं हो पा रही थी। पंजेजी ने हसते हुए पाँच सौ रुपये का चेक काट कर दे दिया। शेष राशि का दशमांश मेरे सिर पर पड़ा। मुझे उनसे कहना पड़ा 'देख लिया आपके मंगलूर वालों का उत्साह!" वे हँस पड़े। उनकी हँसी कभी न भूल पाने वाली हँसी थी, मोती जैसी।

जैसे मालिक वैसे नौकर

जब बालसभाओं के प्रयोग चल रहे थे तो मुझे लगा कि ये प्रयोग तो त्योहार जैसे बन रहे हैं अतः शिक्षा का क्रम क्यों न इस ढंग से चलाया जाय। उसके लिए काफी पैसे की आवश्यकता तो पड़ेगी पर शिक्षा सरस बन जाएगी। उसके लिए मैंने कई तरह के और भी प्रयोग किये। भाषा सिखाने के कुछ उचित खेल तैयार किये। सिखाने के योग्य कई तरह के कार्ड और चित्र भी छपवाये। पर उनका प्रयोग कहाँ किया जाता? क्या मेरा कोई अपना स्कूल था? शिवरायजी यदि तालुक बोर्ड में होते तो कुछ किया जा सकता था। अब सारे स्कूल जिला-बोर्ड के अधीन हो चुके थे। पर मैं निराश होकर चुप नहीं बैठा। कुछ परिचित अध्यापकों पर विश्वास करके उनके स्कूलों में गया। मैंने उन्हें अपना पाठ्य क्रम समझाया। आवश्यक साधन तैयार करके दिये। ताश के पत्तों जैसे कार्डों की सहायता से गणित, अन्य विषय और भाषादि का शिक्षण दिया जा सकता है यह भी बताया। दो मास बाद जाकर देखा तो मेरे दिये उपकरणों का प्रयोग ही नहीं हुआ था। तब मुझे लगा, शिवरायजी अब जिलाबोर्ड के अध्यक्ष नहीं हैं अतः अध्यापक भी उनके मित्र के कहने के अनुसार क्यों चलें?

मन में बहुत असन्तोष हुआ। मेरे साथ शिक्षा में आसक्ति रखनेवाले एक दो मित्र भी थे। उन दिनों में वे अपने घर तक बेचकर नये ढंग के स्कूल के लिए पैसे जुटाने को तैयार थे। मैंने और उन्होंने मिलकर थोड़ी सी जगह तलाश की। अन्त में मेरी व्यथा शिवरायजी तक पहुँच गयी। उन्होंने कहा, 'उसके लिए तो कोशिश करेंगे।' पुत्तूर में ही मैंने एक जगह चुनी। वह एक पहाड़ी के पास जंगल में घिरी थी। देखने में बहुत रमणीय थी। मैंने उसे पट्टे पर ले लिया। शिवरायजी ने स्कूल तथा घर के लिए रूपरेखा तैयार करा दी। तब मेरा ज्ञान

आना जाना मंगलूर और पुत्तूर के बीच ही था। 'बाल प्रपंच' के छापने का काम शुरू हो चुका था इसलिए इस दौड़धूप से मुझे आराम ही नहीं मिलता था।

बाल-वन

अब जिस घर में रह रहा हूँ वह किसी जमाने में स्कूल के लिए चुना गया था। किंडर गार्डन के अर्थ के रूप में हमने उस शाला का नाम 'बाल वन' रखा। इमारत का काम शुरू हुआ। शिवरायजी ने अपने तीन चार मित्रों से लकड़ी खपरैल और कुछ नगदी भी दिलायी। मैंने और मेरे मित्रों ने कर्ज लेकर और अधिक पैसे जुटाये। निर्माण कार्य के साथ-साथ कर्ज भी बढ़ चला। शिवरायजी की सहायता के अतिरिक्त और कोई सहायता नहीं मिली। मेरे मित्र भी पीछे हट गये। इस प्रकार आगे स्कूल के लिए जितने पैसों की आवश्यकता थी वह सब मेरे जिम्मे पड़ी। उन दिनों 'बाल प्रपंच' से थोड़ी बहुत आमदनी थी। वह सारी-की सारी उसमें लगा दी तो भी मकान पूरा करने और स्कूल चलाने को वह पूरी न हुई। जैसे तैसे सन 1935 में हमारी शाला का श्रीगणेश हुआ। पाँच छः विद्यार्थियों की एक छोटी-सी शाला। मैंने यह निश्चय कर लिया था कि यह जब तक अपने-आप बढ़कर लोगों को पसन्द न आये मैं किसी से भीख नहीं माँगूंगा। शिवरायजी को बार-बार तंग करना जँचा नहीं। अब शाला का एक सही रूप देने और पैसा इकट्ठा करने के दोनों काम मैंने अपने ऊपर ले लिये।

एक बी० ए० तक पढ़े मित्र को मैंने अपनी रचनाओं की प्रतिलिपि तैयार करने के काम पर रख रखा था। उन्होंने ही अध्यापक का कार्य स्वीकार कर लिया। उनकी काम में बहुत श्रद्धा थी। स्वभाव से भी वे विनयशील व्यक्ति थे। उनका नाम नारायण राव था। उन्होंने इस कार्य की जिम्मेदारी तीन वर्ष तक बड़ी ईमानदारी से निभायी। मैंने उन्हें विविध प्रकार का पाठ्यक्रम का ढंग समझाया। कलाएँ शिक्षण विधि से सम्बन्धित पुस्तकें भी लाकर दीं। हर विषय खेल की तरह सिखाने के लिए आवश्यक सामग्री जुटायी। [illegible] नक्शे और अंक का ज्ञान कराने को आवश्यक चित्र और चार्ट लाकर दिये। बच्चों में प्रकृति और पशु पक्षियों के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए शाला के आँगन में ही एक छोटा सा चिड़ियाघर बनाया। [illegible], मोर, हिरन, [illegible] और अजगर यहाँ लाकर रखे। बच्चों के [illegible] का [illegible] सीढ़ी, [illegible] भी बनवायी। उनके लिए [illegible] की व्यवस्था की। नारायणराव [illegible] थे। वे एक दूसरे घर में रहते थे। इधर बच्चों के साथ रहने के लिए एक आदमी की आवश्यकता थी इसलिए एक और व्यक्ति को नियुक्त कर लिया। वे ट्रेनिंग पा कर आ चुके थे। उनको स्कूल की नौकरी भी कहीं नहीं थी। [illegible] भी [illegible] था। [illegible] भी सकते थे। [illegible]

पर अपने छात्रावास में बुला लिया। कर्ज के बोझ से कहीं उनके काम में बाधा न पड़े यह सोचकर कहीं और से कर्ज लेकर उनका कर्ज चुकता करवा दिया। अब विद्यार्थियों की कमी थी। शाला तो उन्हीं से चलनी थी। पहले तो उत्साह दिखाने वाले मित्रों ने भी अपने बच्चों के लिए वह जगह उचित नहीं समझी अथवा इस संस्था की जिम्मेदारी से बचने को ऐसा किया होगा। खैर उनके बच्चों के लिए यह संस्था दूर पड़ती थी। यह जगह प्रतिदिन संध्या के समय बच्चों का यात्रा स्थल बन गयी। बच्चे यहां खेलने, जानवर देखने और लोट पोट करने को इकट्ठे होने लगे। आस पास के चार गरीब बच्चे इस शाला में पढ़ने आने लगे। वे एकदम निम्न स्तर की बुद्धि के बच्चे थे। पांचवीं तक के यदि पचास बच्चे भी होते तो खेलों के द्वारा पाठ सिखाने का प्रबंध किया जा सकता था। हमारी शाला में बच्चों की संख्या तीन और दस के बीच आने जा रही थी। एक एक कक्षा में दो दो बच्चे लेकर कौन सा प्रोजेक्ट चलाया जा सकता था? सरकारी करिक्युलम में मेरा विश्वास नहीं था इसलिए मैंने अपनी शाला के लिए सरकारी सहायता का प्रयत्न भी नहीं किया। तब प्राइवेट में पढ़कर सरकारी स्कूलों में चौथे फार्म में दाखिला लेने की सुविधा थी। बच्चों की वहां तक तैयारी कराने के लिए मुझे सरकार से स्वीकृति लेनी आवश्यक नहीं लगी। अब समझ में आया कि लोग तो बिना सरकारी मोहर के स्कूल को महत्व ही नहीं देते।

सदाव्रत

खैर जो भी हो, जगह जगह से अनाथ और भूखों को इकट्ठा किया। मेरे छात्रावास में सात आठ लड़कों की भोजन व्यवस्था हुई। उनके साथ हायर एलिमेन्टरी तक पढ़े एक लड़के को भी ले आया। उसे भी कोई धंधा सिखाने का विचार था। स्कूल छोड़ छाड़कर गांव में आवारा भटकते उस लड़के को लाकर हामूल कृष्णराजपुर में भेजकर मुर्गी पालन का प्रशिक्षण दिलाया। उसकी खातिर लगभग पांच सौ रुपये लगाकर मुर्गीखाना खोला। चिड़ियाघर के साथ-साथ लगहान, टर्की मुर्गियां आदि की देखभाल करना भी उसका काम था। बाग में जरूरी दड़बे और बाड़े आदि बनवा दिये। मैं बीच-बीच में गांव आकर निरीक्षण किया करता था। शाला के पूरे खर्च की जिम्मेदारी मेरी थी। इस सबके लिए हर मास डेढ़ सौ रुपये की जरूरत होती थी। अपनी आय बढ़ाने के लिए कुछ पाठ्य पुस्तकें एक प्रकाशक को लिखकर दीं। जो भी आमदनी होती वह शाला के खर्च में लगा देता। बाहर किसी के पास भिक्षा मांगने नहीं गया। रोंबवास भवन बन्द शाला भले बन्द मेरे लिए तो यही बहुत था। उनसे खर्च का धन मांगने का मेरा मन नहीं हुआ।

लापरवाही

मैं गाँव में रहूँ या न रहूँ, स्कूल की रखाई का उत्तरदायित्व दिन-दिन बढ़ता गया। उनकी देखभाल का भार अध्यापक महाशय अपने कन्धे के भार से मुक्त हुए। ही दूसरा काम संभालने का मेरी अनुपस्थिति में पालन करे। धीरे-धीरे मोहन नामक लड़का कुछ और ही ढंग से काम करने लगा। उसकी देखभाल में मुर्गियाँ मरने लगीं और अण्डे भी कम होने लगे। फिर भी हमारी पचीस मुर्गियाँ साधारण रूप से साल भर में डेढ़ सौ अण्डे दे देती थीं। चार हजार मुर्गियाँ और दसों मुर्गियों से लगभग साल भर अण्डे मिलने चाहिए थे। हिसाब से, ऐसा था पर पन्द्रह मुर्गियों में से एक वर्ष में कुल चार रह गयीं। नाहक उस लड़के की देखभाल में कितनी बढ़िया रही होंगी! दूसरे जानवरों की देखभाल भी उसने ऐसे ही की थी। सिन्धावर की भी यही दुर्गति हुई। हफ़्ते में जब भी वहाँ पहुँचता तो मुझे यही सुनने को मिलता कि इस सप्ताह यह प्राणी मरा, उस सप्ताह वह प्राणी मरा।

फल चाहिए काम नहीं

उस लड़के के कुछ सहपाठी गाँव के हाई-स्कूल में पढ़ते थे। उन मित्रों ने उसके पास आकर मज़ाक उड़ाया, "अरे, तुम मुर्गी पालने जैसा काम करते रहते हो!" अंग्रेज़ी पढ़ने के बजाय मुर्गी पालना उसे घटिया काम लगा होगा। वह मुर्गी न पालने वाले खानदानी परिवार से था या नहीं। एक दिन जब मैं गुस्से में आया तो वह बोला, 'क्या मुझे हाई-स्कूल नहीं जाना चाहिए?' मैंने कहा, 'जाना चाहिए, मना किसने किया?'

"मैंने समझा कि आप पढ़ने देकर एक नौकर के रूप में रखेंगे। ऐसा आपने अब तक भी नहीं किया।" कहकर उसने अपनी निराशा प्रकट की। तब मैंने कहा, 'मैं मुर्गी खाने वाला नहीं हूँ और अण्डे भी नहीं छूता। तुम्हें एक पेशा सिखाने के लिए मैंने यह सब किया। तुम्हें काम में रुचि नहीं। केवल वेतन चाहिए। तीन वर्ष में सारी मुर्गियाँ ख़त्म, दीवाने और हो गए तुम। जहाँ भी सीखने जाओगे वहाँ ऐसे ही पल कमाने के बारे में सोचोगे? मुर्गियाँ पालकर पैसा सोचने का मन कैसे हुआ तुम्हें?' यह मनोवृत्ति हमारे यहाँ अधिकांश लोगों में पायी जाती है। शिक्षा में रुचि नहीं। वेतन और नौकरी की ओर ही हमारी आँख लगी रहती है। युद्ध के आरम्भ में कई स्थानों पर 'वार टैक्नीशियन्स' तैयार करने लगे हैं। लगभग पच्चीस रुपये प्रतिमास मिलते हैं। पर मैंने देखा कि जितने युवक इस स्कूल में ही समय गुज़ारते थे, उनका ध्यान काम की ओर नहीं रहता था, नौकरी की ओर ही रहता था। एक हज़ार रुपये वेतन पानेवाले नौकरों की दशा भी ऐसी ही है। हम किसी भी उद्योग में अभिरुचि नहीं। रुचि केवल वेतन

में है। उसकी नींव हमारे विद्यालयों में ही पड़ जाती है। विद्यार्थी ज्ञानवृद्धि के लिए पुस्तकें नहीं पढ़ते। वे तो परीक्षा पास करने का एक साधन मात्र हैं। उसके लिए जितनी आवश्यक हो उतनी ही पढ़ाई होती है, उनकी आँख उसके बाहर नहीं देखती। पढ़ाई समाप्त होने के बाद लगता नहीं कि वह उस शिक्षा का कोई अंश याद भी रहता हो। काम में रुचि लेने की मनोवृत्ति कितने लोगों में होती है?

छुटकारा

तीन वर्ष तक यह पाठशाला चला कर मैं थक गया। एक-दो मित्रों से ज़रा सहायता करने को कहा पर उनसे कोई उत्तर नहीं मिला। अध्यापक नारायण राव अकेले मेहनत कर-करके थक गये थे। बच्चे केवल भोजन की सुविधा के कारण ही आये लगते थे। किसी भी कक्षा में तीन से अधिक विद्यार्थी न हो पाये। नारायण राव ने बड़ी निराशा से पूछा "क्या किया जाय, साहब?" मैंने भी सोचना शुरू किया। कर्ज़ सिर पर लदा था। केवल छः लड़कों के लिए मेरे एक सौ पचास रुपये खर्च करने से क्या मिला? लगा कि शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं और न ही मेरे पैसे का। नारायण राव को मैंने उनके घर भेज दिया। बच्चों को भी अपने-अपने घर भेज दिया। चिड़ियाघर में बचे खुचे प्राणियों को स्वतन्त्र कर दिया। एक दो प्राणी जो केवल हम पर आश्रित थे, वहीं रह गये। वह स्कूल बन्द करने से पूर्व ही मैं गृहस्थ बन चुका था। मन में यही निर्णय किया कि चलो रहने का एक जगह बन गयी। उस दशा में यही एक तृप्ति की बात थी।

शान्ति नहीं मिली

मंगलूर के एक स्कूलवालों ने मुझे उनके यहाँ आकर शिक्षा देने को आमंत्रित किया। उनका कहना था कि पुत्तूर जैसे छोटे गाँव में भला क्या किया जा सकता है? हमारे यहाँ आकर कोई नया प्रयोग क्यों नहीं करते? चुप चाप पड़े रहने की अपेक्षा उसीको बेहतर समझकर मैंने वही काम स्वीकार कर लिया। वह एक हायर एलिमेंटरी स्कूल था। वहाँ सप्ताह में दो-तीन दिन जाया करता था। अध्यापिकाओं को नयी शिक्षण पद्धति सिखाने लगा। देश के इतिहास को अपनी संस्कृति के रूप में सिखाने का प्रयास किया। उसके लिए आवश्यक चित्र और पुस्तकों का प्रबन्ध किया। भूगोल, गणित, विज्ञान, भाषा आदि को नये ढंग से मन में समान बच्चों को सिखाने के प्रयोग किये। उन प्रयोगों के लिए मुख्य रूप से अध्यापकों का श्रम और उत्साह अपेक्षित था। पाठ्य पुस्तकें मुख्य नहीं विषय तो वही था। परन्तु विषय से सम्बन्धित अन्य साधनों को जुटाकर, बच्चों में ज्ञान के प्रति कुतूहल जगा कर शिक्षा देने का मार्ग दिखाया। इस काम के लिए एक-दो

अध्यापिकाओं ने बड़ी लगन से आवश्यक वस्तुओं का निर्माण किया। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस शिक्षण पद्धति से बच्चों में रुचि बढ़ती है। और एक दो ने स्कूल के व्यवस्थापकों की रुचि देखकर थोड़ा बहुत काम किया। लगभग तीन वर्ष तक मैंने अधिक से-अधिक उन पाठों को नये ढंग से सिखाने का प्रयत्न किया। अध्यापिकाओं को तो यह डर था कि पता नहीं इन्स्पेक्टर क्या कह दें। परन्तु कुछ इन्स्पेक्टर उनका काम देखकर बड़े खुश हुए। बाहर के अध्यापकों को भी यहाँ बुलाकर वह काम दिखाने लगे।

प्रतिवर्ष अप्रैल मास में पाठ्यक्रम के बाहर के विषयों को सिखाने के एक दो प्रदर्शन किये। उस काम में बच्चों को साथ लेकर अध्यापकों ने कई प्रकार की वस्तुएं तैयार करके प्रदर्शित कीं। कुछ समय बाद वह स्कूल हाई स्कूल बन गया। उसी में हमारे काम की इतिश्री हो गयी। बी० ए० एल० टी० उत्तीर्ण अध्यापकों को न केवल इस प्रयोग बेकार लगे अपितु मेरे जैसे विश्वविद्यालय की डिग्री रहित व्यक्ति के मार्गदर्शन में काम करना कतई पसन्द नहीं आया। उन्हें यह सब एक पागलपन सा लगा। इतना ही नहीं, जब कुछ लोग उनके लिए श्रम कर रहे हों तब स्वयं पीछे हटना ठीक नहीं महसूस करके काम करनेवालों ने काम करने शुरू किए। धीरे धीरे वे भी पीछे हटने लगे। मेरा तीन चार वर्षों का परिश्रम व्यर्थ हो गया। इसी प्रयोग को आगे चलाए रखने का साहस स्कूल के प्रबन्धकों में न था। ऐसे काम से छुटकारा मिलने पर काम करने वालों को भी सन्तोष होता है। कम से कम मेहनत करके विद्यार्थियों को शिक्षित करके नाम कमाने का अवसर जब हो और काम से जब कोई प्रतिफल न हो ऐसे काम में सिर खपाने भला कोई क्यों जायेगा? ऐसी परिस्थिति में मैंने भी सोचा की अपना समय और परिश्रम व्यर्थ गँवाना पागलपन है। आगे धीरे से वहाँ से सम्बन्ध तोड़ने लगा। अब मेरे लिए एक ही काम बचा था। इन कामों के लिए लिये गये कर्ज को कोई और काम करके पटाना था।

दशहरे का उत्सव

हुबली का मेरा एक और विशेष काम था, दशहरे के उत्सव में भाग लेना। धारवाड़ आदि प्रान्तों में ऐसे उत्सव होते थे। अन्य जगहों में भी दशहरे के मौके पर दस दिन भाषण आदि के कार्यक्रम मुख्य रूप से हुआ करते थे। मुझे उनसे सन्तुष्टि न हुई। मेरे मन में इच्छा हुई कि इस उत्सव के साथ एक प्रकार का सांस्कृतिक शिक्षण भी हो तो और भी अच्छा है। यह विचार शिक्षकों के सामने प्रकट करने पर उन्होंने उत्साह बढ़ाया। सन् 1931 से लगभग बारह वर्ष तक हर दशहरे पर यहाँ दस दिन का एक बड़ा त्योहार होने लगा। शिक्षकों के अनेक पचीस दिन उसकी व्यवस्था के लिए कमर कसकर तैयार हो गए। ...

की व्यवस्था, पैसे का प्रबन्ध और अन्य व्यवस्था में मुझे सिर खपाने की जरूरत नहीं थी। ये सब शिवराय और उनके मित्र सम्भालते थे। मेरा काम तो साँझ को भाषण और मनोरंजन के कार्य देखना था। इसमें विद्यार्थी, मित्र और गाँव के अध्यापक सहायता देने को सदा तैयार थे। पूरे दस दिन का व्यस्त कार्यक्रम रहता। सुबह के समय स्पर्धाएँ चलतीं। शाम को कई तरह का व्यायाम प्रदर्शित किया जाता। हर दिन शाम को छः बजे किसी न किसी का भाषण और उसके बाद मनोरंजन का कार्यक्रम होता। कर्नाटक में दूर दूर के गाँवों से कुछ मित्र आकर भाषण देते थे। भाषण का विषय हम ही सुझाते थे। साहित्य के बारे में भाषण देनेवाले तो बहुत थे पर कला, राजनीति, विज्ञान, धर्म प्रत्येक की चर्चा हमें चाहिए थी। गुप्त रोगों के बारे में भी हमने भाषण करवाया। चलचित्र भी दिखाया। नवरात्रि के दिनों में आस पास के गाँवों से लोग पुत्तूर आकर उन भाषणों को सुनते। श्री के० वी० अय्यर का व्यायाम प्रदर्शन और भाषण, श्री एम० आचार्य के उनके प्रवास के अनुभव, डा० आनारु बॉर के संगीत के बारे में भाषण, मौरिस फ्रिग्मन का धर्म के बारे में भाषण, श्री डी० वी०गुडप्पा की धर्म चर्चा—इन सब लोगों से जिन जिन विषयों पर चर्चा हो सकती थी भाषण कराये। दशहरा निबटने के बाद भाषण देने आये मित्रों को साथ लेकर मैं उन्हें दक्षिण कन्नड़ जिले का प्राकृतिक सौन्दर्य दिखाता। लगता है कि मेरा ऐसा कोई मित्र नहीं जिसने दशहरे पर पुत्तूर आकर भाषणों में भाग न लिया हो।

दशहरा आने के दो तीन माह पहले से ही उसकी तैयारियाँ शुरू हो जातीं। दस दिन के लिए हम नये मनोरंजनों का कार्यक्रम होना होता था। किसी भी कार्यक्रम को दोहराया नहीं जाना चाहिए था। यह कार्यक्रम मेरे लिए कला की एक प्रयोगशाला थी। विविध प्रकार के नृत्य नाटक और दृश्यों पर प्रयोग करने का अवकाश मिला। प्रतिवर्ष गाँव का यक्षगान हमारे कार्यक्रम का एक अंग होता था। पढ़े लिखे और अनपढ़ दोनों को दृष्टिकोण में रख हम ये कार्यक्रम बनाते होते थे। इस कार्य में मेरे मित्रों की सहायता का तो हिसाब ही नहीं था। कला के बारे में अलग ही लिख रहा हूँ। अतः यहाँ एक ही कार्यक्रम का उल्लेख करता हूँ। एक बार प्राचीन मानव का जीवन दिखाने का प्रयास किया। वह एक दृश्य-माला ही थी। पुरातन मानव के हिसाब से अभिनेता की सज्जा करके प्राचीन काल के लोग जंगली पशुओं आदि का शिकार करके कैसे जीवन बिताते थे इसका प्रदर्शन किया गया।

ऐसे अनेक मनोरंजन, अतिथि सत्कार और भाषणों में कोई पाँच सौ रुपये ही खर्च होते थे। हमारे आठ-दस नाटकों के लिए कुल पचास साठ रुपये का खर्च पर्याप्त था। वेष भूषा कागजों से ही तैयार करने की मितव्ययता से काम लेते थे। आगे सन 1942 में मन्दी का दौर आया। इसके अलावा, इतने वर्षों तक यह

काय एक सघ की तरह एकता से चला पर उसम अब बेसुरा सुर निकलन लगा। एक दो ने मेरी उपेक्षा करके मेरी पीठ पीछे दशहरे का कायक्रम तैयार किया। मुझे बहुत दुख हुआ। अनचाही जगहो मे नाक घुसेडने की मेरी आदत नही। सघ और सस्थाओ मे मुझे कभी विश्वास नही रहा। मेर उत्साह के सजनक्रद्र दशहर म भी जब मित्रो न उपेक्षा की तो मैं उसस सरक कर दूर खडा हो गया।

अनचाही सगत मे नही रहना चाहिए

मित्रो की सहायता से यह उत्सव हुआ करता था, पर लोगो ने समझा कि मैं अपन आपको आगे बढा रहा हू। मुझे इस बात स असहनीय दुख हुआ। अगल वष दशहरे क समय कायक्रम आरम्भ करन के लिए मैं आगे नही बढा। दूसर लोग मन्दी की बात कह कर आगे नही आये। स्वय को कला के महारथी कहने वाले मेरे ही मित्र इस फूट का कारण बन। मैं साधारणत सावजनिक कार्यों म कम ही भाग लेता था। जहाँ गया वहाँ अनक जगहो पर निराशा ही हाथ लगी। दशहरे का यह उत्सव भी उन्ही की श्रेणी म जा मिला।

गाँव के लोगो के लिए तो दशहरे का उत्सव जाता रहा। दशहरे क उत्सव की हर वष प्रतीक्षा करनेवाले आबाल वद्ध का अपने नीरस जीवन म केवल दस दिन को जो सन्तोष मिलता था वह हमारे कारण जाता रहा। यह व्यथा मुझे कचोटती रही। आगे कुछ वष तक गाव वालो न किसी प्रकार उत्सव चलाया पर पहले जैसा आकषण उसमे नही रहा। वह उत्साह भी नही रहा। वह प्रयत्न भी अधिक समय तक नही चला।

शिक्षा और भाषा

अपूर्ण इच्छाएँ

विद्वानों का कथन है कि बच्चों की सुप्त प्रतिभा को जागृत करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। परन्तु वास्तविकता यह है कि शिक्षा की पद्धति तब यांत्रिक हो चुकी थी। उसमें बच्चों की सद्बुद्धि सृजन क्रिया, विचारशीलता के विकास के लिए कोई स्थान ही नहीं रह गया था। मुझे ऐसा लगता था कि इसे आधुनिक ढँग से विकसित किया जा सकता है। बालसभाओं का आयोजन करके मैंने यह अनुभव किया था कि हमारे बच्चों में भी बहुमुखी प्रतिभाएं हैं। उनके प्रकटन के लिए खेल' भी शिक्षा का एक साधन बन सकता है। उन खेलों को हमारे उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनाना हो तो, शिक्षकों को बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा। यह काम कितने ढँग से किया जा सकता है उन सबका प्रयोग करके देख चुका था, उससे क्या लाभ हुआ? मेरी शाला ही नहीं चल सकी। पाठ्य पुस्तकों को ही सब कुछ समझनेवालों आम शालाओं में पाठ्य पुस्तकों को भी बच्चों के लिए आकर्षक बनाकर पढ़ाने की विधि प्रयोगों से दिखाने पर भी अधिकांश अध्यापकों को वह बेकार का परिश्रम लगा। कोई भी बच्चों की शिक्षा के लिए परिश्रम करने को तैयार नहीं। पाठ्य पुस्तकों से पहले आप पढ़ लेने या उनके साथ पढ़ाने का काम सरल है। उन पुस्तकों में लिखे प्रश्नों को ही पूछा जाय तो बच्चों को कोई भी लाभ नहीं होता। पर इस प्रकार के सरल साधन ही अध्यापक पसन्द करते हैं। बेकार परिश्रम करने के बदले जो वेतन मिलता है उसके लिए यही काम ज्यादा है ऐसा कहने वाले भी मेरे ध्यान में हैं।

कुछ पुस्तकें

मैंने कई विषयों में बच्चों के पाठ्यक्रम के बारे में विस्तार से सोचा था और प्रयोग भी किये थे परन्तु उस पर आम लोगों का अनादर देखकर चुप हो गया। अपने बालवन में ऐसे प्रयोग करने के लिए धन की आवश्यकता थी। वह भी मुझे अलग से परिश्रम करके कमाना था। तब मैंने सोचा कि भाषा, विज्ञान और

भूगोल जैसे कुछ विषयों पर कुछ पुस्तकें क्यों नहीं लिख डालूँ!

पाश्चात्य भाषा शिक्षण में कहते हैं कि अक्षर से शुरू करने से ग्रहण शक्ति को नुकसान होता है। इसलिए वाक्यों से पढ़ाना आरम्भ किया। बेलाड की पद्धति से मैंने भी वाक्य बोधन के क्रम को ही अपनी शाला में अपनाया। उसके साथ परोक्ष ढंग से अक्षर ज्ञान भी कराना पड़ता है न। यह ध्यान आने पर कि कन्नड में दो सौ से ज्यादा अक्षर संकेत हैं अतः वाक्य बोधन कठिन कार्य है। इसलिए शब्द बोधन को कनिष्ठ गुण के रूप में इस्तेमाल करना ठीक लगा। उसी क्रम का तत्कालीन मद्रास के शिक्षा विभाग के निदेशक श्री मबूर राम राय ने भी वहाँ के पाठ्यक्रम में सूचित किया था। इसलिए मैंने भी उसी को अपनाया। उसी क्रम को अपना कर 'सिरिगन्नड पाठमाले' शीर्षक से सात पाठ्य-पुस्तकें तैयार कर उनमें भाषा सौन्दर्य और नाद सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया। वह पाठ्य की तरह का गद्य था। शिक्षा में रुचि रखनेवालों में कुछ लोगों ने उसे पसन्द किया। विशिष्ट शब्दों के भूल को भगाकर भाषा के सुन्दर मुहावरों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया। उन पुस्तकों के प्रकाशक मित्र को ऐसा लगा होगा कि लेखक कारंत को इतना पारिश्रमिक देना भूलता है जबकि सस्ते में लिखकर देने वाले कई अध्यापक हैं। इसलिए हमारा करार टूट गया।

मैंने और एक पाठमाला पहले के क्रम में लिखकर प्रकाशित की। परन्तु प्रकाशकों का अच्छी किताबें प्रकाशित करने से काम नहीं चलता, उन्हें शालाओं में लगाने के लिए अधिकारियों के दरवाजे भी खटखटाने आवश्यक थे। मैं वह काम कर नहीं सका। चुप हो गया। अध्यापकों को भी उनका भाग देकर पुस्तकें बेचने का एक तरीका है!

भाषा की शिक्षा के योग्य आकर्षक बनाने का मेरा प्रयास यहीं आकर रुक गया।

और एक बार

इस बात को भूल बैठे बहुत समय के बाद मुझे एक और अवसर मिला। प्रौढ़ों के लिए किस शिक्षण क्रम को अपनाना चाहिए इस पर यूनेस्को ने कुछ प्रयोग करने का एक कार्यक्रम बनाया। सन 1953 में उनके द्वारा नियोजित अनुसंधान कर्ताओं का एक शिविर मैसूर के पास यलवाल में हुआ। उसके मुख्य निर्देशक जान बोवस से मेरा परिचय पहले ही पेरिस में हो चुका था जिसकी चर्चा मैंने पहले भी की है। यूनेस्को वह अनुसंधान कार्य जब मैसूर में कर रही थी तब उसका एक अंश कन्नड में करना था। उसके लिए यात्रा ने मेरी सहायता माँगी।

उस दल में देश विदेश से आये शिक्षाविद मानव शास्त्री, रशिया और चल-

चिन के प्रचार के साधना के विशेषज्ञ और अध्यापक भी थ। इनम नार्वे, डेनमाक जमनी, फास बलजियम आदि देशवासिया के साथ कुछ पौर्वात्य भी थ। भारत सरकार के आम त्रण पर यह काय हमार देश म चल रहा था इसलिए कुछ भारतीय भी उसम थ।

अनुसधान का दृष्टिकोण

उनके अनुसधान का विषय था कि किसी सामाजिक प्रश्न को लेकर उसे भाषा, चित्रो रेडियो सिनमा क द्वारा किस प्रकार दिखाया जा सकता है। उनक द्वारा तयार किय गये शिक्षण के साधना को ग्रामीण लोगा के सामन रख कर और यह परीक्षण करके कि उनका उन लोगो पर क्या प्रभाव पडता है और उनम क्या परिवतन आवश्यक है, वे लोग यह देखना चाहते थ।

यलवाल के आस पास पेड पौधे बहुत कम हैं। पेड-पौधो का अभाव वर्षा और फसल के लिए हानिकारक है इस विषय को उन्होन अपन प्रचार के रूप म लिया। मैंने उनके लिए रेडियो से प्रसार करने क लिए पद्य रूप म एक कथा तयार की। मेरा मुख्य काय प्रौढो के लिए पाठय पुस्तक तयार करना था। मर यहाँ पहुचन स पहले उन्होन एक पाठयक्रम तयार कर रखा था। उसका पहला पाठ गाव के कुएँ क बारे म था। वह साधारण स्वास्थ्य विषय के पाठ के समान ही था। इस पर मैंने उनसे एक प्रश्न पूछा, 'आपकी पुस्तक का मूल उद्देश्य उपदेश है अथवा पढने म पहले अभिरुचि पदा कर बाद म पाठक को अपनी इच्छानुसार अपेक्षित विषय पढन म सहायता करना है?' वे मरा सकेत समझ गये। उन्होन मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे दी और यह कहा कि प्रौढा के लिए आकर्षक ढग से रोचक विषय चुन कर कवल सौ अथवा डेढ सौ शब्दो मे एक पाठ तयार कर। इन शब्दो की पुनरावृत्ति होनी चाहिए।

वाक्यो द्वारा पढाने की पद्धति क लिए यह एक चुनौती थी। उस उद्देश्य से यलवाल जस गाँव की हरियाली को लेकर मैंने एक कहानी लिखने का विचार किया। उसीके अनुसार एक पाठ भी तैयार किया। 'जोगी कडउरू' शीर्षक बनाकर लगभग बीस पाठो म एक मृत गाँव की कहानी तयार की। उसी का दूसरा भाग 'देव ओलिद उरु' (भगवान का प्रिय गाव) लिखा। उसमे एक जोगी क उपदेश स प्रभावित होकर गाँववाले पेड पौधे लगाकर सुखी जीवन बितात है यह दिखाया। लेखन पर यहाँ कई प्रकार के प्रतिब ध थ। जसे—

1 बहुत छोटे छोटे शब्दो का प्रयोग करना चाहिए।
2 व शब्द पाठको के लिए परिचित होने चाहिए।
3 उनका बार बार प्रयोग होना चाहिए।

4 वाक्य याद रखने लायक होने चाहिए।
5 कथा में रुचि और प्रवाह होना चाहिए।
6 शब्द 100 120 से ज्यादा नहीं होने चाहिए।

मेरे लिखे पाठों को शिविर की अध्यापिकाएँ ग्रामीणों में ले जाकर, उन्हें दिखा कर उनके परिणामों का अध्ययन करती। शब्दों की पुनरावृत्ति कम हो तो—जैसे एक शब्द जो एक से लेकर आठवें पाठ तक नहीं आया था—वे उस पर मेरा ध्यान दिलाती। इन सब शर्तों को पूरा करने के लिए मुझे एक ही पाठ को कई बार लिखना पड़ा। उस कहानी को पाठकों के लिए सरल बनाकर लिखना था। पाठकों में कुतूहल और अभिरुचि पैदा करनी थी, उसके प्रति ममत्व पैदा करना था। मुझे यह अंश सबसे ज्यादा पसन्द आया। इस काम में हमारी भारतीय अध्यापिकाओं की अपेक्षा परिस की एक नीग्रो अध्यापिका की रुचि ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया। यहाँ के वसु नाम के एक बंगाली अध्यापक ने भी उस पाठ में विशेष रुचि ली। यह काम मुश्ताक अहमद के नेतृत्व में दो वर्ष तक चला। मैंने उनके लिए कुल पाँच पुस्तकें तैयार की। मैं स्वयं कभी-कभी यलवाल जाता था। वे भी अवसर मेरे घर आ जाया करते थे। पुस्तक प्रकाशित करा कर उसके शिक्षण के लिए अपेक्षित सारी सामग्री जुटाने तक सभी ने परिश्रम किया। उस पुस्तक के लिए चित्र बनाने के लिए चित्रकार हेब्बार को यलवाल निमन्त्रित किया गया था। उस प्रशिक्षण शिविर को समाप्त करते समय उस अवधि में जो चीजें उपयोग में आयी थी, उन्होंने वे सब मैसूर के प्रौढ शिक्षा केन्द्र को दान कर दी थी। पता नहीं उससे क्या कितना लाभ हुआ।

मेरा मन ऐसे क्रिया कलाप में बहुत कुतूहल रखता था। परन्तु शिक्षा जगत् के लिए मैं एकदम परकीय था। जब तक नवीन संशोधनों के लिए हमारा शिक्षा विभाग अन्धा बना रहेगा तब तक सब कुछ व्यर्थ है। शिक्षण क्रम में बच्चों की अभिरुचि बनाए रखकर, उसको विकसित करने की इच्छा उत्पन्न होने से पहले ही, राष्ट्रीयकरण का नशा हमारे लिए प्रमुख हो गया। तब तक गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की आलोचना करना आसान था। अब तो दरबार सरकार पर टीका टिप्पणी का कोई असर ही नहीं होता है। शिक्षा राजनीति के अधीन हो गयी है। उन पाठ्यक्रमों में चाहे जैसी अवांछनीय बातों के घुस आने पर भी किसी का उस ओर ध्यान ही नहीं जाता।

भाषा शिक्षण

यह सब प्रयोग करते हुए मुझे अपने देश की पाठ्य-पुस्तकों की विशेष कमियाँ दिखायी दी। हम पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में कोई निश्चित पद्धति नहीं अपना रहे। कन्नड की पुस्तकें लिखनेवालों को भाषा पर अधिकार चाहिए। शब्दों का

प्रयोग क्या किया जाता है, उनकी पुनरावृत्ति का क्या कारण है किस प्रकार की शैली भाषा को शक्ति प्रदान करती है, भाषा शिक्षण के विषय कैसे होने चाहिए, विज्ञान में और उसमें क्या सम्बन्ध है, आदि अनेक बातों के बारे में हम लोग सोचते ही नहीं। लोगों की बोल चाल की जो भाषा है उसे, और मातृभाषा सिखाते समय हम व्याकरण की सहायता लेनी चाहिए? यदि लें तो किस तरह? यह प्रश्न भी उठता है। भाषा तो सुनकर सीखने की चीज है। व्याकरण भी अपने आप आ जाना चाहिए। कन्नड व्याकरण सिखाते समय वह संस्कृत अथवा अंग्रेजी व्याकरण का अनुवाद नहीं हो इसका भी हमें ध्यान होना चाहिए। प्रकाशकों का ध्यान पाठ्य पुस्तकों से मिलनेवाले लाभ पर ही रहता है। आजकल यही मनोवृत्ति काम कर रही है। पाठ्य पुस्तकों का स्तर एकदम घटिया स्थिति में पहुंच चुका है।

अपने मन की तसल्ली के लिए पाठ्य पुस्तकों की बात से मैंने अपने को दूर कर लिया। परन्तु छोटे बच्चों के लिए सात आठ कहानियाँ और कविताएं लिखकर प्रकाशित करायी। बड़ों को उन्हें खरीदकर बच्चों को देना चाहिए न? बच्चों का अपना ही एक अलग जगत होता है। उसके बारे में जानने के लिए उपयुक्त पुस्तकें हमारे यहाँ नहीं हैं। इस दिशा में कोई विशेष प्रगति भी नहीं हुई है।

बहुत दिनों बाद

बाल सभा और बाल वन आदि मेरे क्रिया कलाप इस शताब्दी के चौथे दशक तक चले। उसके पन्द्रह वर्ष बाद मैंने प्रौढ़ों के लिए पुस्तकें तैयार करने का काम शुरू किया था। दस वर्ष बाद उन प्रश्नों की ओर मेरा मन फिर से उस ओर मुड़ा। जिन दिनों मैं बच्चों के लिए वैज्ञानिक विषयों के बारे में छोटी छोटी रचनाएं आकर्षक ढंग से तैयार करने में लगा हुआ था उन्हीं दिनों दक्षिण भाषा संस्था वालों ने यूनेस्को की सहायता से एक विचार गोष्ठी जून 1963 में आयोजित करने का निश्चय किया। उनके द्वारा मुझे निर्देशक रूप में आमन्त्रित करने पर आश्चर्य हुआ। इसके लिए मुझमें कोई गर्व या अहंकार नहीं था। इस बीच संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित अनेक पुस्तकें देख चुका था। इससे पहले भी बहुत सारे साहित्य का निर्माण हो चुका है। अब तो विज्ञान के बारे में अद्भुत और आकर्षक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। उनके आकर्षण से प्रभावित होकर मैं वैसी ही पुस्तकों की रचना करना चाहता था। उस आमन्त्रण ने मुझे उसी विषय पर काम करनेवालों से परिचय करने का अवसर प्रदान किया।

दक्षिण के कन्नड, तेलुगु, तमिल और मलयालम प्रान्तों की बाल पुस्तकों के लेखक, चित्रकार, प्रकाशक और मुद्रकों का एक सम्मेलन बेंगलूर में हुआ। उसके

सचालन का सर्वाधिकार दक्षिण भारत सस्थान ने मुझे सौंपा । वह काम बडी जिम्मेदारी का था ।

वहाँ आये प्रतिनिधियो से पता चला कि इस बारे मे हमारे यहाँ अब तक हुआ काम बहुत कम है । पहले की लिखी कथा कहानियाँ अब दृष्टिगोचर ही नही होती । नय प्रयत्न करनवाला को पर्याप्त प्रोत्साहन नही मिलता है । काम करनेवाले लोग भी कम हैं। बच्चा के लिए आवश्यक पुस्तकें और विषय बहुत आकषक होने चाहिए इस बारे मे दो मत नही थ । परन्तु ऐसी रचनाए कसे लिखी जाएँ इस बार मे विस्तार से विचार विमश हुआ । उसम अधिक रुचि रखनेवाले हम ही लोगा को एसा लगा कि अब तक जितना काय हुआ है और जो विभिन्न क्षेत्रो म हो रहा है सबका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है ।

यदि एस काय को सफल करना हो तो उसे ऊँचे स्तर पर और बडी मात्रा मे शुरु करना होगा । बच्चा का मानसिक स्तर, आयु और अभिरुचि देख कर हजारा की सख्या मे पुस्तकें प्रकाशित होनी चाहिए । ऐसी प्रकाशित पुस्तका का तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है । जो काय किया गया है उसम यदि कही सफलता नही मिलती है तो उसके कारणा का परिशीलन करना होगा। उस सम्मलन ने हमार काय की गहराई और विस्तार को समझने म हमारी विशेष सहायता की ।

शिक्षण की स्वायत्तता को अपन हाथ म लेकर सरकार ने पाठय पुस्तको का राष्ट्रीयकरण करक अपनी सकुचित बुद्धि का परिचय दिया है । उसने स्वतन्त्र रूप से लिखनेवाले लेखको और प्रकाशका को दूर रख कर शिक्षा-क्षेत्र मे एक गलत कदम उठाया है । लेकिन आजकल सब पर राजनीति का नशा सवार है । बुद्धि को नियन्त्रित करने का काम भी हमार नेताओ न शुरु कर दिया तो कोई आश्चय नही । हम तो प्रजातन्त्र क माग पर चल रहे हैं, परन्तु हमारा काम तो मन को दासता की ओर ले जा रहा है ।

शिक्षा और अन्य विषय

पढ़ने में आसक्ति

शुरू में ही मेरी पढ़ने की आदत सीमित थी। मैं कभी भी पुस्तक का कीड़ा नहीं रहा। विद्यार्थी जीवन में तो कहानियों की किताबें खूब पढ़ता था। वे भी अधिकांश अंग्रेजी की हुआ करती थीं। बाद में कन्नड साहित्य में विहार किया। हाई-स्कूल के बाद कालेज में प्रवेश पाने पर वहाँ के पुस्तकालय का यथासंभव उपयोग किया। मेरे प्रोफेसर ने अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने को कहा था पर मैंने तो अपने देश से संबंधित किताबें ही अधिक उलट पलट कर देखीं। आगे पत्रकारिता में कदम रखने तक यानि असहयोग आंदोलन में भाग लेने तक मैंने बहुत कम किताबें पढ़ी थीं। यदि यह कहूँ कि यह पढ़ाई गांधी साहित्य तक ही सीमित थी तो गलत न होगा। लेकिन जब मैं स्वयं पत्रिका का सम्पादक बना तो अपनी जिम्मेदारी समझने के बाद मुझे बहुत सी पुस्तकें पढ़नी पड़ीं। मेरी रुचि कला विज्ञान और राजनीति में था। अधिकतर मैं सामान्य ज्ञान से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ने लगा। कहानी उपन्यास पढ़ने का अभ्यास कम हो गया। नाटक लिखने शुरू करने के बाद मैंने अनेक पाश्चात्य नाटककारों की रचनाएँ पढ़ीं। बाद में मेरी पढ़ाई अधिकतर अंग्रेजी पुस्तकों तक ही रह गयी। विविध विषयों के ज्ञान के लिए लालायित होना मेरा स्वभाव बन गया तो कहानी जानने के लिए कहाँ से पढ़ पाता? उपन्यासकार होने पर भी मैंने दूसरे देशों के उपन्यास ज्यादा नहीं पढ़े। मुझे कहानी का स्वाद ही नहीं जान पड़ा। जहाँ मानव का चरित्र भलीप्रकार चित्रित हुआ हो ऐसी रचनाएँ पढ़ने लगा। मनोरंजन अथवा समय काटने को मैं कभी नहीं पढ़ता था।

अंग्रेजी भाषा में विविध विषयों पर लिखी पुस्तकों ने विशेष कर प्रभावित किया। विषय कोई भी हो, मुझे पसंद आता। मनोविज्ञान, शिक्षा सम्बन्धी विचार, विज्ञान के विविध अंग, मानवशास्त्र, राजनीति आदि सभी तो चाहिए थे मुझे। मैं जिस संसार में हूँ वह कैसे नित्य बदलता है यह जानने का कुतूहल मुझमें

सदा बना रहता है। आज भी ऐसे विषय जानने के लिए अनेक विदेशी पत्रिकाएँ और पुस्तकें मंगाकर पढ़ा करता हूँ।

पढ़ने के बाद ?

पढ़ाई से विशेष सम्बन्ध रहने से कन्नड भाषा का ज्ञान-दारिद्र्य देख कर बड़ा दुख हुआ। एक ओर पुराने साहित्य पर भरोसा रख कर बैठे लेखक, तो दूसरी ओर केवल कहानी कविता, उपन्यास आदि शुद्ध साहित्य से खुश होनेवाले, कदम-कदम पर अधकचरे ज्ञान रखनेवाले या ज्ञान का दिखावा करनेवाले लोगों के दर्शन होते हैं। समाज उन्नति तभी कर सकता है जब चतुर्मुखी ज्ञान वृद्धि हो। हमारा सीमित ज्ञान और थोड़े से प्रयत्न समाज को कितना मजबूत कर सकते हैं ?

बचपन से ही शुरू करना चाहिए

हम जो भी करते हैं वह मन में स्थिर होता जाता है। बाद में जब मन में कोई बात स्थायी रूप से बैठ जाती है और मन उसे बदलने को तैयार नहीं होता, तब चाहे जो भी यत्न किया जाय वह व्यर्थ ही जाता है। बचपन में ज्ञान की लालसा जागृत हो जाय तो आगे का मार्ग सुगम बन जाता है। परन्तु कर्नाटक में बच्चों को पाठ्य पुस्तकों से बाहर झाँकने का अवकाश ही नहीं है। और विषयों की बात तो दूर रही उनके लिए अच्छी कहानियों की पुस्तकें भी नहीं हैं।

अध्यापकों की हालत भी ऐसी ही है। अंग्रेजी से भिन्न शाला के अध्यापकों को अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए आवश्यक साधन नहीं हैं। बच्चों का पढ़ाने की पाठ्य पुस्तकें मात्र ही उनके ज्ञान का भण्डार हो तो उसमें क्या उपलब्धि हो सकती है ?

हमारे यहाँ की पाठ्य पुस्तकें हों या बाल-साहित्य सबका सब एकदम नीरस है। उनमें बच्चों की लालसा जगाने या कल्पना का विकसित करने या या मनोविज्ञान समझने का प्रयास कहीं दिखायी नहीं देता। भूगोल जैसे सरस विषय को भी नीरस रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मैं अक्सर सोचा करता हूँ कि क्या परिस्थिति को बदलना नहीं चाहिए।

चित्रमय दक्षिण कन्नड

मर्केरे पर मुख्य रूप से उसके प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुझे बड़ा अभिमान है। परन्तु यहाँ के भूगोल पर लिखी पुस्तकें तो एकदम नीरस लगती हैं। इतने सुन्दर इलाके की कहानी लिखते समय उसे सरस बनाकर नहीं लिखनी चाहिए थी ? इसलिए मैंने यहाँ का सचित्र भूगोल लिखने का एक प्रयत्न किया। मैंने अपने

जिले के नदी, पहाड प्राणी धर्म व्यापार, वाहन, उद्योग, कुटीरोद्योग आदि को चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने की बात सोची। उसके लिए कुछ फोटो एकत्रित किये। उनमें से एक सौ चित्र चुनकर यात्रा विवरण के रूप में उन्हें तैयार किया। चित्र आदि अच्छे हों तो फिर छपायी भी बढ़िया होनी चाहिए। इसलिए बासल मिशन संस्था द्वारा जर्मनी में उस पुस्तक के चित्रों के पृष्ठों को ग्लूर से छपवाने का प्रबन्ध किया। पुस्तक तो सुन्दर बन पड़ी पर अध्यापकों ने उसे इस्तेमाल नहीं किया।

दक्षिण भारत

ज्यादा खर्च न करके, पर्याप्त चित्र इकट्ठे करके एक चित्रमय दक्षिण भारत का भूगोल लिखा। उसके लिए विशाखापट्टणम से लेकर कन्याकुमारी तक चक्कर लगा आया। वैसे सिंहल द्वीप भी देख आया। श्रीलंका एक सुन्दर द्वीप है। वहां साल भर हरियाली का साम्राज्य बना रहता है। यहां का समुद्र तट भी मालाबार (कन्नड जिले) के समान नदी और खाड़ियों से भरा है। मैं सीलोन में दस दिन घूम कर निगाम्बो कोलम्बो कंडी, यू आर इलिया आदि नगर देख आया। कंडी अति सुन्दर पर्वतीय नगर है। नगर के बीच एक मनमोहक सरोवर है। बुद्ध के दांत के स्मारक के रूप में देवालय भी है। कहते हैं कि वह दांत हाथी के दांत जितना बड़ा था। कंडी के समीप फर्डेनियां नाम का एक प्रसिद्ध सस्योद्यान है। वह तीन ओर से नदी से घिरा है। बीच में देस विदेश के अनेक पेड़ पौधे उगा रखे हैं।

श्रीलंका मलय जाति के हमारे तमिल लोगों और मलबार के मापिल्लों से भरा है। यहां के नगर के लोग आलसी हैं। इसके अलावा यहां रहनेवाले यूरोपीय लोगों की नकल भी करने लगे हैं। यह नकल दिनों दिन बढ़ती जा रही है। आजकल श्रीलंका भारत के समान स्वतंत्र है। वहां के जन जीवन में भी परिवर्तन होने लगा है।

जो भी हो इस घुमक्कड़पन से काफी चित्र एकत्रित करके उपयुक्त पुस्तक लिखी। तब से मेरा मन एक और बड़ा साहस करने को उतावला हो गया।

बाल प्रपंच

अंग्रेजी भाषा में सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी अपना ज्ञान बढ़ाना चाहे तो उसे प्रत्येक विषय पर पुस्तकें मिल सकती हैं। बच्चों के लिए भी सैकड़ों पुस्तकें हैं। कन्नड में प्रौढ़ों के लिए कुछ भी नहीं है। विद्यार्थी अपने आप भले ही न सही, अध्यापकों की सहायता से भी कुछ पढ़ना चाहे तो नाम को भी पुस्तकें नहीं हैं। यदि एक भी विश्वकोष जैसी पुस्तक कन्नड में होती तो ज्ञानवर्धन की इच्छा रखने वालों के लिए एक साधन बनता यह विचार मेरे मन में आया।

अब मैं क्या कर सकता था ? सपने देखना मेरा स्वभाव है। मैंने वह काय करने का निश्चय किया। वह दूसरो के लिए भले ही न सही, अपने लिए तो ज्ञानवर्धन का एक साधन होगा ही। जो विषय मैंने नही पढे थे उन्हे पढने का एक मौका मिलेगा मैंने सोचा।

पहले मैंने यह विचार किया कि उसमे क्या क्या विषय लेने चाहिए। ऐसे काम के लिए मैं ही पहला व्यक्ति नही था। अंग्रेजी मे आयर ने भी 'चिल्ड्रन्स साइक्लोपीडिया' (Children's Encyclopedia) की रचना की। जार्ज न्यूस (George Newns) कम्पनी वालो ने पिक्टोरियल नॉलेज (Pictorial Knowledge) नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की थी। ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं। मुझे अंतिम पुस्तक पसन्द आयी। उसमे एक ही विषय को लेकर चलनेवालो को जो सुविधा है वह दूसरो मे नही है। दूसरो मे ज्ञान को ठूस-ठूस कर भर दिया गया लगता है। उनमे बच्चो के लिए अलग अलग प्रश्नो के उत्तर हैं। एक ही विषय धारावाहिक रूप से अध्ययन करने की उनमे सुविधा नही है।

परन्तु मुझे यहाँ भी एक कमी दिखायी दी। उन्होने भौतिक विज्ञान के बारे में जितना लिखा है उतना समाज विज्ञान के बारे मे नही। राजनीति, मत, धर्म, अर्थशास्त्र आदि पर वहाँ चर्चा नही हुई है। मेरा तो कन्नड मे यह पहला काय था। अत मैंने उन विषयो का भी इसमे समावेश करने का विचार किया। मेरा अगला काम बडा विस्तृत था। उसे कैसे पूरा किया जाय? क्या मैं ही खुद को सवज्ञ समझकर सब विषयो पर लिखूं या प्रत्येक विषय के विशेषज्ञो के पाँव पकडकर विषय संग्रह करूँ? दूसरा रास्ता ही मुझे ठीक लगा। परन्तु मैं कर्नाटक मे रहता था। यह बात नही कि वहाँ विशेषज्ञ नही हैं पर उस काय के लिए आवश्यक व्यवस्था लिखने का सकल्प और उत्साह तो दुलभ है। कर्नाटक का तो मुझे अच्छा परिचय है। एक पत्र का उत्तर छ मास के बाद देने वालो पर विश्वास करके मैं काम कैसे शुरू करता ? यदि उन पर विश्वास करके काम शुरू करता तब मरने के दिन को भी एक हजार बार आगे बढाना पडता, तो भी पूरा नही होता। आज भी वही विश्वास अपने लोगो पर बचा है। मैंने सोचा चलो मैं अपना काम आप ही शुरू कर दूँ। अपने समय का मालिक मैं आप हूँ। मुझे लगा कि काम पूरा न हो तो बहाने की जरूरत नही पडेगी।

विषय-संग्रह

चित्रमय दक्षिण कन्नड के हक को बेचने से लगभग एक हजार रुपए मिले। उसमे से अधिकाश भाग पुस्तकें खरीदने के लिए इस्तेमाल किया। बाकी को दाव खर्च के लिए सुरक्षित रखा। जिन जिन विषयो की पुस्तकें चाहिए थी उन्हें खरीद लेना पुस्तकालयो की ओर भागने की अपेक्षा सरल है। बाद मे लगातार

दुनिया भर के कुछ साइंस म्यूज़ियम, चिड़ियाघर, और सरकारी औद्योगिक क्षेत्र और अनुसंधान संस्थाओं को पत्र लिखने लगा। अमरिका की अनेक संस्थाओं ने मुझे साहित्य और चित्र भिजवाए। आस्ट्रेलिया की सरकार (तब की चीन सरकार) और अफ्रीका की सरकार तथा कुछ संस्थाओं ने मुझे इसमें सहयोग दिया।

यदि मुझे किसी से कोई सहायता नहीं मिली तो हमारे ही देश की औद्योगिक संस्थाओं और बाहर की भारतीय संस्थाओं से नहीं मिली। पत्र लिखने पर भी वे तटस्थ बनी रहीं। उन्हें हिलाया नहीं जा सका। अन्त में मुझे ही सबके पास जाना पड़ा।

काम शुरू करने के बाद आरम्भ में प्राकृतिक विज्ञान के बारे में कुछ अध्याय लिखे। आगे ऐसा लगा कि उससे काम नहीं बनेगा। वहाँ से कडब गया जिसका मैंने 'मुगियद युद्ध' में वर्णन किया है। वहाँ कई अध्यापक मित्र थे। वहाँ मुझे यह विश्वास था कि यदि मैं बुखार में पड़ जाऊँ तो वे लोग सँभाल लेंगे। आवश्यक पुस्तकें मेरा एक लिपिक और एक कमरा, यही मेरे साथ थे। इतना लेकर मैं वर्षा आरम्भ होने से पहले वहाँ पहुँच गया। वर्षा होते ही उस गाँव के चारों ओर नदियाँ होने से संचार ठप्प हो जाता है। वह मेरे चातुर्मास के लिए अच्छी जगह थी। वहाँ एक डाकखाना होने से रोज़ डाकखाने पहुँचने में कोई दिक्कत नहीं थी।

चित्रों के लिए

एक एक विषय से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ कर लिखने लगा। लिखने के दिन ही उसे फिर से ठीक करके अपने लिपिक को उसकी प्रति बनाने को दे देता था। प्रतिदिन दस घण्टे काम करके चार मास तक धैर्य पूर्वक मुख्य विषयों पर लिखकर काम पूरा कर सका। अगला कार्य था आवश्यक संशोधन। इस प्रकार छपवाने का काम समीप आया। लिखते समय ऐसा नहीं लगा था कि पुस्तक छप पाएगी। क्राउन एक चौथाई आकार के छह सौ पृष्ठों के तीन भाग! मेरा यह काम मेरी शक्ति से बाहर का था। उन्हें मैं यदि पाश्चात्य ढंग से प्रकाशित करता तो लगभग पचास हज़ार रुपये चाहिए थे।

मेरे मंगलूर के एक मित्र स्विगत वामन कुडुव एक भाग छाप कर देने को तैयार हो गये। इसलिए पुस्तक के लिए आवश्यक चित्र संग्रह में लग गया। विदेशों के अनेक संघों और संस्थाओं से चित्र मँगवाये। कई एजेंसियों से पैसे देकर चित्र मँगवाये। फिर भी लेख में बहुत सी जगहें भरनी थीं। हमारे ऐतिहासिक, भौगोलिक औद्योगिक विषयों के लिए अपेक्षित चित्रों की आवश्यकता थी। कुछ विदेशी संस्थाओं की सहायता भी उसी भारत शाखा ने रोक रखी थी। इसके लिए कैमरा बगल में लटकाए मैं फिर भारत भ्रमण पर चल पड़ा।

गाँव से चलकर बम्बई दिल्ली, काशी, सारनाथ, कलकत्ता, जमशेदपुर, मद्रास, कन्याकुमारी, मेटट्टूर होते हुए मैसूर पहुँचा। इस यात्रा में लगभग तीन हजार चित्र इकट्ठे हुए। मैंने एक हजार से ज्यादा चित्र खींचे थे। अनेक इंजीनियरिंग कार्य और उद्योगों को प्रत्यक्ष देखने के बाद, पाण्डुलिपि प्रकाशन के लिए भेजने से पहले और भी सुधारने का मौका मिला। यहाँ फिर से मेरी उस यात्रा की कहानी कहने की जरूरत नहीं है। विदेशी संस्थाओं की भारतीय शाखाओं से मिलकर ऊपरवालों से आये पत्र दिखाकर जरूरी जानकारी प्राप्त की। तब जाकर मुझे यह सन्तोष हुआ कि मैंने अपने हिस्से का काम पूरा कर लिया।

अब मैंने जो लिखा था उसे दूसरों को दिखाने का काम बाकी था। पांडुलिपि को ढोकर अपने विशेष मित्रों के घर गया, उनके साथ बैठ कर, उनसे चर्चा करके, उन्हें बोर करके, आवश्यक सुधार करवाये। यह काम एक साल में पूरा हो गया। तब मैंने यह अनुभव किया कि जो रास्ता मैंने अपनाया था वही ठीक था। यदि मैं कइयों को मिलाकर यह काम शुरू करता तो अपनी आशा को तिलांजलि देनी पड़ती।

प्रकाशन का प्रयास

सबसे पहले मैंने अपने इस प्रयास के बारे में मैसूर के शिक्षा विभाग के निदेशक एन एस सुब्बराव से चर्चा की। मेरे कागजों के पुलन्दे को देखकर उसमें क्या है यह भला वे क्या समझ पाते? कोई भी क्या समझ सकता था? फिर भी उन्होंने कहा, "यदि आप उसे प्रकाशित करायें तो हमारा विभाग कुछ प्रतियाँ खरीद सकता है। इसका प्रबन्ध मैं कर दूंगा।" मुझे इतना ही भरोसा चाहिए था। मद्रास और बम्बई प्रान्तों से भी मिलने वाला सम्मान और सहायता इतनी ही थी। मैंने सोचा यदि पुराने मैसूर में सहायता मिल जाती है तो छापने का साहस किया जा सकता है।

ठीक उसी समय बेंगलूर में निट्टूर श्रीनिवास राव (सत्य शोधन मुद्रणालय के मालिक) ने इसमें बहुत अभिरुचि दिखायी। उन्होंने प्रकाशन के खर्च के अनुमान के बारे में मुझसे पूछा। उन्होंने कहा, "यदि तुम मुद्रण, चित्रण, सम्पादन का खर्च वहन कर लो तो मैं प्रकाशन का भार उठा सकता हूं।" मैं वहाँ से मंगलूर गया। धर्म प्रकाश छापाखाने की सहायता लेकर काम शुरू किया। निट्टूरजी ने तो केवल पैसे का जिम्मा लिया था। छापाखाने वालों का, ब्लॉकवालों का दायित्व मुझ पर ही था। उस सब में हजारों का खर्च था। मैंने जल्दबाजी की। श्रीनिवास राव ने भी खर्च का अन्दाज किये बिना ही जल्दीबाजी की। पैसे का राज्य बड़ा निष्ठुर होता है। अतः निट्टूरजी मुझसे रुष्ट हो गये। फिर भी,

दोनो की मित्रता म कुछ अनबन होने पर भी, सुदव से पाँच वष की अवधि म मेरी पुस्तक तीन भागा म प्रकाशित हो ही गयी।

मुद्रण के समय मैं अधिकतर मगलूर मे ही रहा। अत मे ब्लॉक्स तैयार कराने की व्यवस्था भी मैन की। चित्र बनाये। मूल प्रति बार बार ठीक करते करते थक गया था। श्री बी सीतारामय्या भी उसे ठीक करके भेजते जाते थे और अपनी अमूल्य सलाह देकर पुस्तक की उपयुक्तता को बढाते जात थे।

मेरा प्रयास पूरा हुआ। मेरा उसस नानाजन तो हुआ ही, धन की सहायता न हुई हो यह बात नहीं। प्रकाशक शुरू म कुछ वष तो अवश्य तग रहे। चाहे कसा भी भला व्यक्ति क्या न हो उस यह अवश्य महसूस हुए बिना नही रहा होगा कि हजारा रुपय के चक्कर म वह क्यो पडे। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इतनी लम्बी अवधि तक कष्ट उठान से उन्हें यश मिला और लाभ भी।

खर जो भी हो कम-से कम एक प्रकाशक ने इस साहसिक काम म आगे आने से मेरा सपना सफल हुआ। वे दिन थे कि वासल जसी बडी सस्था भी पीछे हट गयी थी।

पूर्णता की बात

यह समव नही कि ऐसी पुस्तक अपने आप म पूण हो। उस पर मेरी सीमाओ का भी प्रभाव था। शुरू म यहा के लोगो न भी उसके बारे मे कोई सम्मान नही दिखाया। एक कन्नड प्रेमी ने तो यहाँ तक कह दिया "जब मसूरवाले इस पर पसा लगा रहे हैं तो मगलूरवाले से ही किताब लिखवानी थी? यहा क्या लिखनेवाले नही?" एक और मित्र का कहना था 'एक आदमी क लिखने पर क्या पुस्तक पूरी हो सकती है?' एक और सुर निकला, 'इसका नाम बाल प्रपच क्या रख दिया?" उनका आशय शायद यही रहा होगा कि जो पुस्तक बडा को समझ मे नही आती उसे भला बच्चे क्या समझ पायेंगे? इस बारे मे मैं एक-दो समाधान की बात कह सकता हूँ।

यदि किसी को एक भाषा का ज्ञान हो तो उसे यह नही समझना चाहिए कि उसे उस भाषा की हर पुस्तक समझ म आ जायेगी। अग्रेजी म मट्रिक पास करने वाला अग्रेजी साहित्य पढ तो सकता है पर समझ नही सकता। और उतन से ही वैज्ञानिक साहित्य को पढकर बिलकुल ही समझ नही सकता। विषय प्रवश करते समय व्यक्ति का ज्ञान स्कूली ज्ञान पर्याप्त नही होता है। उस विषय की रूपरेखा भी कुछ पता हो तभी कुछ पल्ले पडेगा। एक तो हुई यह बात, दूसरी यह है कि अपन वातावरण मे उससे सम्बधित वस्तुओ से तो उसका परिचय होना ही चाहिए। इन दोनों के न होने पर हाथ लगी किताब पढते ही बात समझ मे

आ जाएगी—यह केवल भ्रम और कल्पना है। अंग्रेजी की 'चिल्ड्रन्स इन्साइक्लो-पेडिया (Children's Encyclopedia) बच्चों के लिए ही लिखी गयी है। पर वह इतनी सरल नहीं कि बच्चे उसे एकदम समझ लें। विज्ञान कहानी की तरह सरल नहीं। ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्सम्बन्धी पारि-भाषिक शब्दों का परिचय भी आवश्यक है। परस्पर सम्बंधित विषयों की जानकारी भी होनी चाहिए। यह बात नहीं है कि कन्नड़ जाननेवाला प्राथमिक शाला का छात्र 'बाल प्रपंच' पढ़कर उसे सहज ही समझ लेगा। विषयों का पढ़ कर उन्हें समझने की चाह रखनेवाले के लिए कन्नड़ में कोई ग्रन्थ नहीं था। ऐसी परिस्थिति में मैंने विषयों का स्थूल परिचय देने के लिए एक प्रयास मात्र किया था। सामान्य कन्नड़ जानने वाले एक अध्यापक के लिए वह थोड़ा बहुत सहायक हो ही सकता है। बच्चों के समझने और पढ़ने की बहुत-सी सामग्री 'बाल प्रपंच' में है। वह ज्ञान की बाल्यावस्था है उसकी प्रौढ़ावस्था नहीं। यह तो एक विषय में प्रवेश करने का साहसमात्र है। 'बाल प्रपंच' को इसी दृष्टि से देखना चाहिए।

दूसरा संस्करण

'बाल प्रपंच' के प्रकाशन का कार्य 1938 तक समाप्त हो गया। उसके प्रकाशक की उसे हिन्दी में भी प्रकाशित करने की इच्छा थी पर वह प्रयास सफल न हुआ। उसका प्रथम संस्करण केवल दो हज़ार का था। उसकी बिक्री में आठ दस साल लग गये। उन दिनों में भी तीन भागों का दाम छत्तीस रुपये थे। केवल स्कूल, संघ और शालाएँ ही खरीदतीं तो भी उस संस्करण की बिक्री में इतना समय नहीं लगना था। परन्तु हमारा तो कर्नाटक प्रदेश है, यहाँ तो दस वर्ष बीत जाने पर भी पुस्तक का पहला संस्करण नहीं बिक पाता हम यही सोच कर तसल्ली कर लेनी पड़ी।

ऐसी परिस्थिति में पहला संस्करण बिकते ही दूसरा संस्करण निकाल पाना एक कठिन कार्य है। कभी-कभार कुछ ग्राहक उसकी प्रतियाँ माँगा करते हैं। फिर पुराने संस्करण का पुनः संशोधन परिवर्धन करना होगा। जो ब्लॉक खराब हो गये हैं उन्हें दुबारा बनवाना पड़ेगा। कागज़ की कीमत भी तब से तिगुनी हो चुकी है छपाई का खर्च भी तिगुना बढ़ चुका है। इसलिए उसके प्रकाशक दूसरे संस्करण के चक्कर में नहीं पड़े।

विज्ञान प्रपंच

इस दीर्घ अवधि में 'बाल प्रपंच' के बहाने मैंने विज्ञान का जो अध्ययन शुरू किया था वह आत्मतुष्टि के लिए जारी रहा। इंग्लैण्ड और अमरिका में जन-सामान्य को विज्ञान का परिचय कराने के लिए हजारों पुस्तकें प्रकाशित होती

हैं। हमारा देश भी आगे बढ़—यह इच्छा होने हुए भी स्वतन्त्र भाव
प्रवृत्ति अभी कम दिखाई दी। हमारा स्थिति एसी रही मानो पाषाण युग
बाद विज्ञान का युग आ गया हो। बेकार म बडबडाते हुए बैठे रहने की
ही क्यों न प्रयत्न करू, सोच कर मैंने एक योजना बनायी। केवल वैज्ञानि
को ले कर पाच पाच सौ पृष्ठों की पाँच पुस्तकें लिख कर प्रकाशित
प्रयत्न किया। वही मेरा विज्ञान प्रपंच है। इस बार लेखन और चित्र
करने का ही नहीं छपाई और प्रकाशन का भार भी मैंने अपने ऊपर लि
उसके एक एक भाग पर अठारह स बीस हजार खर्च होने का अन्दाज था
भाग तैयार होते होते दूसरे भाग के लिए भी पैसा जुटाना था। जो भी ह
पहला भाग यह जगत' प्रकाशित होते-होते जितनी भी निराशाएं
सकती है, घिर आयी। साथ ही, सिर से पाँव तक कर्ज से लद गया।
ने घर कर लिया था और चारों ओर कष्ट मुह बाये खड़े थे। मेरा ही ए
खाना था जिसमे केवल छह आदमी काम करते थे। वे भी असंतुष्ट थे।
कर मुझे बड़ा दुख हुआ और बहुत बुरा लगा। उनमें एक भावना दिखाय
मैं उन्हीं के कारण जी रहा हू। तब मैंने सोचा, उनकी सहायता की मुझे
नहीं। तभी मेरी पत्नी का स्वास्थ्य खराब हो गया। मन में शान्ति न
भी उसे भूलने के लिए मैं अपने काम में डूब गया। सन 1939 में 'विज्ञ
का प्रथम भाग छप कर आ गया। दूसरा भाग दूसरे वर्ष के अन्त में
हुआ। मेरे कुछ मित्र दस बीस प्रतियाँ खरीदने को आगे आये। एक ने बि
का कह भी दिया। तब तक मैं कर्ज में गले तक डूब चुका था। कर्ज
विचार से ही डर लगने लगा, इसलिए अपना छापाखाना बेच डाला। छ
काम बाहर स कराने लगा।

शासकीय सहायता

कर्नाटक विश्वविद्यालय वालों ने बहुत महत्त्वाकांक्षी करके पहले भाग
भारत सरकार के वैज्ञानिक और शिक्षा मंत्रालय से सिफारिश की। केन्द्र
सरकार की राय मांगी। मैसूर सरकार ने केवल पचास प्रतियाँ खरीदने
कही। शायद केन्द्र भी उतने से हाथ धो लेता। पर अन्त में उसने प
दूसरे भाग के लिए पाँच पाँच हजार रुपये की सहायता के लिए अपनी
दे दी। मित्रों के कहने पर मैंने मैसूर सरकार को भी सहायता के लिए
पत्र लिखा पर कोई उत्तर तक न मिला। सरकार के मानी यहां के सबसे
स्वतन्त्र अधिकारी ही होते हैं न? मैं उनके अनुग्रह की याचना करने नहीं
उस अवधि में लोगों ने मेरा काम केवल पसन्द ही नहीं किया बल्कि कुछ
खरीदने भी आगे आये। मैंने अपनी सीमित आर्थिक स्थिति देख कर पाँ

की मूल योजना छोड दी। उसके बदले चार खण्डो मे काम पूरा कर डाला। सितम्बर 1964 मे चौथा खण्ड भी प्रकाशित हो गया। पुस्तकें भले ही धीरे धीरे बिकी लेकिन यह विश्वास होने लगा कि लोग मेरा साथ नही छोडेंगे।

ग्रन्थ-ऋण

'विज्ञान प्रपच' का मेरा साहस 'बाल प्रपच' से भी बढ कर था। उसके लिए मैं जितना परता वह कम था। जो बात समझ म न आती उसे बार-बार विशेषज्ञो से समझनी होती थी। उस पुस्तक को लिखने की अवधि म ही बहुत सी वैज्ञानिक धारणाएँ बदलने लगी। लिख कर जो छपने को भेज दिया जाता, उसे भी बदलना पडता। यह काम अत म मेरी अपेक्षा के अनुसार उतनी तेजी से नही हो पाया। लिख कर छपने के बीच की अवधि म मैंने इसे कहाँ पढा था यह याद भी नही रहता था।

इस पुस्तक म मैंने एक नया ही रास्ता पकडा था। पहले तीन खण्डो मे शुद्ध विज्ञान के ही बारे म लिखा। चौथे म विज्ञान से सम्बधित अनेक कार्यों पर लिखा। उसमे चिकित्सा भी एक महत्वपूर्ण साधन है इसलिए चिकित्सा शास्त्र को भी उसम जोडा। यह सब कुछ मेरे लिए नया था अत सोच समझ कर लिखना था। फिर भी उसमे कुछ गलतियाँ रह जाना स्वाभाविक था। मेरे इस काय मे आदि से अत तक मेरे एक मित्र सहायक रहे। उडुपि के प्रोफेसर यू० एन० आचार्य ने मेरी सारी पाडुलिपियाँ और मूल लेखन को ठीक करने मे अथक परिश्रम किया। केवल इस काय के प्रति मोह के कारण ही उन्होने मुझे इतनी सहायता दी। 'बाल प्रपच' लिखते समय स्वय विद्वानो के पास जा कर उन्ह सुना कर ठीक कराकर लाता था। इस बार ऐसा नही किया।

परन्तु

मेरा उद्देश्य केवल यह था कि लोगो म आधुनिक विज्ञान के प्रति रुचि पदा की जाय और उस के बहुमुखी विकास का परिचय कराया जाय। इसी कारण से मैं उस काम म जुटा था। अपनी शक्ति और सीमाओ के अनुसार, सोलह अठारह वष के नवयुवको और प्रौढो के लिए मैंने ये ग्रन्थ लिखे थे। आज का विज्ञान दिन प्रति दिन विकास के पथ पर बढ रहा है। नये-नये परिणामो के कारण पुरानी मान्यताओ को भूलना पडता है। इसीलिए अब अपनी इस पुस्तक को यदि मुझे उपयोगी बनाना है तो हर पाँच वष म एक बार पुनरीक्षण करके इसे प्रकाशित कराना होगा। ऐसा करने पर ग्राहक कहाँ? उसम बढकर मुझे एक और प्रश्न तग कर रहा है।

यदि बचपन से बच्चो म पढाई के प्रति कुतूहल और अभिरुचि पदा न की

हैं। हमारा देश भी आगे बढ़—यह इच्छा होते हुए भी स्वतंत्र भारत में वह प्रवृत्ति अभी कम दिखाई दी। हमारी स्थिति ऐसी रही मानो पाषाण युग के एकदम बाद विज्ञान का युग आ गया हो। बेकार में बड़बड़ाते हुए बैठे रहने की अपेक्षा मैं ही क्यों न प्रयत्न करूँ, सोच कर मैंने एक योजना बनायी। केवल वैज्ञानिक विषयों को ले कर पांच पांच सौ पृष्ठों की पाँच पुस्तकें लिख कर प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया। वही मेरा 'विज्ञान प्रपंच' है। इस बार लेखन और चित्र एकत्रित करने का ही नहीं छपाई और प्रकाशन का भार भी मैंने अपने ऊपर लिया। पर उसके एक एक भाग पर अठारह से बीस हज़ार खर्च होने का अन्दाज था। पहला भाग तैयार होते होते दूसरे भाग के लिए भी पैसा जुटाना था। जो भी हो उसका पहला भाग 'यह जगत' प्रकाशित होते होते जितनी भी निराशाएं संभव हो सकती हैं, घिर आयीं। साथ ही सिर से पाँव तक कर्ज से लद गया। चिंताओं ने घर कर लिया था और चारों ओर कष्ट मुंह बाये खड़े थे। मेरा ही एक छापाखाना था जिसमें केवल छह आदमी काम करते थे। वे भी असंतुष्ट थे। यह देख कर मुझे बड़ा दुख हुआ और बहुत बुरा लगा। उनमें एक भावना दिखायी दी कि मैं उन्हीं के कारण जी रहा हूं। तब मैंने सोचा, उनकी सहायता की मुझे जरूरत नहीं। तभी मेरी पत्नी का स्वास्थ्य खराब हो गया। मन में शान्ति न होने पर भी उसे भूलने के लिए मैं अपने काम में डूब गया। सन् 1939 में विज्ञान प्रपंच का प्रथम भाग छप कर आ गया। दूसरा भाग दूसरे वर्ष के अंत में प्रकाशित हुआ। मेरे कुछ मित्र दस बीस प्रतियाँ खरीदने को आगे आये। एक ने बिना ब्याज का कर्ज भी दिया। तब तक मैं कर्ज में गले तक डूब चुका था। कर्ज लेने के विचार से ही डर लगने लगा, इसलिए अपना छापाखाना बेच डाला। छपायी का काम बाहर से कराने लगा।

शासकीय सहायता

कर्नाटक विश्वविद्यालय वालों ने बहुत मेहरबानी करके पहले भाग के लिए भारत सरकार के वैज्ञानिक और शिक्षा मंत्रालय से सिफारिश की। केन्द्र ने मैसूर सरकार की राय माँगी। मैसूर सरकार ने केवल पचास प्रतियाँ खरीदने की बात कही। शायद केन्द्र भी उतने से हाथ धो लेता। पर अंत में उसने पहले और दूसरे भाग के लिए पाँच पाँच हज़ार रुपये की सहायता के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। मित्रों के कहने पर मैंने मैसूर सरकार को भी सहायता के लिए अलग से पत्र लिखा पर कोई उत्तर तक न मिला। सरकार के माने वहाँ के सर्वशक्तिमान स्वतंत्र अधिकारी ही होते हैं न? मैं उनके अनुग्रह की याचना करने नहीं गया। उस अवधि में लोगों ने मेरा काम केवल पसंद ही नहीं किया, बल्कि कुछ प्रतियाँ खरीदने भी आगे आये। मैंने अपनी सीमित आर्थिक स्थिति देख कर पांच खण्डों

की मूल योजना छोड दी। उसके बदले चार खण्डो मे काम पूरा कर डाला। सितम्बर 1964 म चौथा खण्ड भी प्रकाशित हो गया। पुस्तकें भले ही धीरे धीरे बिकी लेकिन यह विश्वास होने लगा कि लोग मेरा साथ नही छोडेंगे।

ग्रन्थ ऋण

'विनान प्रपच' का मेरा साहस 'बाल प्रपच' से भी बढ कर था। उसके लिए मैं जितना पढता वह कम था। जो बात समझ म न आती उसे बार बार विशषज्ञो से समझनी होती थी। इस पुस्तक को लिखने की अवधि म ही बहुत सी वज्ञानिक धारणाएँ बदलने लगी। लिख कर जो छपने को भेज दिया जाता, उसे भी बदलना पडता। यह काम अन्त म मेरी अपेक्षा क अनुसार उतनी तज़ी से नही हो पाया। लिख कर छपने के बीच की अवधि म मैंने इसे कहाँ पढा था यह याद भी नही रहता था।

इस पुस्तक मे मैंने एक नया ही रास्ता पकडा था। पहले तीन खण्डो म शुद्ध विनान के ही बारे म लिखा। चौथे म विनान स सम्बन्धित अनक कार्यों पर लिखा। उसम चिकित्सा भी एक महत्वपूर्ण साधन है इसलिए चिकित्सा शास्त्र को भी उसमे जोडा। यह सब कुछ मेरे लिए नया था अत सोच समझ कर लिखना था। फिर भी उसमे कुछ गलतियाँ रह जाना स्वाभाविक था। मेरे इस काय मे आदि से अन्त तक मेरे एक मित्र सहायक रहे। उडुपि के प्रोफेसर यू० एन० आचाय ने मेरी सारी पाडुलिपियाँ और मूल लेखन को ठीक करने म अथक परिश्रम किया। केवल इस काय के प्रति मोह क कारण ही उन्होंने मुझे इतनी सहायता दी। 'बाल प्रपच' लिखते समय स्वय विद्वानो के पास जा कर उन्ह सुना कर ठीक कराकर लाता था। इस बार ऐसा नही किया।

परन्तु

मेरा उद्देश्य केवल यह था कि लोगो म आधुनिक विज्ञान के प्रति रुचि पदा की जाय और उस क बहुमुखी विकास का परिचय कराया जाय। इसी कारण से मैं उस काम मे जुटा था। अपनी रुचि और मीमासा के अनुसार सोलह अठारह वष के नवयुवको और प्रौढो के लिए मैंने य ग्रन्थ लिखे थ। आज का विज्ञान दिन प्रति दिन विकास के पथ पर बढ रहा है। नये नये परिणामो क कारण पुरानी मान्यताओ को भूलना पडता है। इसीलिए अब अपनी इस पुस्तक को यदि मुझे उपयोगी बनाना है तो हर पाँच वर्ष म एक बार पुनरीक्षण करके इसे प्रकाशित कराना होगा। ऐसा करने पर ग्राहक कहाँ? उससे बढ़कर मुझे एक और प्रश्न तग कर रहा है।

यदि बचपन से बच्चो मे पढ़ाई क प्रति कुतूहल और अभिरुचि पदा न की

जाय तो क्या व शाला छोड़ने के बाद आगे पढ़ेंगे ? कितने लोग पढ़ सकते हैं ? ऐसे लोग क्या पढ़ेंगे ? पढ़ने के लिए भी कन्नड़ में भला है भी क्या ? सकड़ों विषयों और सकड़ों लोगों के मन और अभिरुचि को छू पानेवाली पुस्तकें प्रकाशित करनेवाले हैं ? दस पाँच कहानी उपन्यासों के अलावा कन्नड़-पुस्तकालयों में रहता ही क्या है ? खाली पड़े रहते हैं। तीन अलमारियों में हमारी सारी कन्नड़ की पुस्तकें भरी जा सकती हैं। हमारे यहाँ किसी पुस्तक का पहला संस्करण निकलने के बाद दूसरा निकलता ही नहीं।

लोगों में पढ़ने की रुचि अंकुरित करनी हो तो उसके अनुसार लिखने वालों की आवश्यकता है। कम से कम सात आठ वर्ष के बच्चों में वह इच्छा जगानी होगी। उनका कौतूहल बढ़ाना होगा। इसी उद्देश्य से सुंदर-सुंदर किताबें छापनी होंगी। बुढ़ापे में दूसरा बचपन शुरू होना है। ऐसे बचपन की इच्छा अब मेरे भीतर जाग रही है। आजकल मेरे मन में दस बारह वर्ष के बच्चों के लिए पुस्तकें प्रकाशित करने की इच्छा है। उनमें सुंदर-सुंदर वर्ण चित्र भर कर कम दामों में बेचना हो तो कम से कम दस हजार प्रतियाँ एक बार में छपानी होंगी। तब जा कर कहीं क्राउन चौथाई आकार की 48 पृष्ठों की एक पुस्तक तीन रुपये में बिक सकती है। तब यह समस्या है कि क्या ऐसे काम में सहयोग देने हमारी कन्नड़ जनता अपने बच्चों के लिए इतनी कीमत दे कर पुस्तक खरीदेगी ? खरीदे या न खरीदे पर यह काम करना था अतः इस दिशा में एकाध पुस्तक छपवाकर उसका भविष्य देखने का प्रयास किया। अत्यन्त साहस करके इतना खर्च उठा कर उसके दो भाग प्रकाशित भी किये। लेकिन फिर उसका तीसरा भाग प्रकाशित नहीं करा सका।

नाटक की दुनिया मे

सपनो के सागर पर

चाहे साहित्य का क्षेत्र हो या कला का, सपनो के सागर पर नौका विहार का एक अपना आनन्द है वहाँ अगाध सुख शान्ति होती है। परन्तु लोग जसा समझते हैं, वसा वह केवल कल्पना का राज्य नही है। उसे जीवन की पृष्ठभूमि मे विकसित होना चाहिए अनुभव के आहार का अन्त करण म विधिवत पाक होना चाहिए। जीवन को भूलनेवाले सपने या अनुभवो की मेरुदण्डहीन कल्पनाएँ बहुत दिन तक नही चलती। कई लोग रोज के काम म अपना जीवन खिपाकर तृप्ति पा जाते है। मन मे सपने बुननेवाले व्यक्ति को भी जीवन द्वारा प्रदान किये जानेवाले अनुभव से ही मानसिक सृष्टि का सृजन करना चाहिए। शरीर परिश्रम भले ही न करे, मन को तो करना ही पडता है। प्रेम से कोई भी काम किया जाय, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, उससे आन्तरिक सन्तोष तो मिलता ही है। मैं स्वभाव से शारीरिक श्रम की दृष्टि से 'आलसी' रहा हूँ। भ्रमण करने पर भी आलसी बना रहा। फूलो का बगीचा देखकर आनन्द अनुभव किया है। बाग को फूलते फलते देखने म सहायक बना हूँ। पर शारीरिक श्रम दूसरो का होता रहा है। मेरे अधिकतर काम मानसिक व्यापार से सम्बन्धित हैं। मैं स्वतन्त्र मनोवृत्ति का हूँ। अत जो काम मेरे लिए प्रिय नही, उन्हें जबरदस्ती कर नही सकता। इसलिए मेरा श्रम ही मेरे आनन्द की सामग्री है। उसे मैं श्रम नही मानता। श्रमपूर्वक लिखने की याद भी मुझे नही है। जिस काम को करते समय तल्लीन होकर मैं अपने आपको न भूल जाऊँ तो उस काम म मैं हाथ नही लगाता। ऐसे जुट किये जानेवाले काम म श्रम का अनुभव कहाँ हो पाता है ? सोचने ही विषय अपने आप आ जाता है, कल्पनाएँ खुलती चली जाती हैं। उसमे सहज आनन्द भी मिलता रहता है हाँ, इसके लिए उस विषय का विशेष अनुभव होना चाहिए। चिन्तन मनन करके जो अनुभव प्राप्त किया उसकी सहायता से विविध क्षेत्रो म प्रयोग करने का साहस भी किया है। पर्याप्त अभ्यास के बिना कोई भी नाट्यपूर्ण काय सुन्दर

नहीं होता। सफलता के लिए अभ्यास की बहुत जरूरत होती है। यह अभ्यास जब प्रिय हो जाता है तब उसमें श्रम दिखाई ही नहीं देता। हम अपनी सुप्त शक्ति का ज्ञान काम करते समय पता चलता है। मुझसे यह बन पड़ेगा या नहीं, यह सोचते बैठे रहना मेरा स्वभाव नहीं है। चाहे हो या न हो, कर डालना ही मेरा स्वभाव है। होगा कि नहीं होगा, सोचने बैठे रहनेवाले को यह कैसे पता चल सकता है ?

मेरा बहिष्कृत क्षेत्र कोई नहीं है। मैंने सब में हाथ डालकर देखा है। साहित्य के विविध अंग कला के विविध रूप मेरे कवि स्वभाव के शिकार बन चुके हैं। कुछ में यदि यश मिला है तो बहुतों में अपयश भी मिला। तो उससे क्या हुआ ? मेरा सीखना व्यर्थ तो नहीं गया। अगले अध्यायों में अपने मन की इन क्रीडाओं के बारे में लिखूँगा। पहले नाट्य-जगत के बारे में कुछ कहना चाहूँगा।

अभिनय की बातें

मैंने सबसे पहले गडकरी के मराठी नाटक 'एकच प्याला' का कन्नड में अनुवाद किया था। उसके मंचन होने का अवसर मिलने से अभिनय का मौका भी मिला। उसके एकदम बाद 'सती सयुक्त' नाम का पाँच अंकों का नाटक लिखा। उसके उपरान्त सात आठ नाटक घसीट डाले। यहाँ घसीटना शब्द ही ठीक है। इसका कारण यह है कि मन में जो आता है उसे घसीट डालना मेरा स्वभाव है। बातें और विचार के रोक टोक आने रहने चाहिए। मैं अपने आप को विविध पात्रों में डालकर अपने मनोराज्य में अभिनय करते हुए बैठ कर लिखता चला जाता हूँ। सिर खुजलाते हुए सोच-सोचकर लिखने की बात ही नहीं उठती। एक दिन में कम से-कम एक अंक तो लिख ही डालना चाहिए, एक विचार पूरा हो जाना चाहिए। पाँच छ अंकों का नाटक पाँच छ दिन में पूरा हो जाना चाहिए। जब मैं नहीं लिख रहा होता तब भले मैं बैठा रहूँ सोया रहूँ या चलता रहूँ मेरे नाटक के पात्र मेरी आँखों के सामने नाचते रहते हैं और कथा को आगे बढ़ाते रहते हैं। नाटक की स्थूल रूपरेखा या उद्देश्य मन में होना आवश्यक है। उसका सूक्ष्म विवरण अपने आप आ जाता है। वही सृजन की समाधि है। पात्रों का वार्तालाप सहज ढंग से अपने आप आते जाना चाहिए। केवल शब्द के मोह के लिए वार्तालाप नहीं चलना चाहिए। इतना होने पर भी एक नाटक लिखने के बाद उसके अभिनय के समय कलाकार के मुख से जब शब्द निकलते हैं तब कई बार लेखन की कमजोरी पकड़ में आती है। गडकरी के नाटक का जब अभिनय प्रारम्भ हुआ तो उसकी कई असहजताएँ दिखायी देने लगीं। उसमें एक अंध का स्वगत कथन उन्नीस पृष्ठों में था। उसके वार्तालाप में पुनरावृत्ति बहुत थी और वह अनेक उपमाओं और अलंकारों से भरा था। जब हम उसका अभिनय करने लगे तब

लेखन की कमजोरी दीखने लगी। एक ही बात पाँच उपमाओं द्वारा कहनी हो तो प्रत्येक उपमा को उचित स्वर भार और स्थायित्व देना पड़ता है। मन्द्र और मध्यम और तारक—इन तीनों स्थानों का उपयोग कर लेने के बाद यदि और भी उपमाएँ हों और उन्हें बार बार उसी रीति से कहा जाय तो चीज पसन्द नहीं आयेगी। ऐसे प्रयोगों के कारण मुझे श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य का अन्तर स्पष्ट हो चला। स्पष्ट कहना चाहूँ तो नाटक में 'श्रव्य' और 'दृश्य' के कोई अर्थ नहीं है। नाटक है या नाटक नहीं है यही अन्तर है। श्रव्य नाटक लिखने की अपेक्षा सीधे उपन्यास लिखा जा सकता है। नाटक के लिए भावपूर्ण अभिनय की आवश्यकता होती है। प्रयासपूर्वक लाये गये चमत्कार उसमें काम नहीं देते। नाटक शब्द ही अपना अर्थ स्वयं स्पष्ट कर देता है। अभिनीत न हो पानेवाले शब्द यदि नाटक में आयें तो वह काव्य हो जाता है, नाटक नहीं।

सत्य का अनुभव

मेरे शुरू के नाटक 'सेवा सदन', 'सुख वेल्लि' (सुख कहाँ), 'होणे यारू' (कौन जिम्मेदार) आदि में अभिनेता एक प्रकार का उपदेशक होता था। वह उदात्त तत्त्व को प्रस्तुत करनेवाला अथवा निन्दनीय विचारों का खण्डन करनेवाला एक व्यक्ति मात्र होता था। सज्जन और दुर्जन पात्रों के संघर्ष के अवसर देकर 'सत्यमेव जयते नानृतम्' जैसे नाटक से मैंने दूसरा रास्ता पकड़ा। स्त्री पातिव्रत्य, देशप्रेम, पूँजीवाद की समस्याएँ, सत्य अहिंसा—इन्हीं जनप्रिय विषयों को लेकर नाटक के मुख्य पात्र चलते थे। मेरे ये नाटक नये जमाने के 'विजय विजय' के समान थे। मेरे प्रिय आदर्शों के लिए उनमें भावातिरेक रहता था। भावुक दर्शकों को ऐसे नाटक आज भी पसन्द आते हैं। उसके लेखक नाटक के पात्रों को मनुष्य के रूप में दिखाते अवश्य पर वे पात्र वास्तविक मानव से नहीं लग पाते। जीवन में मानव गुण दोषों का पुतला होता है। उनके पात्र अपने वातावरण से आकर्षण में पैंसते नहीं। आदर्श चाहे जो रहे यदि हम उसी वातावरण में बढ़ें तो हम भला कितने खराब या अच्छे हो सकते हैं, हमें यह ज्ञान होना चाहिए। तब जाकर नाटक जीवन का सहज प्रतिबिम्ब होता है नहीं तो नाटक वास्तविकता से हटकर कल्पनालोक की वस्तु बन जाता है। वह कल्पनालोक लोगों के अनुभव से अनुकूल हो तभी वह उनमें समवेदना पैदा कर सकता है। जिन मुद्दों का हम अनुभव नहीं कर सकते क्या उन्हें हम दूसरों में प्रयोग कर सकते हैं? ऐसे डम्बरों और कृत्रिम पात्रों की रचना से हम इस प्रकार का आकर्षण तो पैदा कर सकते हैं पर सत्य और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहीं दे सकते। कहा जाता है कि सत्य ही सौन्दर्य है। अपने अनुभव को जो सत्य छू नहीं सकता वह दूसरे का सत्य होने पर भी अपने अनुभव का सत्य नहीं बन सकता।

नाटक के प्रयोग के रास्ते में मैं अपनी बातों की मोहकता का शिकार नहीं हुआ। पर अभिनय के पागलपन का शिकार अवश्य हो गया। कठिन प्रसंगों का चित्रण मुझे प्रिय था। उसके लिए उपयुक्त स्थान मैं अपने नाटकों में अवश्य देता। इससे पात्र का सृजन और सन्निवेश दोनों जीवंत हो उठते हैं।

विदेशी नाटककार

इन प्रयोगों के समय मेरा मन दूसरे देशों के नाटकों की ओर विशेष रूप से गया। शेक्सपियर, शेरिडन, शॉ, समरसेट माम, गाल्सवर्दी, मेटरलिंक, पिरंडेलो, यूजिन-ओ-नील आदि की कृतियाँ पढ़कर मुझे नाट्य रचना का पर्याप्त ज्ञान हुआ। शेक्सपियर कवि और नाटककार थे। उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे में बार-बार लिखा है। उन्हें मानव के स्वभाव का अगाध परिचय था। मैंने उनके हैमलेट नाटक का मंचन की दृष्टि से अनुवाद किया। वह नाटक 'हेमंत' नाम से सन् 1982 में छपा।

सामाजिक नाटककारों में इब्सन का अलग ही ढंग है। जन जीवन की मूलभूत समस्याओं को वह लोगों के सामने रखता है। उसके पात्र और वातावरण अत्यंत वास्तविक होते हैं। वार्तालाप बहुत ही प्रभावशाली होता है। बर्नार्ड शा महान मेधावी है। वह जितना तीखा है उतना तीखापन उसके नाटकों में भी है। उसके पात्र वास्तविक जीवन के प्रतीक होने पर भी वे मनोविज्ञान के विश्लेषण में सहायक होते हैं। जिन चीजों को साधारण लोग देख नहीं सकते वह उन्हें देख लेता है। उसके नाटक उसी के द्वारा संभव हैं। मानव के अंतर्गत गुण चरित्र भिन्न भिन्न व्यक्तित्वों को वह जिस तरह प्रस्तुत कर सकता है, वैसा दूसरा नहीं। पिरेंडेलो का और ही अद्भुत व्यक्तित्व है। वह हमारे सम्मुख चार राह चलनेवालों को खड़ा करके बातों में लगा देता है, बाद में नाटक को स्वाभाविक रूप से गति देता है। अमुक व्यक्तियों से अमुक प्रकार की घटना हो गयी यह कहने के बदले अमुक घटना हो सकती है यह दिखा देता है। वह मनोविज्ञान का जादूगर है। ओ नील और एक मेधावी नाटककार है। पुलित्जर पुरस्कार पानेवाले मेधावी ओ-नील ने स्वाभाविक चित्रण उपस्थित करने के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग से सहज पात्रों का सृजन किया है। उसकी 'वियांड द होरिजन' एक बहुत श्रेष्ठ कृति है। वह कवि नहीं केवल नाटककार है। उसका एक अपना मार्ग है। परन्तु लार्ड डनसेनि, मेटरलिंक, टालस्टाय जैसे लोगों ने दूसरा ही मार्ग अपनाया। वे आदर्शवादी हैं। वास्तविक जीवन का बिम्ब प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य नहीं। इसकी अपेक्षा शाश्वत मानवीय समस्याओं का समाधान उनके लिए मुख्य है। इसलिए उनके नाटकों के पात्र राजा, देवता, पशु, पक्षी चाहे जो भी वस्तु हों मानव जीवन के सत्य का ही प्रस्तुत करते हैं। कला में 'सत्य' और 'वास्तविकता' शब्द

को सीमित अर्थों में प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो दीखता है वास्तविकता उससे भिन्न होती है। वह मृगतृष्णा है, वह दिखावा है उसके भीतर जाकर देखने पर भ्रम उत्पन्न होता है। पर उस पर विश्वास कम किया जाय? प्रत्येक कलाकार को अपने स्वभाव के अनुसार मार्ग और शैली पसन्द आती है।

भास के नाटक

इन सबको पढ़ लेने के बाद मुझे हर ढंग को आजमाने की इच्छा हुई। लगा कि एक उद्देश्य के लिए अलग-अलग रास्ता अच्छा रहता है। मैं भावना प्रधान नाटक लिखने का रास्ता छोड़कर नये रास्ते आजमाने लगा। पाश्चात्यों में प्रचलित एक अंक और एक दृश्य वाला ढंग अत्यन्त प्रभावशाली लगा। कई बार नाटक में काल की एकता को बनाये रखना कठिन होने पर भी नाटकों में आने वाले असम्बद्ध प्रलाप और असंगत प्रसंग तथा अनावश्यक पात्रों के लिए वहाँ स्थान नहीं होता। नाटक के उद्देश्य में सहायक न बननेवाली सभी चीजें असंगत होती हैं। लोगों को केवल हँसाने के लिए ही विदूषक को या वैसा ही दूसरा काम करनेवाले दूसरे नामवाले व्यक्ति को भी उसमें लाने का अवकाश नहीं रहता। मैंने समझा था कि यह पाश्चात्य पद्धति है। परन्तु भास के एकांकी नाटक पढ़ने पर मेरी आँखें खुल गयीं। उनके कई एकांकी हैं और 'स्वप्नवासवदत्तम्' जैसे अनेक अंकों के नाटक हैं। भास के नाटकों में हमें वार्तालाप में मितव्ययता, पात्रों में औचित्य तथा प्रसंगों में गम्भीरता—ये तीनों गुण मिलते हैं।

अब तक मैंने तीस एकांकी नाटक लिखे हैं। विषयों में भी विविधता लाने का प्रयास किया है, वे भले ही नवरस युक्त न हों। ('नवरसयुक्त—यह भी एक अर्थहीन बात हो चुकी है। मुख्य रस के लिए जो भी रसपोषक न हो वह रसदोष हो सकता है।)कुछ रसों का चित्रण करके कुछ प्रश्नों का प्रतिपादन भी किया है। 'मूर्तिय मदवे' (मूर्ति का विवाह) नाटक में वकार का आडम्बर, 'तिम्मप्पन वग-रणे' (तिम्मप्पा का छौंक) नाटक में अनावश्यक वाचालता, 'नाल्कनेय पिशाची' (चौथा पिशाच) नाटक में गुप्तरोग का बीभत्स चित्र दिखाया है।

सरल रगले

'सरल रगले' (एक नाट्य रूप) लिखते समय मैंने विचार किया कि यदि समय के ऐक्य को परे रखकर नाटक लिखे जाएँ तो सुविधा रहेगी। नाटक खेलते समय मैंने अलग प्रसंग मार्ग ढूँढ़ने का प्रयास किया, इसलिए नयी-नयी शैलियाँ अपनायीं। एक रगले में मैंने अज्ञान के परिणाम को लेकर लिखा। विषय को उपमेय के रूप में 'रंगन कळिके' में दिखाया है। स्त्री पुरुष के दाम्पत्य जीवन में स्थान मान को 'देवि देहि' में चित्रित किया। मानव ही अपने भगवान् का

निर्माता है। यह भाव 'हिरिय देवरु' (महान भगवान्) में चित्रित किया है। उनको मैंने छाया-नाटकों के रूप में प्रदर्शन किया। 'हैमलेट' का अनुवाद भी इसी शैली पर किया।

कुछ और नाटकों में अनुप्रासयुक्त, चरणों में बीस मात्राओं के पद्यों की रचना की। इस प्रास की हास्योत्पादक अवस्था के लिए कुछ व्यंग्य नाटकों में प्रयोग किया। दूसरे माध्यमों से भी व्यंग्य को मुख्य उद्देश्य रख कर कुछ कल्पना प्रधान नाटक लिखे। दूसरे महायुद्ध की कहानी को 'गेद्दवर सत्य' (जीतनेवालों का सत्य) नाम के नाटक में चित्रित किया। उसी प्रकार चूहे, घूस, सियार, कुत्ते आदि को मुख्य पात्र बनाकर आधुनिक प्रजातन्त्र पर 'निम्न वोट यारिगे' (आपका वोट किसको) नामक नाटक लिखा। मैंने कुछ ऐसे प्रयोग किये हैं जिनमें प्रास का विशेष प्रयोजन और विविध छन्दों की उपयोगिता स्पष्ट है। ये अंग्रेजी के हास्य नाटकों (Burlesque) जैसे हैं। इनको छोटे बच्चों द्वारा प्रदर्शन कराया। बच्चों को यद्यपि भले ही समझ न आये हों परन्तु उनके प्रास और बेतुके वार्तालाप आदि से बच्चे प्रसन्न हुए यह मैंने देखा। बच्चों के लिए यह माध्यम अत्यन्त सरल और उपयोगी है।

गीत नाटक

आदर्शवादी नाटकों में भावुकता को प्रमुखता देकर कुछ गीत नाटक लिखने का साहस किया। हमारे यहां 'ओपेरा' नहीं हैं। संगीत और गद्य दोनों को मिलाकर उन्हें बिगाड़ने की अपेक्षा उन्हें अलग अलग ढंग से प्रयोग करना अधिक अच्छा लगा। ऐसा पहला प्रयत्न मैंने सन 1931 अथवा 1932 में किया था। 'मुक्त द्वार' नाटक भी उसी का फल है। वह एक आदर्शवादी नाटक है। उसमें ऐतिहासिक और भिन्न भिन्न समय के पात्र होने पर भी एक ही समय पर लाने का प्रयास किया है। यह नाटक लगभग मार्ग शैली पर है। संगीत के लिए यह नाटक सही बैठता है। आगे चलकर ऐसे ही कुछ गीत नाटक लिखे, जिनमें 'किसा गौतमी', 'सावित्री सत्यवान', 'कदुकवड्डु' (जो मक्त हैं), 'लवकुश', 'बुद्धोदय' आदि प्रमुख हैं। इसी बीच लावणीनों से भी परिचय पा लिया था। उसी गीत शैली के आधार पर ग्रामीण पात्रों का सहज चित्रण किया गया है। उनके प्रेम का चित्रण करते हुए 'सावियन सप' और 'यारो एंदरू' (किसने कहा ?) नामक दो नाटकों की रचना की।

गीत-नाटकों में छः वर्ष पूर्व लिखा 'कीचक' मरा' नाटक ही मेरा अन्तिम नाटक है। उसका मंचन हुआ है। उस नाटक का मंचन करते समय यह जानकारी रखना आवश्यक होता है कि मूल पद्य अमुक राग से सम्बन्धित है। केवल राग जाननेवालों के गायन से ही काम नहीं चलता, उसमें अभिनय भी रहता है।

अभिनय मे शब्दो का उतार चढाव, वेग विरति, आकर्षण आदि का भी ध्यान रखना पडता है। यदि यह न हो तो नाटक एक सगीत-सभा हो जाता है। कुछ ऐसे नाटक भी हैं जिनम सभी पात्र एक ही श्रुति मे गला मिलाकर व दगान गाते हैं। ऐसे नाटको का मैंने अलग अलग ढग से प्रदशन करने का प्रयास किया। व आकाशवाणी द्वारा भी प्रसारित हुए। ऐसे नाटक लोकगीत की लय पर भी लिखे हैं। वे गद्य-नाटको से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। जहाँ बाह्य यथाथ आवश्यक न हो और जहाँ भाव और रस सूक्ष्म होते हैं वहाँ गीतो का माध्यम प्रभावशाली रहता है।

यक्षगान गीत-नाटक

यह कहना चाहिए कि हमारे यक्षगान (प्रबध नाटक) हमारे आदि गीत नाटक हैं। उनम एक एक गीत एक-एक पूण पद्य है। सभी ताल बद्ध हैं। फिर भी भागवतर द्वारा कथासूत्र जोडने वाला वणन गीत हटा कर उसके स्थान पर छोटे छोटे गीत प्रयोग मे लाकर उसका प्रदर्शन करना सभव है। एक बार यक्ष गान का 'गय चरित्रे' को एक घण्टे के गीत नाटक के रूप म प्रदशन करने का भी प्रयत्न किया परन्तु इस माध्यम को सही प्रदर्शित करने का यत्न नही किया गया। वह नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित करन हेतु तयार किया गया था। रगमच पर उसके और भी प्रभावशाली बन सकने की सभावना है।

नाट्य-रूप चित्र (नाटक)

दशहरे के अवसर पर लगभग मेरे सारे नाटक खेले जा सकते थ। सलन के उद्देश्य से ही वे लिखे गये थे। परन्तु कई बार पात्रो ने लिए वार्तालाप रट कर नाटक करना सभव नही होता था। प्रत्येक दशहरे के अवसर पर आठ-दस नाटको का प्रदशन होता था अत उसके लिए आवश्यक कलाकार तथा रिहसल दोनो कठिन काय थ। इसलिए पाँच छ दिन कलाकारो को मूल अभिनय सिखा कर और नेपथ्य गीत द्वारा नाटक के प्रदशन का रास्ता निकाला। ऐसे नाटको को मैंने नाट्यरूप चित्र (नाटक) नाम दिया। मुझे अपने गल पर विश्वास था। नेपथ्य गीत मैं ही गाता था। कई बार अगले दिन के नाटक की कथावस्तु पहले ही दिन लिखकर पूरी कर लेता था। फिर भी रगमच पर उन्ह सरलता से यश प्राप्त हो जाती। प्रेक्षक का ध्यान नेपथ्य के सगीत पर लगा रहता था। पात्रो के अभिनय म उनकी कल्पना शक्ति जाग्रत हो उठती। नाटक के वास्तविक ढग से यह ढग अधिक सरल और प्रभावशाली होता। इसी तरीके को अपनाकर मैंने 'शाहजहान कोन (शाहजहाँ का अन्त) बोदयाने' 'देहलीय दौर्भाग्य आदि बीस-तीस प्रयोग कर डाले। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं लिखने म भी बहुत

जल्दी करता था। आगे मैंने ऐसी रचनाए बचाकर नही रखी। एक बार खेले जा चुके नाटक को दुबारा खिलवाने की इच्छा भी मुझे नही रह गयी थी। मैं तो सदा नये नये सपन साकार करने के प्रयास मे लगा रहता था।

चीनी नाटक

मेर पहल के लिखे 'कृष्णार्जुन' और 'गमगुडी' नाटक ही मेरे अतिम गद्य नाटक हैं, यह कहना चाहिए। बाद म बहुत दिन तक मुझे छोटे नाटको म ही आसक्ति रही। बडे नाटको को सीखने लायक धय हम लोगा म बहुत कम है। अपना पाट याद किये बिना ही अभिनय करने को कूदनेवाले वीरो की सख्या भी कम नही। इसलिए लिखन का उत्साह ही नही होता। एक बार मैंने एक चीनी नाटक ना कन्नड म अनुवाद किया। उसका अग्रेजी अनुवाद 'लेडी प्रेशियस स्ट्रीम' था। मैंने चीनी रगमच को समझने क लिए यह काम किया और नाटक का अभ्यास भी शुरू करा दिया। पर खेलन के अतिम दिन तक पात्र अपना पाट याद नही कर सके इसलिए उसका अभिनय ही छोड दना पडा।

उस नाटक म प्रत्येक पात्र अपना परिचय आप देता है। मेरा विचार था कि उसका अच्छा मचन हो सकता है। परन्तु उसके प्रदशन मे मुझे तीस वप बाद सफलता मिली। चीनियो की वेषभूषा तयार कराकर, उस नाटक को मैंने बच्चो से रिहसल कराकर प्रदर्शित किया। वह नाटक बहुत सफल रहा।

आलोचना

मैंने एक गद्य नाटक बितिद बेले' (बोयी फसल) शीषक से लिखा। इस नाटक के बारे म बडी विचित्र प्रकार की आलोचनाए हुई। नाटक पढन के बाद एक ने कहा 'यह तो उपन्यास जसा लगता है नाटक नही। इसका अभिनय सभव होगा?" तब मैंने कहा, आप अभिनय करना जानते हैं? कभी रगमच पर कदम रखा है?" रगमच के अनुभव के बिना ही हम आलोचना करन लगें तो कैसे काम चलेगा? कल्पनालोक म बठकर लिखने का स्वभाव मरा नही। एक अभिनेता के रूप म ही मैं कलम पकडता हूँ। इसका अभिप्राय यह नही है कि 'बित्तिद बेले' का सफल मचन ही हो, उसम बीच-बीच म कुछेक कमिया हो सकती हैं। ऐसी कमिया कहाँ हैं यह अभिनय करनेवाले और अभिनय जानने वालों को ही पता रहता है। आराम कुर्सी पर बठकर आलोचना करनेवालो को नही।

इस हिसाब से बर्नाड शा के नाटक रगमच पर आने ही नही चाहिए। तब

युजिन ओ नील तो उपन्यासकार बनकर रह जायेगा। लम्बे-लम्बे समापण लिखने के अपराध म शेक्सपियर को शायद रगमच से दूर ही रहना चाहिए था।

मेरा आशय यह नही कि आलोचना होनी ही नही चाहिए। मैं स्वय एक कटु आलोचक हू। पर आलोचक का भी अपना एक सस्कार होना चाहिए। मेरे नाटको मे अभिनय के अनुपयुक्त कई अशो को हटाने के प्रसग भी आये हैं।

अभिनय के समय

रगमच पर

व्यावसायिक रगमच मैंने अच्छी तरह देखा है। उनके साथ हाथ-पाँव भी मारे हैं। बचपन म देखे ए० वी० वरदाचाय और शिरहट्टी वकोवराय के कम्पनी नाटक कैसे चलते थे यह भी याद है। मेरे अपने जीवन में रगमच पर पदार्पण करने के बाद देखे रगमचो का तो बहुत अच्छा परिचय है। कई जगह अभिनेताओं का रग पोत कर नृत्य करना भी देखा है। इन लोगो को देखने के बाद मुझे लगा कि हमारा अभिनय और हमारा रग निर्देशन बहुत ही निम्नस्तर का है। लगता है हमारे यहाँ लोग नाटको म लोगो को आकर्षित करने वाले दृश्य, वेषभूषा और सगीत की सहायता स कुछ अभिनय दिखाकर समझते हैं कि अपना काम पूरा हो गया। प्रेक्षको की मूढ़ता के अनुकूल एक नाटक प्रस्तुत करके अपना काम पूरा हो गया सोच लते है। नाटककार की दृष्टि प्रेक्षको की अभिरुचि को परिष्कृत करने की ओर भी जानी चाहिए।

मराठी अभिनेता

पहली बार जब मैं बम्बई गया था तब मैंने 'बालगंधर्व' के कुछ नाटक देखे थे। तब ऐसा नही लगा कि वहाँ के दृश्य रगसज्जा हमसे कुछ उच्च स्तर की हैं। हमारे अभिनेता से वे कुछ ज्यादा रग पोतते थे। हाँ, उनमे एक दो का अभिनय विशेष अच्छा होता था। 'बाल गधर्व' राजहस नाम के चितपावन ब्राह्मण को बाल गगाधर तिलक द्वारा दिया गया खिताब है। बालगधर्व प्रसिद्ध सगीतकार थे। वे रगमच पर लम्बे समय तक एक ही आलाप लिया करते थे। उस जमाने के सारे नाटक सगीत प्रधान हुआ करते थे। उनमे गधर्व स्त्री पात्र की भूमिका निभाया करते थे। उनके गान म कोई विशिष्टता नही थी परन्तु वे उत्तम दर्जे के अभिनेता थे। सभी रसो को स्त्री सुलभ सहज भाव स अभिनय कर सकने वाले कलाकार थे वे। उनके साथ 'रानाडे' नाम का एक व्यक्ति भी स्त्री पात्र की भूमिका किया करता था। उस का अभिनय भी बढ़िया होता था। उस स्तर के

अभिनेता या अभिनेत्री मैंने कन्नड रंगमंच पर नहीं देखे। गन्धर्व की कम्पनी अथवा दूसरी मराठी नाटक मण्डलियों के अन्य अभिनेताओं के बारे में मैं ऐसी बात नहीं कह सकता। उनमें कई बड़े अभिनेता प्रसिद्धि पा चुके थे पर उनका अभिनय मुझे तो सामान्य ही लगा। कुछ लोग तो नाटक के वार्तालापों का चिल्ला चिल्ला कर बोलने में ही अपने को बढ़िया कलाकार मानते थे। ऐसा लगता था कि उनमें प्रत्येक भाव की अनुकूल मुखमुद्रा दिखाने की अथवा वार्तालाप के अनुसार उतार-चढ़ाव लाने की शक्ति थी ही नहीं। मुख भावों में रस का वैविध्य नहीं होता था। मुह पर एक ही प्रकार का दुखी भाव अथवा रौद्र भाव बना रहता। इसके अतिरिक्त अधिकांश अभिनेता बात समाप्त होते ही खम्भे की भाँति खड़े हो जाते। बात करते समय ही वे अभिनय करते शेष समय में वे जीवित शिला की तरह बने रहते। अच्छे अभिनेता का गुण उसके सुनते समय भी दिखायी देता है।

बाहर के अभिनेता

उन दिनों बोलते चलचित्र नहीं थे बल्कि मूक चलचित्र हुआ करते थे। विदेशी सिनेमाओं में जैनिंग्स, व्हीट, गब्रियल ग्रेग्रा गार्बो आदि कुछ उच्च कोटि के अभिनेता और अभिनेत्रियाँ थे। हमारे यहाँ के अभिनेताओं पर ऐसे कलाकारों का शायद कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता था। आज भी एक सामान्य विदेशी अभिनेता में जितनी अभिनय की मान्यता है वह हमारे फिल्म राज्य के श्रेष्ठ अभिनेता में भी दिखायी नहीं पड़ती।

1925 26 के लगभग मैं बम्बई गया था तब वहाँ के ऑपेरा हाउस में लन्दन की शैरिफ कम्पनी का जर्नीज एण्ड (Journey s End) नाम का तीन अंकों का दो घण्टे का नाटक मैंने देखा। उन दो घण्टों तक रंगमंच से आँख हटाने का प्रश्न ही नहीं उठा। उसमें किसी प्रकार का बाह्य आडम्बर नहीं था। उसमें बातों की चतुरता और अभिनय की कला ही प्रधान थी। प्रेक्षकों को ऐसा अनुभव नहीं होता था कि वे एक नाटक देख रहे हैं। वे उसमें एकात्मक हो उठते थे।

कृष्णमूर्ति से कलाशम् तक

कन्नड रंगमंच पर कभी-कभार एकाध व्यक्ति श्रेष्ठ अभिनय करते हुए भी देखा है। शेष विशेष सहारा न मिलने से मतप्राय रह हैं। अपने बुढ़ापे में भी कृष्णमूर्ति और लक्ष्मीपति शास्त्री को हास्य भूमिकाएं निभाते मैंने देखा है। उन्होंने अपने पात्र का अत्यन्त सहज और स्वाभाविक अभिनय करके दिखाया था। उनका अभिनय अभिनय जैसा नहीं प्रतीत होता था बल्कि जीवन्त अनुभूति होती थी उनके अभिनय से। और भी कुछ प्रसिद्ध अभिनेताओं का मैंने देखा है। उनमें अधिकांश ऐसे थे जो बड़े प्रयत्न से अभिनय कर पाते थे। उनके वार्तालाप और

अभिनय में आवेश तो रहता था पर सहजता नहीं। हमारे राजा मन्त्रीगण, देवगण तथा जनता रंगमंच पर आते ही एक दूसरा ही स्वर अपना लेते हैं। यक्षगान में गद्य की अपनी ही एक शैली है। हरि कथा में भी अपनी ही एक शैली है। इसी प्रकार नाटकों के गद्य की भी एक शैली ने जन्म लिया है। इस क्षेत्र में प्रसिद्ध अभिनेता श्री राघवाचार्य और कैलाशम् का भी मैंने देखा है। राघवाचार्य बहुत ही गम्भीर अभिनय करते थे। वह गम्भीरता सभी पात्रों में समानरूप से दिखायी देती थी। स्वर में उतार चढ़ाव रस के अनुसार परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ता था। पर कैलाशम् ऐसे नहीं थे। उनकी बातें दिल से निकलती थीं। पात्रों की कल्पना को भी समझते थे। पर तु उनकी जबान जरूरत से ज्यादा तेजी से भागती थी। उनकी मुख भंगिमा कभी भी न बदलती। लगता था कि उन्होंने एक विकृत मुखौटा पहन रखा हो। उनका कोई भी चित्र क्यों न देखें उसमें एक स्थायी विकृति दिखायी देती थी। उसे हटाकर उनकी मुख मुद्रा में अपने मन की बात को स्पष्ट कर पाने की शक्ति न थी फिर भी उनके स्वर के कारण उनका अभिनय अधिक प्रभावशाली रहता था।

यह सब तो मैंने बाहरी अनुभव की बात कही। अब अपने ही प्रयास की बात कहता हूं। विद्यार्थी अवस्था में मैंने नाटकों में भाग नहीं लिया। बाद में अपने नाटक 'निशा महिमा' का प्रदर्शन करते समय मुझे अभिनेता और निर्देशक बनना पड़ा। काम करते-करते सीख लेना मेरी आदत है। इसलिए यहाँ भी अपना गुरु और शिष्य आप ही था। निशा महिमा की तैयारी कराते समय मैंने अनुभव किया कि उसमें कई बातें अभिनय के लिए उपयुक्त नहीं हैं। कारण इतना ही था कि नाटक में जो बातें बुद्धि के बल पर लिखी जाती हैं उसे उन्हें अभिनेता सदा अभिनीत नहीं कर सकता। पर तु जब नाटककार स्वयं को उस पात्र में ढाल कर लिखता है तो वही बातें अभिनय के लिए उपयुक्त हो जाती हैं।

दर्पण ही गुरु है

नाटक के संवादों को सामने रखकर, एक ही सुर से कथा करने से ऊब पैदा हो और हर शब्द अर्थपूर्ण न हो तो वह बात व्यर्थ होती है। अभ्यास करते समय मन उसमें रम जाने पर स्वर का उतार चढ़ाव समझ में आ जाता है। अधिकांश लोगों को तो सही सही उच्चारण भी नहीं आता था।

नाटक सिखाने से पहले मुझे स्वयं यह देखना था कि मेरे मुख पर ही अपेक्षित भाव भंगिमा व्यक्त होती है कि नहीं। यदि मन में दुख का भाव या करुणा है तो यह आवश्यक नहीं कि वह मुख पर भी फूटकर दीखे। अपने जीवन में आनेवाले अनेक सुख-दुख और उलझनें होने से बहुधा हम मन की बात भूलने का प्रयास

करते हैं। कई बार, जीवन में ही अभिनेता बनकर मन की बात को दूसरे ढंग से बाहर निकालने का स्वांग करते हैं। ऐसा मुख प्रत्येक भाव बिम्बित करने के बदले एक ही भाव व्यक्त करता है मानो मुखौटा पहन रखा हो। हमारी आँखें, गाल और होंठ सब को मन के कहने के अनुसार चलना चाहिए। सामान्य नट भले ही यह समझे कि उसने सब कुछ कर दिया है पर दर्शक को वह दिखायी नहीं पड़ता। यह बात नटों को भी पता नहीं चलती, यदि पता चल जाय तो पता नहीं कितने नट आत्महत्या कर लेते। अभिनय में यदि विविध प्रकार के रस प्रदर्शित न किए जा सकें तो क्या हम अभिनेता बन सकते हैं? इसलिए मुझे अपने लिए एक गुरु खोजना था। जो जैसा है वैसा ही दिखानेवाला गुरु चाहिए था। बलिहाज दर्पण ही उसके लिए मुझे योग्य गुरु लगा।

मुझे कोई भी भूमिका करनी हो या सिखानी हो दर्पण के सामने बैठकर मैं बात को भावपूर्ण ढंग से कहना सीखने लगा। तब मुझे अपनी एक एक कमी आँखों के सामने स्पष्ट दिखायी देने लगी। दर्पण के सामने अभिनय के अभ्यास ने ही मेरे मन में अभिनय के प्रति आसक्ति जगायी।

साधारणतया दुखद भूमिकाओं में ही मेरी रुचि रही है। मन की गहरी भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर उसमें जितना मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। इसलिए कर्ण और काश्यप भूमिका जैसी कई भूमिकाओं का अभ्यास किया करता था। दूसरे पात्रों की भूमिकाओं को मैंने शिक्षण भी दिया है। उन सब का अन्तर मुझे अच्छी तरह मालूम है। लघु भूमिका में काम करने के बाद, उन्हें हम प्रायः उसी तरह भूल जाते हैं जिस तरह लघु कथाएँ पढ़कर भूल जाया करते हैं। बड़ी और गम्भीर भूमिकाओं की बात ऐसी नहीं है। कुछ दिन तक उन पात्रों का व्यक्तित्व हमें याद रहता ही है। ऐसे पागलपन से ही मैंने 'हैमलेट' का अनुवाद किया और हैमलेट की भूमिका का अभ्यास भी किया। कुछ कठिन भूमिकाओं के अभिनय की तैयारी भी की है। अभिनय भी क्रियात्मक कला सृष्टि के समान ही मन को शांति दे सकता है। हम जिस पात्र का अभिनय करते हैं उसके संस्कार और गहरायी का हमें बोध होना चाहिए। एक का दुख दूसरे का नहीं होता, एक का रोष भी दूसरे का नहीं होता, एक की हँसी दूसरे की नहीं होती। ये एक-एक भाव में एक एक संनिवेश में अलग अलग ढंग से व्यक्त होते हैं। स्टेनिलेवस्की नाम का एक नाटककार रहा है। वह नाटक का अभ्यास कराने के लिए अपने कलाकारों को अलग से जाकर शांत वातावरण में रखता था। प्रत्येक को उसकी भूमिका समझा देने के बाद, पात्रों से समानता रखनेवालों को खोज कर कलाकारों को उनके पास भेजा करता था। नाटककार के मन में क्या रहा होगा यह बात भी अभिनेता को समझनी चाहिए। उस नाटक के पात्र का जीवन कैसा रहा होगा, उसका स्वरूप कैसा होगा, वह किस संस्कार में पला होगा, कौन-कौन मोड़ पर वह

किस प्रकार का व्यवहार कर सकता है, इस सबकी कल्पना कर सकने की सामर्थ्य अभिनेता में होनी चाहिए। नहीं तो अभिनय शब्द का भला अर्थ ही क्या है? चाहे हम महाभारत की कहानी उठाएँ या जीवन की कोई कहानी व्यक्ति और संस्कार का पर्याप्त परिचय न होने से हम उनका सही अभिनय नहीं कर सकते।

इसीलिए मेरे मन में अभिनय के प्रति आदर उत्पन्न हुआ। किसी भी नाटक का अभिनय करने से बहुत दिन पहले से ही वह पात्र कर्ण हो या हैमलेट या कोई और—आँखों के सामने नाचता रहता और उसके साथ एक स्वप्न लोक की सृष्टि सी हो जाती। उस पात्र का सुख दुख और अनुकम्पा मेरे भीतर जागृत होने लगती। उस अनुकम्पा से अभिनय सफल हो जाता। रंग लगा लेने के बाद रंगमंच के बाहर रहूँ या भीतर उसी भूमिका का नशा हमें चढ़ा रहना चाहिए। नया नाटक सिखाते समय मैं बड़ा कठोर निर्मोही बन जाता था। मन की तन्मयता में विघ्न डालनेवाली किसी बात या शब्द से मैं आपे से बाहर हो जाता था। अभ्यास के समय में भी यही बात थी। अतः मेरे स्वभाव से परिचित मित्र मेरे साथ कभी अन्यथा व्यवहार नहीं करते थे।

कला-सृष्टि, विस्मृति

एक अभिनेता का अभिनय करते समय एकदम अपने आप को भूल जाना संभव है अथवा वह आधा होश में रहकर अपने अभिनय को देख कर प्रसन्न होता है? यह बात पाश्चात्य कलाविदों में चर्चा का विषय रही। उस बारे में अपने अनुभव की कुछ बातें कहना चाहूँगा। एक बार मैं कर्ण की भूमिका कर रहा था। कुंती और कर्ण का वार्तालाप समाप्त होने के बाद स्वगत भाषण का प्रसंग आया। उस घटना के अंत में मैं बेहोश की भाँति नीचे गिर पड़ा। कलाशम् नाटककार और अभिनेता सामने बैठे थे। उन्होंने आलोचना की कि यह बहुत अति हो गयी। उनकी आलोचना को ध्यान में रखकर मैंने सोचना शुरू किया। और एक बार वही अभिनय करते समय यह निश्चय करके मैंने रंगमंच पर प्रवेश किया कि अन्त में मुझे मूर्छित नहीं होना चाहिए पर फिर भी पहले ही जैसा हुआ। उस पात्र की बातें और उनमें छिपा भावावेग मेरे मन पर पूरी तरह छाया हुआ था जिसके कारण मुझमें ऐसा हुआ होगा। उसका मुख्य कारण कर्ण के विषय में और उस प्रसंग में मेरा अपना लिखा नाटक ही था। कर्ण के दुःख में पश्चात्ताप और उद्वेग था। अपने ही भाई की पत्नी द्रौपदी के प्रति अपनी कही कटु बात के लिए वह पछता रहा था। उसके पश्चात्ताप में ऐसी तीव्रता आ गयी थी। अब प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में कर्ण ने ऐसा किया होगा? कर्ण ने चाहे जो किया हो अभिनेता की कल्पना के कर्ण में वैसा परिणाम हुआ था।

फिर वह तब की बात है जब मैं सत्ताईस वर्ष का था। मेरी भावुकता का शायद यह भी एक कारण रहा होगा।

एक बार मैं अपने नाटक 'कठारी भैरव' का अभिनय सिखा रहा था। भैरव विजयनगर के साल्व तिम्मा का प्रतीक था। वह बुढ़ापे में अपने राजा के व्यवहार से अत्यन्त दुखी और क्रुद्ध हो उठता है। ऐसी मानसिक स्थिति में वह गुजरता है। मैं एक कलाकार को उसका अभिनय सिखा रहा था। उसका एक प्रसंग सिखाने के बाद आधा घण्टे तक मैं अपने स्थान से हिल न सका। हाथों और मुख की शिराओं में रक्त का तनाव बढ़ जाने से मैं आवेग में अपने को भूल गया था। जब तक स्थिति ऐसी रहती है व्यक्ति अपनी प्रज्ञा में नहीं रह पाता। इसलिए मुझे ऐसा लगा कि एक व्यक्ति अपने अभिनय में पात्र की अवस्था में एकदम तल्लीन हो उठता है।

इसी प्रकार एक बार मैं अभिनय के विविध दृष्टान्त दे रहा था। अलग अलग प्रकार की मानसिक अवस्थाओं को दिखाने का प्रयास कर रहा था तब भी ऐसी ही अवस्था हुई थी।

शुरू शुरू के सन्दर्भों में अभिनेता का अपने को भूलकर अभिनय करना एकदम स्वाभाविक है। वह परिणामकारी भी होता है। वहाँ नट अपने व्यक्तित्व में नहीं रहता जिस पात्र का अभिनय करता है वही बन जाता है। एक बार मैं 'सिडिलु मिंचु' (गर्जन और बिजली) नामक अपने ही एक नाटक का अभिनय कर रहा था। उसमें मैंने पहले आँखें खो कर अन्धे हो जानेवाले का अभिनय किया। उसमें बेटे की आवाज सुनकर उसे गले लगाने को, अन्ध पिता के भागने का प्रसंग आया। मेरी आँखें थी फिर भी मैं अन्धा हो गया हूँ—ऐसी मानसिक स्थिति में पहुँच गया था। तल्लीनता में ऐसा ही होता है। बाद में बार-बार उसी भूमिका के करने पर वह तल्लीनता नहीं रही।

नृत्य में भी मैंने ऐसा ही अनुभव किया। नृत्य में पहली बार जो तादात्म्य रहता है वही बार-बार करने में कम हो जाता है। धीरे धीरे वह यांत्रिक हो जाता है। जितना वह यांत्रिक होता जाता है कलाकार को उससे उतना ही कम सुख मिलने लगता है।

अभ्यास न करनेवाले

मैंने प्रशिक्षण देते समय कठिन भूमिका निभाने वाले दो-तीन छोटी आयु के कलाकारों को देखा है। आमतौर पर सफल भूमिका का निर्वाह करने के लिए अपनी भूमिका को भली प्रकार समझ लेना चाहिए उसे कण्ठस्थ कर लेनी चाहिए। इसके लिए काफी समय अभ्यास करना पड़ता है। सुना है जर्मनी में एक नाटक के प्रदर्शन से पूर्व कलाकार उसका पाँच छः वर्ष अभ्यास करते हैं। हमारे यहाँ

यदि चार मास भी श्रद्धापूर्वक सीख लिया जाए तो नाटक एक 'कला' बन सकता है। मंच पर आने तक भी यदि कोई कलाकार अपनी भूमिका याद न कर सके और प्राम्पटर के भरोसे वेष भूषा पहनकर रंगमंच पर उतर आने की जल्दी मचाये तो इससे तो यही अच्छा है कि वह जाकर मुहर्रम में हिस्सा ले ले। उसके लिए रंगमंच की आवश्यकता ही क्या है?

मैंने छाया नाटक गीत नाटक, हास्य नाटक—सब पर प्रयोग किया है। इनके अभिनय अलग अलग ढंग के होते हैं।

छाया-नाटक

छाया नाटकों में सहज रूप से खड़े होने और सहज अंग विन्यास को स्थान नहीं होता। कलाकार को पर्दे के पार्श्व में खड़ा होना होता है। शरीर और मुख की रेखाएँ छाया द्वारा व्यक्त करनी होती हैं। उनके स्थान मान से ही अभिनय छाया के द्वारा प्रेक्षकों को दिखायी देता है। मुख के भावों की सूक्ष्मता उसमें दिखायी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त प्रकाश के सामने खड़े कलाकार की आकृति छाया में और बड़ी हो जाती है। इसीलिए अंग संचालन की गति और वेगवान हो जाती है। अतः उसे अपनी गति ऐसे विकसित करनी चाहिए जिससे वह प्रेक्षक को स्वाभाविक लगे। उसका समस्त शरीर भाव प्रदर्शन का साधन होने से वह होंठ आँख गर्दन और हाथ के संचालन पर जितना ध्यान देता है उतना ही उसे पद संचालन और अंग भंगिमा पर भी देना पड़ता है।

गीत नाटक

गीत नाटकों का अभिनय आसान होता है। पर उसका वार्तालाप गीतबद्ध होता है। भाव जैसे मुख से व्यक्त होते हैं वैसे ही रागालाप से होने चाहिए। इस रागालाप में जैसे वाद्य में उतार चढ़ाव, तार, मन्द्र प्रवाह पर ध्यान देना होता है वैसे ही इन नाटकों में भी देना होता है। खुशी में हँसी की जैसे फुलझड़ियाँ छूटती हैं वैसे ही यहाँ आलाप में आनी चाहिए। दुःख रोष आदि प्रमुख भावों में गद्य-वार्तालाप का नियम ही चलता है। इस का कारण यह है कि नाद मूल ही गीत से निकले या गद्य से, मानव के संस्कार में भावना और ज्ञान के स्वर में जो सन्तुलन रहता है वही सन्तुलन यहाँ भी रहता है। काव्य गीतों में भी यही बात लागू होती है।

पृष्ठभूमि

हास्य नाटकों में अभिनय प्रहसन की अपेक्षा कृत्रिम होता है। उसमें वास्त-

विकता नहीं होती। उद्देश्य के अनुकूल अभिनय होना चाहिए। उद्देश्य यदि व्यंग्य हो तो अभिनय भी व्यंग्य ही होता है। वार्तालाप भी व्यंग्यपूर्ण होता है। नाटक केवल अभिनय पर ही निर्भर नहीं होते। पृष्ठभूमि पर काफी निर्भर होते हैं। पृष्ठभूमि भी नाटक के अनुकूल होनी चाहिए। नाटक यदि यथार्थवादी हो तो पृष्ठभूमि भी यथार्थपरक होनी चाहिए। ऐतिहासिक नाटक हो तो पृष्ठभूमि इतिहास के अनुकूल होनी चाहिए। वैसी ही मुखसज्जा, वेष भूषा और प्रकाश व्यवस्था होनी चाहिए। नाटक में यथार्थ चित्रण के बदले भगवान, राक्षस या और ऐसे किसी को चित्रित करनेवाली फण्टसी हो तो उस कल्पना के अनुकूल ही पृष्ठभूमि होनी चाहिए। यदि हम अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार नहीं कर सकते तो बिना पृष्ठभूमि के ही रहना भला है।

सुखान्त नाटक

यह अंग्रेजी के 'कॉमेडी' शब्द का स्थूल अर्थ है। परन्तु शेक्सपियर की कॉमेडी केवल सुखान्त नाटक नहीं हैं। वे तो समाज के वास्तविक नाटक हैं। उनमें अति हास्य और विडम्बना छिपी रहती है। शायद इसी कारण इंगलैण्ड में ऐसे नाटक खेलते समय वास्तविकता से जरा दूर हो जाते हैं। कॉमेडी नाटक के सभी पात्र अत्यन्त हास्य का अभिनय करते हैं। ऐसा करने पर नाटक के अभिनय का माध्यम सदा एक-सा दीखता है। 1964 में बंगलूर आयी इंगलैण्ड की एक नाटक मण्डली ने 'टेमिंग ऑफ द श्रू' (Taming of the Shrew) नाटक को इसी पद्धति से अभिनीत किया। पूरे नाटक के माध्यम की कल्पना न हो तो उसके अलग-अलग भागों का अभिनय अलग-अलग ढंग से किया जा सकता है। इस दृष्टि से हमें कॉमेडी और सुखान्त नाटक को अलग अलग मानना चाहिए।

मुख-सज्जा

केवल एक दो-चार, मेकअप में मैंने अतिमानव और अमानव व्यक्तियों को भावात्मक रूप से दिखाने का प्रयास किया है। शूर्पनखा के मुख का मेकअप करते समय क्यूबिज्म (Cubism) के ढंग से मुख को त्रिकोणाकृति में चित्रित करके अलग-अलग रंगों का लेपन करके अद्भुत-सा दिखाने का प्रयास किया परन्तु मेरे ये सारे प्रयत्न क्षणिक ही थे। ऐसे प्रयास प्रायः अपने गाँव में ही करता रहता था। उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह आती थी कि ऐसी कल्पना को साकार करने वाले और विकसित करने के लिए परिश्रम करनेवाले लोग नहीं मिलते थे। एक बार काम करनेवाला व्यक्ति दुबारा नहीं मिलता था। अगली बार दूसरे ही लोगों की तलाश करनी पड़ती थी। हर बार नये सिरे से इसके लिए परिश्रम करना

पड़ता था। पुराने श्रम से लाभ उठाकर उसे आगे बढ़ाने की बजाय, हर बार शुरू से चलना पड़े तो रंगभूमि का सुधार भला कैसे सम्भव है? मैंने अपने ही प्रयत्न से रंगभूमि की अपार सम्भावनाओं के सपने देखे हैं। कई बार मन में यह आशा भी जागी है कि विदेशों में जिस प्रकार प्रयोग चल रहे हैं उसी प्रकार हम भी करना चाहिए पर मेरी आशा केवल आशा ही बनकर रह गयी। प्राप्त अनुभवों का प्रयोग कर, कला को जीवन का रूप देने का अपेक्षित वातावरण मिल ही नहीं पाया।

संगीत में भी

राष्ट्रगीत

गीत-नाटकों के बारे में लिख चुका हूँ। अब जरा संगीत के बारे में न लिखूं? कुंदापुर में पढ़ते समय ही उसमें मेरी रुचि जागृत हो गयी थी। विद्यार्थी जीवन में नाटकों में आनेवाले गाने सीखे थे। बाद में उसी शैली में गद्यात्मक कविताओं पर प्रयोग किये थे। 'शरधि शयन परम पावन ...' यह गीत एक नाटक कम्पनी वालों के नारद के मुँह से सुना था। उसी तर्ज पर एक गीत 'सुदर्शन यह सुनो ...' की रचना की। इसी ढंग का एक पद्यसंग्रह बनाकर 'राष्ट्रगीत सुधाकर' शीर्षक से प्रकाशित भी कराया था। उन दिनों तो कर्नाटक में राष्ट्रगीतों की बाढ़ सी आ गयी थी। राष्ट्रगीतों की हवा भी उसी में बही। आज यदि कोई मुझे वे कविताएं दिखाए तो मुझे उन्हें अपना कहने में शर्म आयेगी। अगर मान जाऊं तो आत्महत्या ही एक रास्ता रह जाएगा। फिर भी तसल्ली की बात यह है कि आज भी मेरे जैसे कवि-कुल कुठार बहुत से हैं। मेरा मन कहता है कि समाज में ऐसा नियम होना चाहिए था कि कवियों को जेल में डाल दिया जाय या फिर पागलखाने भेज देना चाहिए। तब पता नहीं कितने लोग बाहर बच पाते!

चीख-पुकार

शुरू शुरू में स्कूल के एक विद्यार्थी ने मुझे चीखना सिखाया यानी सुर में चीखना। उससे वह गुर सीखा। अपने घर के पास के मैदान में जाकर पौ फटते या आधी रात को बैठक कर चीखा करता था। यह स्थान गाँव के बाहर था। कितनी ही दफा, सियार प्रशंसा करने पास भी आये। एक बार तो एक सियार ने केवल दस गज की दूरी पर खड़े होकर स्पर्धा के लिए ललकारा भी। यह मजाक नहीं वास्तविक घटना है। आज भी मेरा गायन वैसा ही है। संगीत के अभ्यासी को उस समय गाँव से बाहर ही रहना चाहिए। इस अभ्यास से मुझे एक लाभ अवश्य हुआ। मेरा गला खुल गया। अब तो बेरोक-टोक गा सकता हूँ। पर जब मैंने गाना सीखना आरम्भ किया तो मुझे यह पता नहीं था कि ताल क्या होता है।

धीरे धीरे कुछ सामान्य रागों का ज्ञान मुझे हो गया था। सजीवराय नाम के एक सहपाठी ने मुझे गाना सिखाया। बाद मे रामकृष्ण नाम के एक सज्जन ने रोज घर आकर श्रुति रख कर गाना सिखाया। उन्होने सा आ-आ-आ-आ मि इ इ इ शकराभरण आदि रागों की आलाप पद्धति बतायी।

वह हिन्दुस्तानी सगीत के अच्छे ज्ञाता थे। अत उन्होने अपनी शैली म खमाज वसन्त भैरव कानड आदि रागो का परिचय कराया। बाद म उनका स्वगवास हो गया। फिर कुछ दिन बाद मैंने भी कुन्दापुर छोड दिया।

पश्चात कुछ समय तक मैं नाटक-मण्डलियो के साथ घूमता रहा। तब ताल भले ही ठीक न रही हो, राग के अनुसार गान का प्रयास करने लगा। बाद म मुझे कम्पनी के लोगो के लिए गीत लिखकर देने का दायित्व मिला। तब मैं मराठी, हिन्दुस्तानी म प्रचलित गीतो की नकल पर जसा वे चाहते थे वसा ही कन्नड म गीतो को पूरा करके देता गया।

बाद म मैंने स्वत त्र नाट्य रूपक लिखे। 'मुक्त द्वार' जसे गीत नाटक लिखने समय एसी नकलो से काम नही चला। तब अपनी भावनाओ के अनुकूल रागो को चुनकर मुझे ही गीत लिखने पडे। मैं साहसी था, व्यावसायिक सगीतकारो से डर जाता क्या? मैंने अपनी आवश्यकतानुसार सकडो गीत लिख डाले। उस पर भी मैं स्वय गाने वाला था इसलिए मुझे किसी का डर नही था, कोई झिझक नही थी।

मोतीसिंह

'शील भग' नाम की एक नृत्य नाटिका के लिए मुझे एक गीत की रचना करनी थी। इसके लिए एक उपयुक्त अवसर भी मिल गया। सन 1932 के बाद, मैं महीने मे पन्द्रह दिन पुत्तूर और पन्द्रह दिन मालूर म गुजारने लगा। इसी बीच एक गुरु मिल गये। वे अब्दुल करीम खान के प्रथम शिष्य थे। उनका नाम था मोतीसिंह। वे प्राय एक टाल पर बठा करते थे इसलिए उनका नाम 'लकडी बुआ' पड गया था। लगभग तीन वर्ष तक मास म दस पन्द्रह पाठ के हिसाब से मैंने उनसे शिक्षा ली। उनके कण्ठ की खूबी और गाने का कमाल भला मैं कहाँ पा सकता था! मैं सीखने से अधिक सुनने मे ही लगा रहता। वस पहले से ही मैं अब्दुल करीम खान के सगीत का प्रशसक था। उनकी शिष्या हीराबाई बडोदकर का गाना धारवाड मे सुना था। बहुत अच्छा लगा था। इसीलिए मुझ म मोतीसिंह के प्रति बडा गौरव था। वे बूढ़े हो चुके थे, पियक्कड भी थे। अब उनम वो गाने की शक्ति नही रह गयी थी। एक दिन मैंने उनसे अब्दुल करीम खान साहब का 'जमुना के तीर' गाना सुनाने को कहा। वे एक दम गुरु की तरह ही गाने लगे। पर बीच म ही गाना रोककर रो उठे। मैंने कारण पूछा। वे बोले,

ताकत नही रही जी !" और रो पडे। गुरु की योग्यता याद करके अपनी शारीरिक दुबलता पर उन्हें रोना आ गया था। हमारे सगीतकार भले गर्व से फूले हुए क्यो न हो, अपने गुरु के प्रति उनमे अपार श्रद्धा होती है। मोतीसिंह उसके अपवाद नही थे। जब वे सिखाने आते थे तो कभी-कभी देर हो जाने पर वे व्यावसायिक सगीतकारो की तरह, दूसरे घराना के गायको की निन्दा मे ही अपना समय बिता देते थे। सगीतकार कहाँ-कहाँ गलतियाँ करते हैं इसका भी ज्ञान कराते। एक अच्छा गुरु मिल जाने से मैंने काफी सीख यह कहने का साहस भी मुझ मे नही है। वे मेरे लिए गुरु थे, पर उनके लिए मैं 'कारन्त महाराज' था। यही बहुत था। कम-से-कम एक ने तो मुझे 'महाराज' कहा। बेचारे वे वृद्ध सन् 19.9 के आस-पास घोर दरिद्रता मे ही गुजर गये। मोतीसिंह पियक्कड होने पर भी गुणी और विद्वान थे। उनसे शिक्षा न पाता तो मेरे गीत-नाटक कभी जन्म ही न ले पाते। उनके कारण ही मुझे उस क्षेत्र म कदम रखने का साहस हुआ। बाद मे मैंने कई नयी रचनाएँ लिखने का उपक्रम किया। इस काय म डॉ० कारे भी मेरे ज्ञानवर्धन मे सहायक बने।

नत्य का अभ्यास करते समय मुझे बढिया पाश्व सगीत की आवश्यकता महसूस होती थी। पर मेरे भाग्य मे तो केवल हारमोनियम ही बदा था। लगता था कि सगीत की साधना के लिए वही एक 'यमुना' है। इसलिए मैंने कुछ मित्रो को दिलरुबा, हाप, बसर फ्लोल्ड जसे वाद्य मँगवा कर दिये। वे मुझसे भी ज्यादा कामचोर थे। उन्होने कुछ भी करके नही दिया। और इस तरह पाश्व सगीत रखने की कल्पना पूरी नही हो पायी।

फिर भी मन म सगीत निर्माता होने की लालसा बनी रही। एक बार बगलूर मे मुझे अपना नाटक 'लव कुश' खेलने का अवसर मिला। उसके लिए पाश्व सगीत की व्यवस्था करनी थी। तब आकाशवाणी के सगीतकार श्रीनिवास अय्यगार को घर बुला कर मैंने अपनी सारी पगली कल्पनाएँ एक-एक करके समझायी। मुझे राग तो आते थे पर उनके लिए स्वर देने की योग्यता नही थी। आवश आने पर कल्पना उडान भरने लगती, उसे स्वरो म बाँधने की योग्यता कहाँ से जुटाए ? एक बार एक तरह गाता तो दूसरी बार दूसरी तरह। श्रीनिवास अय्यगार ने मेरे ज्ञान को बीच-बीच मे बाँध लगाकर, एक मूतरूप दिया। मेरे कथनानुसार कौन-कौन-सी चीज कहाँ-कहाँ होनी चाहिए यह निश्चय करने के बाद उनके लिए आर्केस्ट्रा तयार किया। बगलूर के 'फॉर आट फस्टिवल' के अवसर पर हमने यह नाटक खेलकर दिखाया। पता नहीं उसे देखनेवालों का अनुभव क्या रहा ? मेरे अन्य गीत-नाटको के अभिनय के समय मेरे तरुण मित्र श्रीनिवास उडुप, मेरे सारे पागलपन मे सहायक रहे।

कभी पूरी न होनेवाली आशा

तब से मुझे 'ऋतुसहार' (Song of the seasons) जसी एक कल्पना को केवल सगीत म ही रूप दन की इच्छा हुई। वह पूरी न हो सकी। जिस कला का निर्माण केवल एक आदमी पर निभर न हो उसम एसी अडचनें आती ही हैं। सही साथी नहीं थे। और फिर उनको जुटा पाने की शक्ति भी मुझ म नहीं थी।

डा० बाके

मेरे गीतो को निश्चित रूप लोकगीतो के अभ्यास से ही मिला। हुलसगी मे मैंने पहली बार उत्तम कनड का लोक सगीत सुना था परन्तु उनका सही परिचय बाद मे मिला। मेरे गाव म तुलु और कनड का लोक साहित्य पर्याप्त मात्रा मे है। शुरु म मुझे इसका पता नहीं था, केवल यक्षगान ही सुन रखा था। इन सब का परिशीलन करने की अभिलाषा एक मित्र के कारण हुई। केरल के उस मित्र ने डच डा० अर्नाल्ड बाके दम्पती को मेरे पास आने की सलाह दी थी। उनके आन का उद्देश्य भी उस पत्र मे लिखा था। बैंगलूर जाते हुए मडकेरी मे मेरी उनसे भेंट हुई। डा० बाके मेरे परिचित महान् विद्वानो म एक थे। मेरा उनसे परिचय सन् 1937 म हुआ था। वे हालण्ड के निवासी थे। लन्दन के आक्सफोर्ड विद्यालय से हमारे यहाँ आये थ। मेरा परिचय होने से पूर्व ही व दस साल यहाँ बिता चुके थे। पति-पत्नी दोनों यहाँ सगीत पर शोधकार्य कर रहे थे। श्रीमती बाके बहुत बढ़िया पियानो बजाती और गा भी सकती थी। उन्हें यूरोप के समस्त प्रान्तो के लोकगीत, मध्ययुगीन सगीत और अर्वाचीन सगीत का अच्छा अभ्यास था। हमारे देश म आकर उन्होंने शान्ति निकेतन म हिन्दुस्तानी सगीत का परिचय प्राप्त किया। सारे भारत का भ्रमण कर उन्होंने लोकगीतो को रिकार्ड किया था। व जहाँ जाते वहाँ के गीत गानवालो को बुलाकर उनसे गीत गवाकर उन्हें टेप कर लेते थे। तब तक उस यन्त्र का विकास हो चुका था। इस प्रकार व गीतो का सग्रह करके उन पर शोध कर रहे थ। उन्होंने हमारे दश के सगीत और मध्य युगीन यूरोप के सगीत का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उन्होंने बताया कि गीतगोविन्द की शैली टर्की, हगरी, स्पेन म भी पायी जाती है। उनका कथन है कि यूरोप म भी हमारे दश के समान ही मेलोडी गान पद्धति प्रचलित रही। बाद म समरस (हारमोनि) पद्धति विकसित हुई। इसके बाद म उनकी और हमारी पद्धति अलग अलग दिशाओ म चल पडी। फिर भी जापान और यूरोप के गीतो मे आज भी मलोडी ही प्रधान है।

काम की लगन

डॉ० बाके एक भव्य व्यक्ति थे। दो सो साठ पोंड के भारी भरकम देहवाले

आदमी थे। मुझे पास खडा करके 'सी न्सि बेबी' (See this baby) कहकर मेरा परिहास करते। उनकी पत्नी भी उन्ही के अनुरूप ही थीं। शारीरिक दृष्टि से वे दोनों जितने भारी भरकम थे, मन से उतने ही उदार थे। उन दोनों को कई स्थानों पर ले जाकर यहा के लोकगीतों के संग्रह कराने में मैंने उन्हें सहयोग दिया। जब वे गीत संग्रह कर रहे थे तब मैं उनके लिए लोकगीतों का साहित्य लिख कर सही उच्चारण और अर्थों का भी संग्रह करके देता रहा। उनमें अपने काय के प्रति कितनी लगन थी! उनके साथ अपने जिले का भ्रमण करते मैं बीजापुर भी गया। हुलसगी के मित्रों के गीत भी उन्हें संग्रह करके दिये। बाद में बम्बई में भी उनसे भेंट हुई। उस दम्पती ने पियानो बजा कर मुझे पाश्चात्य संगीत का विधान बताया। बाद में वे काश्मीर और लद्दाख भी गये। अपने इस शोधकार्य के लिए उन्होंने उन दिनों लगभग पाँच-सौ मील की तो पैदल ही यात्रा की थी।

स्वर्गीय

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति होते-होते डॉ० बाके सपत्नीक यूरोप लौट गये। उसके तुरन्त बाद वे ऑक्सफोर्ड गये और प्राध्यापक बन गये। जब मैं लन्दन गया तब भी वे वहाँ प्राध्यापक थे। उनके अनुरोध पर मैं लाईडन नगर भी गया था। वहाँ मैं उनके सम्बन्धियों के साथ ठहरा था। जब मुझे डा० बाके के स्वर्गवास की बात पता चली तो मुझे मेरे एक आत्मीय के खो जाने के बराबर ही दुख हुआ।

गीत साहित्य

डॉ० बाके के साथ काय करते हुए एक तरह से मेरी आँखें खुल गयी थी। उस काय से यह पता चला कि लोकगीतों में और गीतरूपकों में कितनी निकटता है। मुझे लगा कि यदि संगीत को कला का रूप देना हो तो हम उस उद्देश्य की पूर्ति करनी होगी। हमारे संगीत में शास्त्रीय पद्धति का विकास तो हुआ ही है, विविध वाद्यों का भी चमत्कार दिखायी देता है। लेकिन इस विकास में साथ कला शायद उसी प्रमाण में विकसित नहीं हो पायी। इसका मुख्य कारण यह है कि हम शास्त्र को ही 'कला' मानकर उल्टे रास्ते पर चल पड़े।

हमारी मार्ग पद्धति' के गीत प्रबन्धकारों में अनेक सन्त थे। उन लोगों ने रागों का परिचय देने को प्रबन्धों की रचना नहीं की। अपनी भक्ति और वैराग्य को व्यक्त करने के लिए ही वे गाया करते थे। सूरदास और तुलसीदास की अनेक कृतियाँ इसी कोटि की हैं। ऐसी कृतियों में साहित्य और संगीत का सुन्दर समन्वय हुआ है। यह बात नहीं कि दक्षिण के पण्डितों ने ऐसा काय नहीं किया। अधिकांश

प्रबंधो म राग और ताल का चमत्कार दिखानेवाली रचनाएँ भी अनेक हैं। कइयों ने अनेक स्तुतियों और भक्ति सम्बन्धी पदो का ही सकलन किया है। कोई भी गीत लिया जाय उसके पल्लवन और उठाव से पता चल जाता है कि उसकी स्फूर्ति कहाँ से आयी। वैसी स्फूर्ति के भाव के बिना केवल 'गिरिधर ब्रजधर, मुरलीधर' कह देने स राग का परिचय हो सकता है क्या?

एक बात और है हमारे 'मार्ग पद्धति' वाले उत्तम प्रबन्धकार भक्त ही थे। उन्होंने ज्यादातर भक्ति और विरक्ति के गीत गाये। उनके गीतो को यदि भाव-पूर्वक गाना हो तो क्या हमम उनकी श्रद्धा का सौवाँ हिस्सा भी नही होना चाहिए? इसलिए हमे सफल 'प्रबन्धकार' और गायक बनने के लिए अपने मनोनुकूल गीत गाने चाहिए। दैनिक जीवन म दीखने वाले सुख-दुख, क्रोध आदि सवेग सगीत के द्वारा व्यक्त हो सकते हैं। ऐसी कृतियाँ अधिक क्यो नही दिखायी देती? मानवीय शृगार के लिए क्या हम दूसरो का ऋणी होना चाहिए? हमारे शृगार भाव को प्रदर्शित करने के लिए राधा की विरह भावना ही क्या प्रतिबिम्बित करना चाहिए? फिर उसके जैसा मधुर भाव का बोध हममे कहाँ से आयेगा?

क्या हमारी अपनी भावनाएँ नही हैं?

इतना ही नही, हमारा जीवन सकडो सुख-दुखो से भरा है। तब उसम निहित विविध रसो को सगीत द्वारा अभिव्यक्त होने क्या हम देते हैं? हास्य रौद्र, सन्तोष, वीर आदि अन्य रस गीतो म व्यक्त हो रहे हैं? कृतिकार क्या इन भावों का विधिवत् सृजन कर पा रहे है? इतना शास्त्रीय ज्ञान होने स उसका लाभ क्या होगा? सात आठ वर्ष के बच्चो को, जिनका भक्ति स सरोकार नही यदि हम दासो की दुनिया सिखाने लग जायें तो क्या उनकी कला सिद्धि हो पायगी?

देशी गीत

इन विविध विचारो के परिणाम को और उस क्षेत्र म अपनी अपेक्षाओ को मैंने अपने उपन्यास 'मरलि मण्णिग' (माटी की ओर) के राम के द्वारा व्यक्त करने का प्रयास किया है। उसके बाद का चित्रण 'मोग पडेद मन म किया है। लोकगीतो का समन्वय के बारे यारो अन्दरु (किसने कहा) और सोमिय सौभाग्य' नाम के दो गीत-नाटक लिखे। पहला प्रहसन है दूसरा दुखान्त है। दोनो सामान्य जीवन के ही चित्र उपस्थित करते हैं। इन दोनो के निरूपण म मैंने दिखाने का प्रयास किया है कि देसी गीत की क्या भूमिका है। हमारे यक्षगान के कवियो ने इस क्षेत्र म बहुत काम किया है। परन्तु हिन्दुस्तानी, दाक्षिणात्य सगीत के मोह म फँसे कुछ भागवतर उसके सौन्दर्य को नष्ट करके, यक्षगान का पुनरुद्धार यहाँ

के ज़िलों में कर रहे हैं। हमारे ज़िले में यक्षगान के कुछ प्रसिद्ध भागवतर ऐसे अभ्यास करा कर इतना बड़ा नुकसान कर रहे हैं जो शायद कभी पूरा न हो सकेगा। सौभाग्य से उत्तर कन्नड, मलेनाड क्षेत्र में यह अनर्थ नहीं हुआ। कोलार और चित्रदुर्ग में दाक्षिणात्य के प्रभाव ने वहाँ के बयलाट के गीतों को यक्षगान रहने ही नहीं दिया। यदि कोई सुधार करना हो तो पहले उसका पूर्वरूप विकसित करके सुधार करना होगा। पर एक और पद्धति का समावेश करके पहले वाली पद्धति को हटाने से ही काम नहीं चलता। हमें इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि यह अलग है और वह अलग। प्रत्येक पद्धति में अपनी अपनी खूबी होती है। केवल नवीनता का मोह कला की सृष्टि में सहायक नहीं होता। मैं इस बात का पक्षपाती नहीं कि जो पद्धति जैसी है उसे उसी रूप में बना रहना चाहिए परन्तु अपनी परम्परा को बदलते और विकसित करते समय, किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम परिवर्तन कर रहे हैं, यदि यह ज्ञान नहीं रहा तो हानि ही होगी।

यक्षगान

मैं पुत्तूर में दशहरे के अवसर पर नृत्य प्रदर्शन के विविध प्रयोग कर रहा था। उस ज़माने में साल में एक बार यक्षगान की एक कथा नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करने का प्रयास किया करता था। उसके गीत नृत्य के हिसाब से रचे जाते थे। मेरा विचार था कि 'भाग पद्धति' में केवल भक्तिपरक गीत होते हैं। पर पता चला कि उनमें भी हास्य, अद्भुत शृंगार, क्रोध आदि के सरस गीत हैं। धीरे धीरे जब यक्षगान पर अन्वेषण करने लगा तो पता चला कि उसके पुराने प्रबंधों में सकड़ों राग हैं। उनमें न केवल हिंदुस्तानी कर्नाटकी पद्धति के राग थे अपितु दुधरी, पंचागति कन्नड, हुवु कोर मेच्चु, मेघाली जैसे नये अथवा यक्षगान के विशिष्ट राग भी मौजूद हैं। यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थी और हर्ष का भी। मैंने पुराने यक्षगान के भागवतरों को सामने बिठाकर, गवाकर अनुसंधान करना आरम्भ किया। राग-पद्धति से परिचित मित्रों को भी साथ बिठाकर यह काम कराया। हमारे भागवतर तो पहले से चले आये रागों को जैसे भूल ही गये हैं। रागों का उन्होंने अभ्यास करना ही छोड़ दिया है। केवल उस शैली को लेकर रात भर गाने की परिपाटी को चलाते रहे हैं। बिना जानकारी के एक राग से दूसरा राग उठाते हुए मैंने उन्हें देखा। उनके साथ तीन चार वर्ष के अनुसंधान से मैंने लगभग नब्बे यक्षगान के रागों का पता लगाया। मैंने इनके बारे में यक्षगान बयलाट में विस्तार से लिखा है। खैर, इसमें मुझे यह समझ में आ गया कि यक्षगान केवल लोकगीत की एक शैली नहीं है अपितु एक स्वतंत्र संगीत शैली भी है। कई बार नृत्य सिखाते समय मैंने भी भागवतरों के गले के साथ सुर मिलाकर और कभी-कभी उनसे भी ऊँचे सुर में गाया है।

आजकल अवकाश और अभ्यास न होने से मुझे अब तक जितना हिंदुस्तानी संगीत आता था वह भी भूल चुका हूँ। अपने गीत-नाटक 'कीचक संहार' की रचना करते समय काफी परिश्रम करना पड़ा। बीच-बीच में हिंदुस्तानी संगीत के जानकारों से पूछ कर सुधारना भी पड़ता था। इतना होने पर भी पाश्चात्य की भांति भाषा और साहित्य के बंधनों में न पड़कर, गीतों द्वारा ही हमें कुछ भाव और कल्पनाओं का सृजन करने की इच्छा होती थी। परन्तु ऐसे प्रयोग के लिए आवश्यक प्रोत्साहन कहाँ?

एक बार बेंगलूर आकाशवाणी में नन्दी साहब निदेशक बनकर आये। मैं भी वहाँ सलाहकार था। उन्होंने मुझ से कहा, "आप हमारे लिए कोई नई कृति दीजिए।' तब मैंने 'द मेटिक म्यूजिक' (The matic music) बनाने की अपनी पुरानी इच्छा प्रकट की। वे बोले "ठीक है आप आरम्भ कर दीजिए।' मैंने कहा "आपका आग्रह है तो मैं इस ओर प्रयास करता हूँ और अगर सफल रहा तो आपको सूचित करूँगा।' वहां से मैं पूना लौट आया। मन में वही बात चक्कर लगा रही थी। कई दिनों तक गुनगुनाता रहा।

नदी-यात्रा

हमारा जीवन भी एक प्रवाह है। यह नदी के रूपक में क्या न दिखाया जाय, यह विचार मेरे मन में उठा। हवा, बादल, अंधड़, बाद में बूंदाबांदी, निरंतर वर्षा, उससे पानी का प्रवाह, उन प्रवाहों का मिलकर छोटी नदी बनना, नदी का काठ भरना, जगह-जगह पर वेग से गिरना। वहां से मैदान में बहाव का यौवन, फिर उसका आगे गमन और समुद्र से मिलन। इन कल्पनाओं को लेकर, हर एक स्तर का एक एक गीत के रूप में गुनगुनाने लगा। सब के-सब उकार और 'आकार में थे। मुलतानी राग में आंधी का आलाप निकाला, स्वर ज्ञान पर्याप्त न होने से आलाप की स्वरलिपि बना नहीं सकता था इसलिए एक मित्र से वह काम कराया। मुलतानी, पटदीप, मालकोस आदि अनेक रागों में भरा 'आ, आ, आ' गीत प्रबंध निर्मित हुआ। मेरे एक मित्र वासुदेव नायक मेरे घर आते और मेरे द्वारा ली गयी तानों को सुनकर स्वर पहचानकर स्वयं दोहराते तब जाकर मैं उन्हें अंतिम रूप दे पाता था। उन तानों की गति, स्वर लालित्य और उतार चढ़ाव के द्वारा नदी के जीवन का चित्रण करना था। इतनी तैयारी कर लेने के बाद, मैं बंगलूर आकाशवाणी पहुंचा। नन्दी साहब ने अपने वचन के अनुसार आठ दिन के लिए दस बारह वादकारों को मेरे सुपुर्द कर दिया। कौन कौन-सा वाद्य और कौन-कौन सा गीतांश कहाँ इस्तेमाल करना होगा और स्वर प्रमाण कैसे होगा यह सब समझाकर, वह सब उनसे बजवाया।

ऐसा करते समय स्वर का उतार चढ़ाव कैसा होना चाहिए, यह सब मुझे ही गा कर समझाना पड़ा। जो भी हो, गीत तैयार हो गया। उस समय तो वादकों से पूरा सहयोग मिला, पर उन्हें तो अपनी-अपनी शैली ही पसन्द थी, उनको मेरा यह प्रयोग भाया कि नहीं, वह नहीं सकता। किन्तु उनमें एक-दो मेरा आशय समझ कर, मैं जो नाद-तरंग चाहता था, उन्हें बजा पाने में व सफल रहे।

मेरे इस प्रयोग के लिए हमारे सामान्य वाद्यों की भी अपनी एक सीमा थी। हमारे वाद्य दिलरुबा, वेला और बाँसुरी आदि मध्यम तार सप्तक निकालने को तो पर्याप्त हैं पर मन्द्र के लिए उनकी उपयोगिता उतनी अधिक नहीं। मन्द्र निकालने को चैलो, सेक्सोफोन जैसे वाद्य चाहिए।

पर मैं इन प्रयोगों को और आगे तक नहीं चला सका। यह मेरे अकेले का काम भी नहीं था। अकेले बैठकर स्वर लिपि तैयार कर किसी चीज का सृजन करने पर भी उसे सही रूप देने को बड़े-बड़े वाद्य वृन्दों की आवश्यकता पड़ती है वह सब मुझे कहाँ मिल सकते थे?

खैर, वह एक इच्छा कभी पूरी न हो पाने वाली इच्छा ही बन कर रह गयी। फिर भी आशा बनी रही कि एक बार फिर से अनुकूल परिस्थिति मिले तो यह काम और आगे बढ़ाया जा सकता है।

दूसरी कलाओं में

चलचित्र के लिए

मैंने अपनी सिनेमा व्यवसाय की कहानी आगे न चलाकर वहीं रोक दी थी। अब शेष बात कहना चाहूँगा। प्रचार के लिए एक लघुचित्र तैयार करके अग्नि की भेंट चढ़ाने के बाद एक बड़ा चित्र बनाने का मन हुआ। इसी बीच पाँच छः सीनरीज़ लिख डाली थीं। परन्तु अधिक दृश्योंवाले और अधिक कलाकारों वाले चलचित्र बनाने में पैसा अधिक लगता है। चार छह कलाकार इकट्ठे करके, कम खर्च में होने वाले काम में ही मैं हाथ डालता हूँ। इसीलिए 'भूत राज्य' नाम की एक कहानी लिखी। कहानी अद्भुत प्रसंगों से भरी थी। उसे और भी अद्भुत बनाने को दृश्य निर्माण के लिए मेरे पास पैसा न था। पौराणिक कहानी का चलचित्र बनाने में यही दिक्कत आती है। 'विचित्र कूट' और 'भूत' उपन्यासों के समान ही 'भूत राज्य' की कहानी है। वह एक साधारण स्तर की प्रणय कथा है। अधिकांश दृश्य उसमें प्रकृति के ही हैं। पुत्तूर के आसपास कुछ सुन्दर स्थान हैं। सस्ते में मिलनेवाला प्राकृतिक सौंदर्य छोड़ने को मन न हुआ। उस कथा में पुरुष पात्रों की भाँति नृत्य के लिए स्त्री कलाकारों की आवश्यकता थी। स्त्री कलाकार का मिलना तब एक कठिन कार्य था। केवल एक चित्र के निर्माण के लिए बाज़ारू माल लाने से भला कला की सेवा हो सकती थी? इसके अतिरिक्त बम्बई के स्टुडियो में मैंने देखा था कि वहाँ कैसी-कैसी नर्तकियाँ थीं। इस सिनेकला की तृप्ति के लिए अपने परिचितों को उस विचित्र वातावरण में ढकेलने की मेरी इच्छा न थी।

निष्फल उद्योग

इस सिने-कथा का निर्देशक मैं स्वयं ही था, अभिनेता भी मैं ही था। साथ ही कैमरामैन भी मैं ही था। स्वयं अभिनेता होने के कारण जब मैं अभिनय के लिए खड़ा होता तो मेरे आटोमेटिक कैमरा का बटन दबाने के लिए मैंने एक मित्र को चुना। वह सब साथ लेकर मैंने एक मास के लिए 'पंज' गाँव में डेरा डाला। वहाँ के पहाड़ों और जंगलों में, कथा में काम आनेवाले दृश्यों की

तस्वीरें उतारी। उतारे हुए इन चित्रों को मैं धुलायी के लिए बम्बई भेजता रहा। वहाँ से मुझे तार द्वारा उत्तर मिलता रहता। उसके पश्चात एक मास के लिए पुत्तूर में ही एक स्टुडियो बना कर भातरी दृश्यों की शूटिंग निपटाकर बम्बई गया। वहाँ उन्हें भी प्रिण्ट कराया। फिर आडिट करने के काम मे दो महीन लग गये। इस प्रकार लगभग आठ हजार फीट लम्बा एक चलचित्र तैयार हुआ। फोटोग्राफी का काम अच्छा हुआ था। प्राकृतिक दृश्य भी बहुत अच्छे बन पडे थे पर कहानी कमजोर लगी। लेकिन अब और अधिक पसा खच करने की स्थिति नही थी। दूसरा चलचित्र भी तैयार करने की हिम्मत नही थी। इतने सबके लिए साढे तीन हजार रुपये खर्च हो चुके थे। यह सारा खच कज लेकर ही किया था और थोडा बहुत घर वालो से भी खसोटा था।

चित्र की एक प्रति के लिए कलकत्ता से ग्राहक आये। उसी बीच बम्बई की इम्पीरियल कम्पनीवालो ने 'आलमआरा' नाम का सवाक चित्र प्रदर्शित किया तो चलचित्रो की मार्किट मे हलचल शुरू हो गयी। अब मूक चलचित्रो के खरीद दार ही न रह। एसी हालत म मुझे निराश होकर गाँव लौट आना पडा। मगलूर मे ही मैंने अपना चित्र प्रदर्शित किया। लोग बडे उत्सकता से आय लकिन लोगो को पसन्द आनेवाले देवी देवता उस फिल्म म नही थे और मारधाड भी कम थी। इसी कारण से बाहर के नगरो मे भी यह फिल्म नहीं चली। मरा एक मित्र इस फिल्म को लेकर एक नतक दल के साथ सारा दक्षिण भारत घूम आया। एक वष बाद मेरा वह चलचित्र मेरे पास लौट आया। उन्ह मेरी दी हुई पेशगी और आमदनी दोना उन्ही क पास रही आयी।

चित्रोद्यम

बाद म मैंने वह फिल्म दिल्ली के एक फिल्म वितरक को दी। एक वष तक उसने मुझे कोई हिसाब नही दिया इसलिए मैं दिल्ली गया। हिसाब की बात तो अलग उसने वह चलचित्र भी कही गिरवी रख रखा था। गिरवी का पसा अपने हाथ से देकर अपना चित्र छुडा कर मैं घर लौटा। तब तक दो वष बीत गये। देश मे बोलते चलचित्र शुरू हो चुके थ। चलचित्र का क्षेत्र ज्यादा खर्चीला हो उठा। तब स मैंने चलचित्र की आशा छोड दी। अब भी चित्र बनाने की लालसा गयी नहीं। पर लगता है जब तक अपना स्टुडियो न हो और पर्याप्त परीक्षण न हो उस काम म, चाहे वह कला की दृष्टि से हो अथवा व्यापार की दृष्टि म, कदम रखना बेवकूफी है। बाद में एक दिन दो-तीन मित्र दस-बीस हजार रुपये इकट्ठे करके उसे बरबाद करने मरे पास आये। 'कम-से कम एक लाख रुपये हो तो यह काम करने की हिम्मत की जा सकती है।' यह कर मैंन उन्हें लौटा दिया। लगा कि कमानेवालों को कम-स-कम व्यापार की दृष्टि से तो इस उद्योग में आना

ही चाहिए।

मुझे चलचित्र की कला पर बड़ा अभिमान है। उसकी शक्ति अपार है। उसका रास्ता स्वतन्त्र है। उनके द्वारा पाश्चात्यों ने जो काम किया उसको देखकर मुझे भी इच्छा हुई। पर जब भी मैं देशी चित्र देखता हूं, सिर दर्द हुए बिना नहीं रहता। हमारे यहां लोगों ने सिनेमा की मोहकता तो पहचान लिया, व्यापार के गुणों से लाभ भी उठाया है। अब अभिनेता निर्देशक को नचाने की तरीका सीख चुका है और निर्देशक भी अभिनेता को झांसा देने का ढंग जान गया है। वे दोनों पैसा लगानेवाले को, और पैसा लगानेवाला इन दोनों को गड्ढे में ढकेलने का ढंग सीख चुके हैं। साथ ही पैसे की शक्ति समीक्षा का मुंह बन्द किए है। विज्ञापनों के लिए मुंह बाए खड़े पत्रकार भला निर्भीक समीक्षा कर सकते हैं? परन्तु वाल्ट डिज्ने जैसे महान व्यक्ति की पुडोवूकिन, कोर्डा, पालरोवा आदि की कृतियां देखने और पढ़ने के बाद लगता है कि हमारे देश में यह उद्योग बहुत पिछड़ा हुआ है।

विद्याभिरुचि

कहावत है—ऐसा कोई पौधा नहीं जिसे बकरी ने चरा न हो अथवा 'जैक आफ आल ट्रेड्स'। उसी प्रकार मेरी इच्छाएं और अभिरुचियां बहुत-सी हैं। मेरे बहुत से मित्रों का कहना है कि मैंने कोई भी काम पूरी तरह नहीं किया। यह सच भी होगा। एक चीज से ही चिपके रहने का स्वभाव मेरा नहीं रहा। अगर ऐसे ही चिपका रहता तो मुझे अपने भीतर की शक्तियों का परिचय भी न मिल पाता। एक छोटी-सी घटना सुनाता हूं। जब मैं घर के बड़ों के साथ काशी गया तब वहीं एक श्राद्ध का प्रबन्ध हुआ। हम लोग आगत वैदिकों के लिए तरह तरह का भोजन बनाकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। चार आदमियों के लिए आठ के बराबर खाना पकाया गया था। पर आनेवाले भोजनकला दक्ष थे। उनमें प्रत्येक एक एक विद्या का विशेषज्ञ था। एक केवल मिठाई खाने में लगा रहा, दूसरा खीर मांगे जा रहा था तीसरा एक और चीज मांग जा रहा था। जो पकवान बने थे उनमें कुछ तो कम पड़ गये और कुछ खूब बच गये।

चित्रकारी

अब चलचित्र से आगे चित्रकला की बात कहता हूं। मैं चित्र बनाता हूं यह सुनकर शायद पाठकों को आश्चर्य हो पर क्या किया जाय। मेरे भाग्य में तो चित्र, शिल्प वास्तुशिल्प सब कुछ लिखा हुआ है। बचपन में कागज़ पर रंग बिरंगे चित्र बनाया करता था। वरदाचार्य के सुप्रीव सख्ये नाटक को चित्रों के द्वारा दिखाया। पाठशाला छोड़ने के बाद पिताजी की आज्ञानुसार उनके स्कूल के नाटकों के पर्दों पर चित्र बना कर दिया करता था। आज भी अपनी पुस्तकों का

सौन्दर्य बिगाड़ने के लिए मैं अपने बनाये चित्र और फोटो को छपवाता रहता हूँ। कम से कम यह तृप्ति तो रहती है कि दूसरे को देने का पैसा बच गया। 'बाल प्रपंच' के लिए बहुत कुछ चित्र तो मुझे ही बनाने पड़े थे। कई बार 'कुमार धारा' जैसी नदियों के तट पर बैठ कर प्रकृति के चित्र बनाये हैं। वाटर कलर और पोस्टर कलर का मैंने खूब बेड़ा गर्क किया है फिर भी इस क्षेत्र में मैं अभी शिशु ही हूँ। मनोनुकूल चित्र बनाने की शक्ति का विकास नहीं ही हो पाया। उसके लिए आवश्यक ज्ञान, या स्वतन्त्र शैली मुझे प्राप्त नहीं हुई। मैंने उतनी साधना भी नहीं की।

मेरे पसन्द न करने पर

एक समय देसी चित्रकारों में फज़ी, रहमान, चुगताई, शरद और रणदा उकील आदि लोगों की रेखाओं का कौशल मुझे बहुत पसन्द आता था। उनके मूल चित्र भी मैंने देखे हैं। उसी पागलपन के कारण शान्तिनिकेतन जाकर नन्दलाल बसु से मिला था। उन्होंने तब बहुत से चित्र दिखाये थे। उनके एक चित्र की अब भी याद है। चित्र का विषय कुरुक्षेत्र था। कुरुक्षेत्र के मैदान में, एक हाथ भर जगह में खड़े संजय और धृतराष्ट्र के केवल पाँव ही दिखायी देते थे, पर उनमें ही कुरुकुल के विनाश की दारुण वेदना उन्होंने उसमें व्यक्त कर दी थी। शान्ति निकेतन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बनाये कई चित्र भी देखे। उन्हें देखकर कुछ लोगों ने पूछा भी था कि उनका कोई अर्थ भी है। मैं भी कह सकता हूँ कि मेरे पल्ले भी कुछ नहीं पड़ा। यदि मेरे पल्ले न पड़ें तो क्या इससे उनके चित्रों का कोई अर्थ नहीं होगा? इस प्रकार की समीक्षा ठीक नहीं। राफेल रुबिन्स, रेंब्रान्ट आदि पाश्चात्य चित्रकारों के चित्रों की फोटो देखी हैं। लन्दन म्यूजियम से चीनी और जापानी अनेक चित्रकारों के चित्रों की प्रतिलिपियाँ मँगाकर अभ्यास किया है। उनमें कितनी समानता है? कलाकार अपनी पसन्द की कोई भी शैली अपना सकता है। यदि हम उनकी शैली या उद्देश्य को पसन्द नहीं करते तो कला अर्थशून्य नहीं हो जाती।

एक और पागलपन की बात कहना चाहता हूँ। वह है—'कला' कहने से क्या वह सब को समान रूप से ही आनी चाहिए? क्या सब को एक ही तरह का आहार पसन्द आ सकता है? भला कौन सी चीज सब को पसन्द आएगी? कला समझने का उचित संस्कार की आवश्यकता होती है। कला समझने के लिए भी एक विशेष शिक्षण चाहिए, विशेष योग्यता चाहिए।

अवनीन्द्रजी

शान्ति निकेतन जाते हुए मैं कलकत्ता गया। वहाँ के डॉ॰ अवनीन्द्रनाथ

[illegible] को देखकर आनन्दित हुआ करता था। भारत न जाकर वतन पर
[illegible] के लोगों न उन्हें भारतीय नहीं माना। उन्होंने यूरोप की महिलाओं के
[illegible] नहीं बना रखा था। अपना सारा समय व चित्र बनान म ही
[illegible]। फिर भी उस आय स घर नहीं चल पाता था। सन् 1938 म
[illegible] स्वर्ण-चित्र बनाया। उन्हें गरीबों के चित्र बनाने बहुत पसन्द थे।
[illegible] के चेहरे का रूप देखने योग्य होता था। मैं उन्हें देखते देखते घण्टा
[illegible] करता था। उनके चित्रों की एक प्रदर्शनी सन् 1950 के बाद बम्बई
[illegible] की थी। उस प्रदर्शनी के उद्घाटन के दस दिन पूर्व ही व परम
[illegible] थीं। सावायजी पहले से ही फेफड़ा की बीमारी स ग्रस्त थे।
[illegible] के बाद उसकी याद म तड़प-तड़प कर उनकी ही राह पर चले
[illegible] की हिड्डि और गरीबी से घिरी माग्दा मर लिए कभी न भूल
[illegible] एक [illegible] बनकर रह गयी।

ठाकुर से मिलना चाहता था। उनके घर पर गगनेन्द्र ठाकुर भी थे। अवनी बाबू तब खूब बूढ़े हो गये थे। हमारे देश में भारतीय चित्रकला को पुनर्जीवन उन्हीं से प्राप्त हुआ था। नन्दलाल बसु, वेंकटप्पा और असित कुमार हालदार आदि को उन्होंने ही सिखाया था। उनके घर में अजन्ता के चित्रों की कुछ प्रतियाँ देखीं। अवनीन्द्र बाबू और गगनेन्द्र बाबू के बनाये कुछ चित्र देखे। गगनेन्द्र बाबू अपनी ही एक स्वतन्त्र शैली में चित्र बना रहे थे। लगता था उनमें क्यूबिज्म था। मुझे उनसे मिलने की बहुत इच्छा हुई। मैंने पूछा, "क्या वे घर में हैं?" तब पास बैठे एक लड़के ने कहा, "हैं। पर वे बात नहीं कर सकते।" पता चला कि वात रोग के कारण उनकी वाक शक्ति जाती रही थी। उनको देखने से मेरा मन दुखी होगा सोच कर मैं यूं ही चला आया।

चित्रकार की दुनियाँ

एक बार जब मैं बम्बई गया तब वहाँ के टाउन हाल में एक चीनी चित्रकार *'जान पू कू' के चित्रों की प्रदर्शनी लगी थी। उसकी शैली में वैविध्य था।* वह चीनी शैली थी। उसके चुने मुख्य विषयों ने मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। एक घायल शेर का चित्र था। क्रूर पशु होने पर भी रोग से तड़प रहा था। इसका चित्रण चित्रकार ने बड़ी अनुकम्पा से किया था। कुछ और भी पशु और पक्षियों के चित्र थे। अण्डे में फँसी एक मक्खी का चित्र भी था। मक्खी का अण्डे में फँसकर पंख फड़फड़ाना पानी में डूबते आदमी की छटपटाहट से भी अधिक दुखद होता है यह दिखाया था। साहित्यकार की भाँति ही चित्रकार की दुनिया भी बहुत विशाल है। उसे अपने सारे अनुभवों को केवल देवताओं के चित्र बनाने में या सुन्दर रूपों की आराधना में ही नहीं गवाँ देने चाहिए।

कलाविद्

मेरे मन में धीरे धीरे चित्रकला के प्रति जो प्रेम बढ़ रहा था उसने आरम्भ में मुझे भारतीय चित्रकला की ओर ही आकर्षित किया। राजा रविवर्मा के और कलेण्डरों के चित्रों की अभ्यस्त मेरी आँखों को दूसरा दृष्टिकोण समझने में जरा समय लगा। बसंत पत्रिका में लेख भरना अनिवार्य होने के कारण मैंने इस विषय में भी प्रवेश मेरा शुरू कर दिया। उन दिनों में विकासोन्मुख बंगाली चित्रकला ने मुझे पर्याप्त आकर्षित किया। आगे चलकर मेरा मन पाश्चात्य चित्रकला जानने को उत्सुक हुआ। अंग्रेजी में चित्रकला के बारे में बहुत-सी पुस्तकें हैं। यूरोप के चित्रकारों और उनके चित्रों के बारे में अनेक सुन्दर पुस्तकें प्राप्त होती हैं। 'बाल प्रपंच' लिखते समय उन्हें एक एक करके मंगाकर पढ़ने लगा। राफेल माइकल एंजेलो द विंसी रेम्ब्रा आदि चित्रकारों की ओर मेरा ध्यान गया। उसके

आगे यूरोप में हुई चित्रकला की क्रांति के बारे में जानने का प्रयास किया गया। सजान, फानगफ, लोट्रे आदि अनेक चित्रकारों के चित्र देखे। उनकी प्रशंसा करना भी सीखा। हुकुशी, हिरोशिगे जैसे जापानी चित्रकारों की शैली पाश्चात्य चित्रकारों की शैली से भिन्न होने पर भी मुझे सोचना पड़ा। यदि मैं यह कहूँ कि मेरी इसी इच्छा के कारण मैं यूरोप की हर एक चित्रशाला देखने को उद्यत हुआ तो कोई गलती न होगी। लन्दन, ब्रुसेल्स, अमस्टरडम, पेरिस, फ्लोरेंस, वेनिस, रोम आदि नगरों की प्रसिद्ध आर्ट गैलरीज देखने गया। इससे मुझे बहुत लाभ हुआ।

चित्रकला के मायने केवल वस्तुओं का बाह्य रूप तथा रंगों की कलाबाजी नहीं है अपितु चित्रकार द्वारा स्वतन्त्र रूप से सृजन की गयी नवीन सृष्टि है—यह बात मेरे मन में भली प्रकार बैठ गयी।

चित्रकार

हम लोग अपने देश की प्राचीन चित्रकला की परिपाटी को भूल गये हैं। अतः रूपानुकरण करनेवाले रवि वर्मा के चित्र ही हमें महान लगें तो इसमें आश्चर्य क्या है? जब तक यह गलत धारणा हमारे दिलों पर से नहीं हटती तब तक हममें अच्छी चित्रकला पसन्द करने की योग्यता नहीं आ पाएगी। रंग रेखा की सृष्टि करनेवाला यह माध्यम अपना एक अलग वैशिष्ट्य रखता है अतः एक चित्रकार की तरह का दूसरा चित्रकार नहीं होता। अपने यौवन के आरम्भ में मैं वेंकटप्पा जैसे चित्रकार के पास जाया करता था और उनसे बहुत प्रभावित भी हुआ था। पाश्चात्य चित्रकला देखने के बाद यह अनुभव हुआ कि वहाँ एक-से-एक बढ़कर कलाकार हैं। वहाँ के चित्रों में मेरा मन बरबस चित्रकार और उनकी चित्रकारिता की ओर आकर्षित हुआ।

माग्दा नाचमन

इस शती के चौथे दशक में मेरे मित्र एम० आचार्य बम्बई में आकर रहने लगे। यूरोप में उन्होंने बहुत गरीबी से जीवन काटा था। वहाँ वे अपने राजनीतिक चिन्तन पर लिखा करते थे। बम्बई में भी वे वैसा ही जीवन चलाते लगे थे। उनके आने के दो वर्ष बाद उनकी पत्नी माग्दा नाचमन अपने गरीब पति के पीछे-पीछे भारत आकर साथ रहने लगी थीं। आचार्य ने अपनी पत्नी के बनाये चित्र दिखाये। उन्हें जीव-जन्तुओं के चित्र बनाने का बड़ा शौक था। बम्बई आने के बाद भी किसी की सहायता न लेकर उन्होंने अपना चित्रकारी का यह शौक जारी रखा। तब वे करीब पचास वर्ष की होंगी। उनकी देह स्थूल था और पति से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। उनका गरीब घर मेरे लिए एक ठिकाना बन गया। मैं साल भर में चार-पाँच बार बम्बई जाया करता था और

ठाकुर से मिलना चाहता था। उनके घर पर गगनेन्द्र ठाकुर भी थे। अवनी बाबू तब खूब बूढ़े हो गये थे। हमारे देश में भारतीय चित्रकला को पुनर्जीवन उन्हीं से प्राप्त हुआ था। नन्दलाल बसु, वेंकटप्पा और असित कुमार हालदार आदि को उन्होंने ही सिखाया था। उनके घर में अजन्ता के चित्रों की कुछ प्रतियाँ देखीं। अवनीन्द्र बाबू और गगनेन्द्र बाबू के बनाये कुछ चित्र देखे। गगनेन्द्र बाबू अपनी ही एक स्वतन्त्र शैली में चित्र बना रहे थे। लगता था उनमें क्यूबिज्म था। मुझे उनसे मिलने की बहुत इच्छा हुई। मैंने पूछा, "क्या वे घर में हैं?" तब पास बैठे एक लड़के ने कहा, "हैं। पर वे बात नहीं कर सकते।" पता चला कि वात रोग के कारण उनकी वाक् शक्ति जाती रही थी। उनको देखने से मेरा मन दुःखी होगा सोच कर मैं यूँ ही चला आया।

चित्रकार की दुनियाँ

एक बार जब मैं बम्बई गया तब वहाँ के टाउन हाल में एक चीनी चित्रकार 'जान पू कू' के चित्रों की प्रदर्शनी लगी थी। उसकी शैली में वैविध्य था। वह चीनी शैली थी। उसके चुने मुख्य विषयों ने मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। एक घायल शेर का चित्र था, क्रूर पशु होने पर भी रोग से तड़प रहा था। इसका चित्रण चित्रकार ने बड़ी अनुकम्पा से किया था। कुछ और भी पशु और पक्षियों के चित्र थे। मकड़ी में फँसी एक मक्खी का चित्र भी था। मक्खी का मकड़ी में फँसकर पंख फड़फड़ाना पानी में डूबते आदमी की छटपटाहट से भी अधिक दुःखद होता है यह दिखाया था। साहित्यकार की भाँति ही चित्रकार की दुनिया भी अनन्त विशाल है। उसे अपने सारे अनुभवों को केवल देवताओं के चित्र बनाने में या सुन्दर रूपों की आराधना में ही नहीं गवाँ देने चाहिए।

कलाविद्

मेरे मन में धीरे धीरे चित्रकला के प्रति जो प्रेम बढ़ रहा था उसने आरम्भ में मुझे भारतीय चित्रकला की ओर ही आकर्षित किया। राजा रविवर्मा के और कलेण्डरों के चित्रों की अभ्यस्त मेरी आँखों को दूसरा दृष्टिकोण समझने में ज़रा समय लगा। बसंत पत्रिका में लेख भरना अनिवार्य होने के कारण मैंने इस विषय में भी प्रवेश देना शुरू कर दिया। उन दिनों में विकासोन्मुख बंगाली चित्रकला ने मुझे पर्याप्त आकर्षित किया। आगे चलकर मेरा मन पाश्चात्य चित्रकला जानने को उत्सुक हुआ। अंग्रेजी में चित्रकला के बारे में बहुत-सी पुस्तकें हैं। यूरोप के चित्रकारों और उनके चित्रों के बारे में अनेक सुन्दर पुस्तकें प्राप्त होती हैं। 'बाल प्रपंच' लिखते समय उन्हें एक एक करके मँगाकर पढ़ने लगा। राफेल, माइकल एंजेलो, द विंसी, रेम्ब्रा आदि चित्रकारों की ओर मेरा ध्यान गया। उसके

आगे यूरोप मे हुई चित्रकला की क्राति के बारे मे जानने का प्रयास किया गया। सजान, फ्रानगफ, लोट्रे आदि अनेक चित्रकारो के चित्र देखे। उनकी प्रशसा करना भी सीखा। हकुशी, हिरोशिगे जसे जापानी चित्रकारो की शैली पाश्चात्य चित्रकारो की शली से भिन्न होने पर भी मुझे सोचना पडा। यदि मैं यह कहूँ कि मेरी इसी इच्छा के कारण मैं यूरोप की हर एक चित्रशाला देखने को उद्यत हुआ तो कोई गलती न होगी। लन्दन, ब्रुसेल्स, अमस्टडम परिस, फ्लोरेस, वेनिस, रोम आदि नगरो की प्रसिद्ध आर्ट गैलरीज देखने गया। इससे मुझे बहुत लाभ हुआ।

चित्रकला के मायने केवल वस्तुओं का बाह्य रूप तथा रगो की कलाबाजी नही है *अपितु चित्रकार द्वारा स्वतन्त्र रूप से सजन की गयी नवीन सष्टि है*— यह बात मेरे मन मे भली प्रकार बैठ गयी।

चित्रकार

हम लोग अपने देश की प्राचीन चित्रकला की परिपाटी को भूल गये है। अत रूपानुकरण करनेवाले रवि वर्मा के चित्र ही हम महान लगे तो इसमे आश्चय क्या है? जब तक यह गलत धारणा हमारे दिलो पर से नही हटती तब तक हममे अच्छी चित्रकला पसन्द करने की योग्यता नही आ पाएगी। रग रेखा की सष्टि करनेवाला यह माध्यम अपना एक अलग वशिष्ट्य रखता है अत एक चित्रकार की तरह का दूसरा चित्रकार नही होता। अपने यौवन के आरम्भ म मैं वेंकटप्पा जसे चित्रकार के पास जाया करता था और उनसे बहुत प्रभावित भी हुआ था। पाश्चात्य चित्रकला देखने के बाद यह अनुभव हुआ कि वहाँ एक-स-एक बढकर कलाकार हैं। वहाँ के चित्रो स मेरा मन बरबस चित्रकार और उनकी चित्रकारिता की ओर आकर्षित हुआ।

मागदा नाचूमन

इस शती के चौथे दशक म मेरे मित्र एम आचाय बम्बई म आकर रहन लग। यूरोप म उन्होंने बहुत गरीबी से जीवन काटा था। वहाँ वे सदा अपने राजनीतिक चिन्तन पर लिखा करते थे। बम्बई म भी वे वसा ही जीवन चलान लग थे। उनके आने के दो वष बाद उनकी पत्नी मागदा नाचूमन अपने गरीब पति के पीछे पीछे भारत आकर साथ रहने लगी थी। आचाय ने अपनी पत्नी के बनाये चित्र दिखाये। उन्हें जीव-जन्तुओं के चित्र बनान का बडा शौक था। बम्बई आने के बाद भी किसी की सहायता न लेकर उन्होंने अपना चित्रकारी का यह शौक जारी रखा। तब वे करीब पचास वष की होगी। उनकी देह स्थूल था और पति स उन्हें अत्यधिक प्रेम था। उनका गरीब घर मेरे लिए एक ठिकाना बन गया। मैं साल भर मे चार-पाँच बार बम्बई जाया करता था और

उनके चित्रों को देखकर आनन्दित हुआ करता था। भारत में आकर बसने पर भी यहाँ के लोगों ने उन्हें भारतीय नहीं माना। उन्होंने यूरोप की महिलाओं के साथ अधिक सम्पर्क नहीं बना रखा था। अपना सारा समय वे चित्र बनाने में ही लगाती रहीं। फिर भी उस आय से घर नहीं चल पाता था। सन 1938 में उन्होंने मेरा भाव चित्र बनाया। उन्हें गरीबों के चित्र बनाने बहुत पसन्द थे। उनके चित्रों में आँखों का रूप देखने योग्य होता था। मैं उन्हें देखते देखते घण्टों बिता दिया करता था। उनके चित्रों की एक प्रदर्शनी सन 1950 के बाद बम्बई में आयोजित की गयी थी। उस प्रदर्शनी के उद्घाटन के दस दिन पूर्व ही वे परम धाम पहुँच गयी थीं। आचार्यजी पहले से ही फेफड़ों की बीमारी में ग्रस्त थे। पत्नी के गुज़र जाने के बाद उसकी याद में तड़प-तड़प कर उसकी ही राह पर चले गये। कलाकार की सिद्धि और गरीबी से घिरी मागदा मेरे लिए कभी न भूल पाने वाली एक याद बनकर रह गयी।

हेब्बार

मागदा जब बम्बई में थीं तब मलबार हिल के बहुत पास हमारी तरफ के ही श्रीकृष्ण हेब्बार रहा करते थे। उनसे परिचय के बाद, जब भी मैं बम्बई जाता उनसे अवश्य मिलता। आजकल वे पद्मश्री सम्मान पा चुके हैं और एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त चित्रकार हैं। इस दीर्घकालीन परिचय और उनके सरल स्वभाव से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। जब तब उनके चित्र बनाते समय मैं उस चित्र को देखता उस पर टीका टिप्पणी करता। हँसता, चर्चा तो करता ही था, पर उस माध्यम को समझने में उनसे बहुत सहायता भी प्राप्त की। उन्होंने, पता नहीं, उस माध्यम से कितने प्रयोग किये! नित्य नये-नये तरीके अपनाकर चलनेवाले हेब्बार साहब का रंग और रेखाओं की इतनी सिद्धि हो चुकी है कि देख कर आश्चर्य होता है। उन्हीं जैसे कुछ कलाकार आधुनिक भारतीय चित्रकला में क्रान्ति पैदा कर रहे हैं। इस क्रान्ति से यह डर भी लगता है कि आधुनिक चित्र कला पता नहीं किस ओर जाएगी। इसका विचित्र परिणाम हम यूरोप और अमरिका की दशा में देख सकते हैं। 'अमूर्त चित्रकला' कई बार हम आश्चर्य में डाल देती है। कई बार में तो 'तकनीक' ही कला बन जाती है। मैं इतनी दूर जा नहीं सकता। कोई भी माध्यम क्यों न हो, कोई भी शैली क्यों न हो, भले ही कोई शास्त्र क्यों न हो, वह चित्रकार के अन्तरंग को, विचारों और मन की गहराई को दिखाने में समर्थ होना चाहिए। उसके मनोभावों में गहरायी नहीं होनी चाहिए? भाव क्या केवल रंग से ही चिपके रहने की चीज़ है अथवा जीवन से निकलने वाली चीज़ है? चित्रकार का चित्र यदि दर्शक के मनोभाव नहीं जगाता, और संवेदन उत्पन्न नहीं करता तो वह सार्थक नहीं कहा जा सकता। यह

बात तभी संभव है जब वह चित्र जीवन से संबंधित हो।

कला की सृष्टि से मन पर पड़ने वाला प्रभाव जितनी लम्बी अवधि तक रहता उतनी ही वह कला महान् कहलाती है। उत्तम साहित्य का दर्शन का भी मेरा यही मापदण्ड है। किसी कलाविद के महान् ज्ञान से यह काम नहीं हो जाता। उसके साथ सहृदय भी होना चाहिए। उस सहृदय को इस विषय में आकर्षण हो सकता है पर उससे अनुकम्पा या संवेदना पैदा नहीं होती। उसके लिए माध्यम के प्रति संस्कार भी चाहिए। कइयों को यह कहते सुना है 'भला इस चित्र में क्या रखा?' इनमें ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि उन्हें चित्र की भाषा' आती है, पर यह पता नहीं कि कितने लोगों में वह संस्कार है।

नाचता मन और थिरकती देह

नृत्य की ओर

मैंने 'मुक्तद्वार' नाटक मंचन के लिए लिखा था। इसकी कथा में युगांतरों में याज्ञवल्क्य, बुद्ध, कृष्ण, ईसा आदि के उपदेश धीरे धीरे कैसे बदले और भुला दिये गये यह दिखाने का प्रयास किया था। उसमें काल एक पात्र है। वह 'काल-पुरुष' चन्द्र, अग्नि, साधारण व्यक्ति, पक्षी, सर्प आदि के अलग अलग रूप धारण करता है। इन सब को मुझे नृत्य द्वारा ही प्रस्तुत करना था। वह नृत्य भी मुझे ही, जिसे नृत्य की विशेष जानकारी न थी, सिखाना पड़ा। अपने एक मित्र की पुत्री को नृत्य करने के लिए बुलाया और उसके लिए उपयुक्त पद्धति चुन कर उसे सिखाने लगा। मेरे उन विचारों के लिए नृत्य ही उपयुक्त था। मैंने प्रकृति में यह देखा था कि ताल, गति, रेखा किस प्रकार बढ़ती जाती है। यह बात वहीं से मेरे मन में उठी थी। नृत्य में वही प्रमुख है। इसलिए ताल की थाप पर सहज कदम रखते हुए हाथ से मुख मुद्राओं से काल के एक एक भाव का सृजन करने लगा। इन सब का मूल मन की भावना ही थी, कोई शास्त्र ज्ञान नहीं। इसलिए मेरी शिष्या भाव पकड़ नहीं पायी। वह पद संचालन जानती थी लेकिन वह भाव निभा नहीं पायी। मैंने स्वयं वह भाव आरम्भ कर दिया। सात-आठ दिन के अभ्यास से अपने भावों को शरीर की भंगिमा से, अंग संचालन से प्रदर्शित करने लगा। यह 1932 की बात है। तब से मुझे नृत्य भी प्रिय हो गया। मैं भाव में जितना अधिक तल्लीन होता गया उतनी ही सफलता मुझे नृत्य के सृजन में मिलती चली गयी। मैंने 'मुक्तद्वार' नाटक का प्रदर्शन बेंगलूर, मंगलूर और पुत्तूर में किया। स्वर्गीय श्रीकंठय्या के आग्रह पर रायचूर में भी उसका प्रदर्शन किया। तब ऐसा लगा कि आम लोगों ने भी उसे बहुत पसन्द किया। इसका कारण शायद यह रहा होगा कि उनका नृत्य का ज्ञान मुझ से भी कम रहा होगा। 'अंधों में काना राजा' यह कहावत ही सही लगी।

तरंग

पुत्तूर में दशहरे के अवसर पर मित्रों को साथ लेकर नृत्य-क्षेत्र में भी प्रयोग

करने लगा। पाँव मेरे थे, अंग विन्यास मेरा था, मुख मुद्राएँ भी मेरी थी, इसलिए यह कहना चाहिए वह नृत्य शास्त्र भी मेरा ही हुआ। अपनी समझ के अनुसार मैं उसे विकसित करता गया। 'मेघ मयूर' नाम से एक नृत्य की योजना बनायी। दो मोरनियाँ एक मोर की उपेक्षा करती हैं। यह भाव प्रधान विषय था। इस सरल नृत्य को विविध तरंगो और विन्यासो से प्रदर्शित करने मे आसानी हुई। तरंग के विषय मे मेरे और दूसरो के विचार एक ही होंगे, ऐसा मैं नही सोचता था। बस, मेरे पागलपन को वही पसन्द था।

शीलभंग

एक बार और, बंगलूर के एक मित्र के स्नेह ने ही मेरे भीतर की विचार लहरों को छेड़ा। मेरे मित्र श्री तिप्पय्या, जब भी मैं बंगलूर जाता तब, अलसूर के सरोवर मे मुझे नौका विहार को ले जाते थे। एक बार जब मैं वहाँ गया तो मुझ पर स्नेह के कारण उन्होंने वहाँ लगे सुनहरे कमल तोड़कर दिये। मुझे फूल बहुत प्यारे लगते है। पर उस तोड़नेवाले या तोड़कर बालो मे लगानेवाले अच्छे नही लगते। पौधे पर लगे फूल का जो सौन्दर्य है वह बालो म लगने पर नही दीखता। तिप्पय्या के दिये स्वर्ण-कमल घर लाते लाते मुरझा गए थे। वसे फूलो का जीवन एक ही दिन का होता है। वह भी पौधे पर ही दीखता है। मुरझाये फूल देखकर मुझे बड़ी व्यथा हुई। जनसाधारण मे फूलो के प्रति दीखनेवाली रुचि को फूलो का शीलभंग ही कहना चाहिए। मैंने इसी विचार को 'शीलभंग' नाम से नृत्य-नाटिका में व्यक्त किया है। फूल के स्थान पर एक कन्या रूपी फूल को देखकर प्रशंसा करनेवाले व्यक्तियों की कवि और सूर्य से तुलना करके, शीलभंग करनेवाले को पुजारी के रूप मे आरोपित करके उसके लिए उपयुक्त गीत लिखकर एक बैले तैयार किया।

और एक बार रात दिन का सौन्दर्य, विश्रान्ति, गम्भीरता, थकान, उल्लास को, निद्रा देवी और सूर्य की सरल क्रीडा में एक दृश्य मे निरूपित किया। उस नृत्य को केवल गीत की पृष्ठ भूमि दी। उस "शीलभंग' के समान साहित्यिक पृष्ठ-भूमि नहीं दी। इसी प्रकार बार-बार कई प्रयोग करके अनेक नृत्यो का सृजन करना सभव हो पाया।

मनोगति ही शरीर की गति

इस प्रकार काम करते समय एक और बात मेरे ध्यान म आयी। चाहे नृत्य हो या साहित्य का निर्माण, उसम तल्लीन हो जाना मेरा स्वभाव है। यह तल्लीनता जितनी बढ़ती जाती, नृत्य के भाव उतने ही अपने आप विकसित होते जाते हैं। मैंने यह भी देखा कि नृत्य मे भाव-सप्रेषण के लिए एक और सहज

सुविधा रहती है। उसकी गति जैसे जैसे तीव्र होती जाती है वैसे ही तन्मयता बढ़ती जाती है। उसका कारण है नृत्य व्यापार का मानसिक होने के साथ-साथ शारीरिक भी होना। शरीर-संचालन बढ़ने के साथ रक्त का वेग भी बढ़ जाता है। खून जैसे-जैसे दिमाग में अधिक पहुँचता है वैसे-वैसे मन में भावोद्रेक होता है। तन्मयता और भी बढ़ जाती है। मूल में उत्पन्न कल्पनाएँ ताल और गति से और भी तीक्ष्ण हो उठती हैं। हमारे गाँव में होलेय (अस्पृश्य जाति के) लोगों के नृत्य—भूतनृत्य से परिचित होने से मुझे इस बात की सचाई का अनुभव हुआ कि ऐसी सुविधा उन कलाओं में नहीं जिनमें शारीरिक संचालन कम होता है।

अलीबाबा

अपने इस प्रयोग-काल में नृत्य नाटिकाओं पर प्रयोग करने का साहस भी मुझे हुआ। इसमें मैंने दो पद्धतियाँ अपनायीं। यहाँ उनके बारे में बताता हूँ। एक के लिए मैंने हिंदुस्तानी संगीत की भूमिका अपनायी। मुझे लगा कि कल्पना-लोक में जहाँ काम करना होता है नृत्य केवल यथार्थ चित्रण के काम में नहीं आता। इसलिए मैंने अद्भुत और रम्य कहानियाँ चुननी आरम्भ कीं। अरेबियन नाईट्स कहानियों में से 'अलीबाबा चालीस चोर' की कहानी चुनी। उस कथा के सभी पात्रों को नृत्य द्वारा ही सारी कहानी प्रदर्शित करनी थी। कहानी भी उसके अनुकूल थी। करतबों की विशिष्टता भी दिखायी जा सकती थी। इसके अलावा चालीस चोरों का दल और उनके घोड़े थे पर नृत्य में तो एक ही घोड़ा और एक ही सवार रखा था। इसमें गति होने के कारण मुझे प्रयोग को पुष्ट करने में बहुत सहायता मिली। चोरों का गुफा का दरवाजा खोलना, तेल के ढोलों में छिपकर बैठना, मोची का काम, मरजीना का नृत्य चोरों की हत्या—यह सब क्रिया के ही अंश हैं। इसलिए थोड़े से प्रयत्न से ही मैंने इस बैले का सृजन किया। वेषभूषा उसी के अनुकूल रखी। दो घण्टे तक इस सुन्दर कहानी को बिना बोले नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करना संभव हुआ।

हसन परवीन

और एक बार बेसेंट स्कूल की दसक लड़कियों से 'हसन परवीन' कहानी को नृत्य के द्वारा ही प्रदर्शित कराया। फिर से एक बार पुत्तूर में 'अलादीन और जादू का चिराग' कहानी नृत्य-नाटिका में दिखायी। जब चिराग के जिन्न द्वारा राजमहल को उठाकर दूसरी जगह रखने का प्रसंग आया, मैं स्वयं उसकी कल्पना में लग गया। पर अनजाने में ही विचित्र गति से उस माया का नृत्य द्वारा प्रदर्शित करना संभव हो गया। इस सारी कल्पना के लिए एक-दो नहीं दस पन्द्रह नर्तकों की आवश्यकता थी। स्कूल के बच्चों को लेकर दो-तीन महीने तक अभ्यास करा-

कर एक नाटक दिखाना संभव हो सका। ये भाव कुछ ऐसे विशिष्ट नहीं थे। उनके लिए ज्ञान की और काव्य-कल्पना की आवश्यकता न थी। वे जनसाधारण की कल्पना और अनुभव की पहुँच के विषय थे।

हाव-भाव

मैंने कथक पद्धति के नृत्य देखे थे। बचपन में भरत-नाट्यम भी देखा था। यक्षगान के नृत्य से तो परिचित था ही। यदि नृत्य पर्याप्त तरंगबद्ध हो तो गति-विन्यास, ध्वनि विन्यास, अंग विन्यास सभी प्रेरक बन जाते हैं। प्रकृति में नित्य ही हम पक्षियों के उड़ने में, बादलों के तैरने में, नदियों के बहने में यह देख सकते हैं। उनकी गतियाँ हम पर अपने आप प्रभाव उत्पन्न करती हैं। भावों के साथ-साथ सामान्य संकेतों को विकसित करना सरल है परन्तु भाषा का सारा काम नृत्य नहीं कर सकता। एक शब्द साहित्य में जो काम करता है यदि उसी को हमें हाव-भाव द्वारा दिखाना हो तो एक कला का दूसरी कला की विशिष्टता के अनुकरण के समान होगा। कथकली, ओट्टन् तुल्लल, भरतनाट्यम् शब्दों की एक भाषा को ही सामने रखकर हाव-भाव द्वारा व्यक्त करके अनुवाद करने के समान है। 'अनुवाद एक कला है' कहने पर भी उसमें स्वतन्त्रता नहीं है। विचारों को, वस्तुओं का, वस्तुक्रिया के गुणों को, स्वभाव को प्रेरित करने का काम भाषा का होता है। क्या नृत्य उसे सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर सकता है? संस्कृत काव्यों में आनेवाली उपमाओं, अलंकारों को नृत्य के हाव भाव द्वारा व्यक्त करने पर यह एक बहुत दुर्बल भाषा होगी। कुछ आदिवासियों में हाव भाव की ही भाषा है। क्या उसे हम नृत्य की संज्ञा दे सकते हैं? उसे समझने के लिए हर हाव भाव को जानना होगा। उसमें उतनी ही कठिनाई होती है जितनी कि एक भाषा जाननेवाले को दूसरी भाषा समझने में। भरतनाट्यम् में अभिनय के अंग के रूप में, वार्तालाप के साथ-साथ नाट्य की आवश्यकता रहती है। नाट्य अलग है, नृत्य अलग है। नृत्य ताल और गति में बद्ध रहता है जबकि नाट्य अभिनय के क्षेत्र से सम्बन्धित है। भरतमुनि ने प्रत्येक बात के लिए एक संकेत निश्चित किया और उन्हें 'मुद्रा' नाम दिया। एक ही मुद्रा का कथक में अलग अर्थ और भरतनाट्यम में कुछ और। कथकली में उसका कुछ और ही अर्थ है। एक शब्द के चार भाषाओं में अलग-अलग अर्थ निकलते हैं। मार्ग पद्धति के अनेक नियमों में बँधकर हाव भाव की 'भाषा' मुख्य रूप में रखकर नृत्यांग की उपेक्षा करते हैं। वे पद-संचालन करते हैं, यह सच है। वे तालबद्ध भी होते हैं यह भी सही है। पृष्ठभूमि में वाद्य वृन्द भी रहता है। उनके वाद्यों के अनुसार नर्तक नाचता है। उसकी पदगति और और गीत में भाव की एकता नहीं आ पाती। उनके द्वारा मृदंग की आवाज पर यह तरकिट, तद्गिन के अनुसार भले ही दुख रहे या सन्तोष अथवा रोष,

नतक नृत्य करके दिखाता जाता है।

केवल ताल, गति क चमत्कार की ओर वादको का ध्यान जाता है उसी प्रकार नतका का मन भी अनिवाम रूप मे उसी ओर जाने का विवश हो जाता हैं। ातक का मुख्य काय भाव सृजन करना है पर उसके लिए यह पृष्ठ समीन अड धन पदा करता है। वह एक प्रकार की यान्त्रिक गति सी लगती है। सभी नतक स्वय सजन कर पानवाले नतक नही होत। इसक अलावा वत मे आठ-स व्यक्ति एक साथ नृत्य करते हैं। तव उन्हें एक निर्देशक की कल्पना व अनुसार नृत्य करना होता है। तब सगीत केवल पृष्ठ भूमि भर बनकर रह जाता है। नतक का निर्देशक का उद्देश्य समयभर आगे बढना होता है। हम प्राय जसाकि दिखाई पडता है, नतक को मदगवाल की निरकुश प्रवत्ति का शिकार नहीं होना चाहिए।

स्थित मुद्रा, सचारी भाव

चाहे कोई भी कला क्यो न हो वह कलाकार के मनाभावा के बिम्बो को प्रकट करनवाली होनी चाहिए। वह किसी का अनुवाद नहीं होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सारी नाट्य पद्धतियाँ अथशून्य हैं। उनम अथ बोधक भाव है। उनम हमारी सस्कृति के लोगा के द्वारा प्रयुक्त होन वाले सकेत हैं। जसे हाथ जोडने से नमस्कार की सूचना मिलती है अथवा हाथो के आकार से कली का सकेत मिलता है। सस्कृति स हो या आकार अथवा क्रिया स व्यक्त होनेवाले अथ से ज्यादा भावो का यदि हम मुद्रा मे व्यक्त करें तो वह भाषा के पण्डितों के अतिरिक्त दूसरा को समझ में नहीं आयेगा। हाँ, भावों को चित्रित करने के लिए भरतमुनि ने अभिनय के अगो का, मुख मुद्राओं का खूब प्रयाग किया है। हास्य, दुख, रोष आदि की अभिव्यक्ति के समय नृत्य का अतिरेक स्थिर करके दिखाना होता है। इससे लाभ भी है और हानि भी। नत्य की एक भगिमा म खडे होकर अतिरेक की मुद्रा दिखात समय प्रेक्षक पर भाव का परिणाम होता है। नतक के अगसचालन म उस समझना कठिन होता है। इसस वह सरल हो जाता है। परन्तु यहाँ नतक के ही स्वतन्त्र रूप से भावोद्दीप्त होने पर मुख-मुद्राएँ उसके अनुकूल होनी चाहिए अर्थात उसका क्रोध, दुख, आनन्द जुगुप्सा आदि प्रसग के अनुसार व्यक्ति के सस्कार के अनुकूल मुख पर व्यक्त होन चाहिए। तब वह मुद्रा स्थित होन की अपेक्षा मन के वेग के समान हो स्फूर्ति से दिखानी होगी। इस दृष्टि से नाटय म अभिनेता के द्वारा दिखाया गया मुख भाव और भी सहज हो जाता है।

एक और मुख्य विषय है। भाग नत्य म शरीर के निचले भाग में रेखा-तरगें (Rhythm in body lines) कम प्रदर्शित हो पाती हैं। ऊपर के धड के अगो

को जो स्वतन्त्रता है वह परम्परागत पदगति से मेल नहीं खाती। नृत्य के लिए सदा शरीर की चलन रेखाएँ मुख्य हैं। आरम्भ के दिनों में मैं सरल ताला की नाप अर्थात एक दो तीन, एक-दो-तीन चार, एक दो—इन नियमों का अनुसरण करता था। तब एक विचित्र प्रकार की अड़चन स्वतन्त्रता का अभाव-सा शरीर में महसूस होने लगता था। जब मैं दूसरे प्रकार के प्रयोग करने लगा तब कहीं मैं इस अड़चन से मुक्ति पा सका।

यक्षगान और किन्नर नृत्य

यक्षगान के गीतों को विकसित कराकर उन्हीं कहानियों पर नृत्य करने का निश्चय करके आगे बढ़ा। अब तक चुन गये गीत गाए जाते थे। इसी के लिए उनका निर्माण हुआ करता था। गीत और वाद्य दो यक्षगान की मुख्य शैली हैं। इन दोनों का प्रयोग नृत्य के लिए होना है। उनकी नादगति (Sound rhythm) नृत्य के लिए अत्यन्त अनुकूल होती है। उनमें सभी रसों को अभिव्यक्त करने की शक्ति होती है। रौद्र और लालित्य के लिए आवश्यक सभी गुण उनमें होते हैं। इसलिए उन गीतों पर नाचते हुए भाव प्रदर्शन सरल होता है। इतना ही नहीं, मेरे पद सञ्चालन में पहले जो अड़चन मैंने अनुभव की थी वह यहाँ नहीं रही। हाथों और देह को जो स्वतन्त्रता मिली वह पाँवों को भी देने लगा। इसीलिए समस्त शरीर की रेखा-तरंगों में एक प्रकार से सन्तुलन दीखने लगा।

यहाँ अभ्यास करते-करते कुछ नए तोड़े (पद सञ्चालन) की कल्पना करना सम्भव हुआ। रंगमंच पर पद-सञ्चालन से व्यक्त होने वाले प्रत्येक रस व भाव प्रदर्शन में सुविधा दिखायी दी। लगा कि भाव के अनुकूल पद-सञ्चालन की रीति भार और लघुता, दूरी और सामीप्य सभी काम में आने लगे। एक और काम भी करने लगा—पूरा तलवा रख कर नाचते हुए उसकी रेखाओं में शरीर और पाँव की रेखाओं के साथ कई बार सन्तुलन दिखायी पड़ा। तब एड़ी न लगाकर पंजों पर नाचने का अभ्यास किया। लघुत्व और मार्दव के प्रदर्शन के लिए ही वह रीति अनुकूल लगी। रौद्र भाव उत्पन्न करने के लिए एड़ी लगाकर नाचने की परिपाटी सहायक हुई। इस प्रकार मैंने यक्षगान के 'कीचक वध', 'दुष्ट कीचक', 'पंचवटी' आदि सात-आठ नए नाटकों का प्रदर्शन किया। गीत भी यक्षगान के ही थे पर नृत्य तो मेरे अपने ही ढंग का था। उसे मैंने अलग से किन्नर-नृत्य नाम दिया। उस नृत्य के प्रति हमारे गाँव के लोगों ने बड़ी अभिरुचि दिखायी।

पकड़ में आने वाला भाव

यह नृत्य साधारण लड़के-लड़कियों द्वारा प्रदर्शित कराना था। जो बात

उनकी समझ से बाहर होगी और मैं उसे नाच कर दिखाता तो वे यान्त्रिक रूप से मेरे नृत्य का अनुकरण करने लगते उनसे अपना निजी 'भाव प्रदर्शन' असाध्य हो जाता। नृत्य निर्देशक भी एक सृष्टिकार होता है। उसके नियन्त्रण में रहते हुए भी प्रत्येक नर्तक का व्यक्तिगत रूप से भी सर्जक होना चाहिए। उसे भी उससे आत्मसन्ताप मिलना चाहिए। यदि हम छोटे बच्चों से कृष्ण, राधा, शिव ताडव आदि नृत्य करा कर उनकी कल्पना से परे की चीज की आशा करें तो वह कृति कभी कला का रूप धारण नहीं कर सकती। ऐसे काम मैंने करा कर भी देखे हैं और उनकी समझ की भूमिका भी देखकर देखा है। मोर, हिरन, खरगोश आदि सरल विषयों में बच्चे जितना उत्साह दिखाते हैं उतना दूसरे विषयों में नहीं।

बच्चों के लिए भी मैंने कुछ नृत्यों का सृजन किया। पतंग फूलों का हँसना, जुगनुओं का खेल—ऐसे सरल गति के नृत्यों को बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से दिखाया जा सकता है। नाटक के अभिनय में यही बात है। अपरिचित जीवन को अभिनेता कैसे दिखा सकता है? बिना अनुभव के भाव और कल्पना को केवल सच मे वह कैसे समझ पायेगा? छोटे बच्चों से नृत्य में रास क्रीडा, शिव ताण्डव करायें तो वह नृत्य न होकर केवल नकल होगी। शृंगार के जीवन में पदार्पण करने के बाद ही उनमें यह बात आ सकती है। प्रलय की कल्पना मन में आने के लिए विशेष प्रकार की विनाशकारी घटनाओं का वास्तविक जीवन में परिचय होना चाहिए। अबाध प्रवाह, तूफान, दावाग्नि, इनसे किसी न किसी भूमिका से गुजरनेवाला ही थोड़ा बहुत असली ताण्डव दिखा सकता है। केवल चिदम्बरम की नटराज मूर्ति की अथवा एलिफण्टा के नटराज की मूर्ति की नकल करने से ताण्डव हो जाएगा क्या?

अपने प्रयोग में किन्नर नृत्य के अलावा दूसरे नृत्यों के बारे में कह ही चुका हूँ। उन दोनों में कई प्रकार के प्रयोग किये हैं पर नृत्य कला तो पार्श्व संगीत और नर्तकों के द्वारा पूरी होने की चीज है। कोई किसी कोने में बैठकर सब सुविधाएं चाहे तो कैसे हो सकता है? पागलपन चढ़ने पर चार छोटे बच्चे इकट्ठे कर के अपनी कला की इच्छा-पूर्ति मान कर लेना होगा।

कलाविद

मैंने कुछ पाश्चात्य कलाकारों के जीवन और कार्य को समझने का प्रयास किया। अमेरिका की नर्तकी इसाडोरा डंकन ने नृत्य में बहुत नाम कमाया था। यह पढ़ा था कि प्राचीन ग्रीक शिल्पों को देख कर उसके मन में कैसे इच्छा जाग्रत हुई थी और उसकी क्रिया शक्ति कैसे स्वच्छन्द होकर काम करने लगी थी। एक बार उसका कार्यक्रम मास्को में था। उस दिन का कार्यक्रम पहले ही छप चुका था। जब वह मास्को पहुँची तब आधी रात बीत चुकी थी। रास्ते में उसने किसी

करने के सिलसिले में शव ढोये जाते देखे। सारे दिन वह भयंकर चित्र उसके दिमाग में चक्कर काटता रहा। उसने अपना नृत्य का कार्यक्रम शुरू करने से पहले, घोषित विषय को बदल कर चोपिन का 'मृत्यु यात्रा' गीत बजाने को कहा और बड़ी स्फूर्ति से मृत्यु यात्रा का नृत्य किया। महान सृजन कलाकारों का ढंग कितना विचित्र है!

अन्ना पावलोवा एक और ख्यातिप्राप्त नर्तकी थी। अभ्यास और अभ्यास ही उसके जीवन का ध्येय बन गया था। उसके नृत्यों में हंसगीत (Swan Song) भी एक नृत्य था। कालांतर में वह जब मरने लगी तो 'हंसगीत' नृत्य के परिधान मंगवाकर गले से लगाकर मरी। इस प्रकार कलाकार के जीवन में भाव और कला एक हो जाय तो महान कला की सृष्टि होती है। मैंने पुत्तूर में रह कर अपने गाँव के लोगों के सामने ऐसे बहुत से पागलपन के काम किये हैं। मेरे कई मित्र पुत्तूर आते और मेरी कला देख कर बड़े प्रभावित होते थे। एक बार मैं गाँव गाँव घूमा हूँ। परम्परागत नृत्य-केन्द्र कल्लीकोट में मैंने अपना 'पतंग नृत्य' बच्चों से प्रदर्शित कराया। उसमें कथकली की मुद्राएं न होने पर भी वहाँ की जनता को वह बहुत पसन्द आया।

प्रवास

इसके बाद मैंने रात्रिदिवा नदी, चित्रांगना, इन्द्रकीलक आदि नृत्यों की रचना करके यक्षगान नृत्य का एक दल लेकर सन् 1937 में बंगलूर से बम्बई तक का दौरा किया। बंगलूर कलाप्रेमों का नगर है, समीक्षाओं का मायका है। वहाँ बहुत से परिचित जन भी थे। मेरे वहाँ केवल दो प्रदर्शनों की आमदनी पचहत्तर रुपये हुई। जो भी हो, लोगों ने मेरी कला को पसन्द तो किया। दर्शकों ने दुबारा दिखाने का आग्रह किया। 'दण्ड भरने को पैसा नहीं' कहकर मैं वहाँ से भाग निकला। धारवाड़ और हुब्बल्लि के प्रदर्शनों में थोड़ा लाभ हुआ। बेलगाम गया तो वह मेरे लिए बंजर ही साबित हुआ। बम्बई में भी दो प्रदर्शन किये। पता नहीं लोगों को कैसे दया आ गयी! उन्होंने दो हजार का दण्ड भर दिया। तो भी बेलगाम और बंगलूर के घाटे के कारण तीन सौ रुपये अपने हाथ से भरने पड़े।

नृत्य में पत्नी भी

मैंने आपको बताया नहीं कि इस बीच मेरा विवाह हो गया था। पति नाचे और पत्नी न नाचे तो कैसे चलेगा? शायद नृत्य सिखाने सिखाने ही एक दिन लीला नाम की लड़की ने मुझसे विवाह कर लिया। नृत्य से मन ही कुछ मिला हो या न मिला हो पर भार्या तो मिल गयी। मेरी दो शिष्याओं को भी नाच पति

मिले थे। विवाह के बाद पति पत्नी को नचाता है या पत्नी पति को यह तो अनुभव करने की बात है। मेरे बम्बई में नृत्य प्रदर्शन के समय कुछ यूरोप के कलाप्रेमी जन नृत्यगृह में आकर नृत्य देखने लगे। उनमें एक यूरोपियन टूर-कण्डक्टर भी था। 'रात्रिदिवा' में मेरी पत्नी रात्रि की भूमिका कर रही थी। नृत्य समाप्त होने पर कण्डक्टर भीतर आया और बोला, "इनका नृत्य बहुत बढ़िया है।" मुझे इस पर गर्व का अनुभव हुआ। मैंने कहा, "यह मेरी पत्नी है।" वह कुछ बोला नहीं। काश! वह कह बैठता, 'हाउ डज इट मैटर?" (How does it matter) तो मेरा क्या हाल होता? अपनी पत्नी को मैंने यह बात नहीं बतायी।

दिव्य, भव्य, नव्य

बम्बई के दौरे में मेरी नृत्य-मण्डली को पर्याप्त सम्मान मिला। वहां के 'आर्ट सर्कल' वाला (दिवंगत कन्हैयालाल वकील मण्डली) ने हमारे प्रदर्शन और मेरे भाषण का प्रबन्ध किया था। जमुनादास मेहता उसके अध्यक्ष थे। मैंने अंग्रेजी में एक जबर्दस्त भाषण दिया। उस सभा में बम्बई के उच्च वर्ग के कुछ स्त्री पुरुष आये थे। कुछ लोग रंगमंच के अभिनेताओं की तरह सजधज कर आये थे। उनके सामने हमने अपने नृत्य और यक्षगान का प्रदर्शन किया। बहुत प्रशंसा हुई। उन लोगों की प्रशंसा और साधारण लोगों की प्रशंसा में केवल शब्दों का ही अन्तर होता है। भावनाएं खोखली ही होती हैं। मैंने बंगलूर में एकबार नृत्य का प्रदर्शन किया तो मेरे एक संस्कृत के ज्ञाता बुजुर्ग मित्र मेर मेकअप धोने से पूर्व ही आये और हाथ मिलाते हुए अपने हाथों में रंग लगाकर बोले, 'आपका नृत्य तो दिव्य था भव्य था नव्य था।" संस्कृत न जाननेवाले मुझको यह सब कम पता चलता परन्तु चार ही दिन बाद जब मैं धारवाड़ के एक मित्र से मिलने गया तो पता चला कि किसी ने मेरे नृत्य को देखकर कहा था "या तो इस भारत में अक्ल नहीं है या फिर हम लोगों की अक्ल मारी गयी है।" इसलिए लोगों की प्रशंसा से कलाविद को अपना दिमाग़ खराब नहीं करना चाहिए।

गोपीनाथ

जब मैं कल्लीकोट गया था तब वयस्सी के प्रसिद्ध कलाकार गोपीनाथ से भेंट हुई। उन्होंने हमारे लिए कुछ नृत्य भी प्रस्तुत किये। अंग संचालन में वयस्सी की कठोरता होने पर भी उनका नृत्य बड़ा प्रभावक था। यहीं एक और इस व्यक्ति से परिचय हुआ। नाम था वेस्टर कैंप। वह बम्बई में 'इन्द्रदेव' के नाम से प्रसिद्ध थे। वहीं उन्होंने कुछ दिन तक एक नृत्यशाला भी चलायी थी। उन्होंने हमारी नर्तक मण्डली को नाश्ते पर बुलाया था। तब तक उन्होंने कत्थक नृत्य सीख लिया था। उन्होंने कत्थक नृत्य में पद संचालन का चमत्कार अच्छी

तरह सिखाया। पश्चात हमारे यक्षगान के नर्तकों ने भी उनके समक्ष अपना नृत्य प्रस्तुत किया।

रागिनी

बहुत पहले रागिनी देवी ने मैसूर में कुछ नृत्य प्रदर्शित किये थे। तब उन्हें देखने का अवसर मुझे भी मिला था। उनके 'राधा कृष्ण' आदि नृत्य सामान्य थे, लेकिन पाश्चात्य ढंग का 'स्प्रिंग' नृत्य बहुत उत्तम कोटि का था। उसमें वसन्त काल की हँसी, उमंग आदि भावनाओं की सुन्दर ढंग से अभिव्यक्ति हुई थी।

उदयशंकर

एक बार उदयशंकर का नृत्य देखने मद्रास गया था। वहाँ उनके नृत्य प्रदर्शन देखे। वे पाश्चात्य देशों में घूम आये थे। उन्होंने अन्ना पावलोवा के साथ भी नृत्य किया था। इस प्रकार रंग निर्देशन और उस कला के अध्ययन में उन्हें निपुणता हासिल हो चुकी थी। रंगभूमि में पग कौशल और गीतों का सही चुनाव होने से उनका नृत्य बड़ा सुन्दर होता था। पर उनकी रौद्र भूमिका भी लालित्य भी ही दीखती थी। सच तो यह है कि देह रौद्र के उपयुक्त ही नहीं थी। रौद्र की भूमिका में वह ललित ही दीख पड़ते थे। उनके संघ में एक नम्बूदरीपाद नाम का नर्तक था जो कत्थक शैली के नृत्य बहुत अच्छी तरह किया करता था। दस कार्मियों के बेड़े में भी वह एकदम अलग दिखाई दे जाता था। उनकी मण्डली में अति उत्तम ढंग से नृत्य करनेवाली एक नर्तकी थी, फ्रेंच महिला मैडम सिमकी। उसका सारा बचपन नृत्य में बीता था। वह मंच पर क्षण भर भी जड़-सी खड़ी नहीं रह सकती थी। जब उसकी कोई भूमिका नहीं होती थी तब भी उसके अंगों में थिरकन होती रहती थी। वैसे कई बार उदयशंकर को ही बिना हिले स्थिर खड़े देखकर मुझे आश्चर्य होता था। दृश्य पूरा होने तक यदि नर्तक यों खड़ा हो जाय तो उसके अंग विन्यास का रंगमंच पर नृत्य करनेवाले दूसरे लोगों के अंग विन्यासों से मिलना कैसे संभव है?

लोकनृत्य

हमारे गाँव में भी लोकनृत्य की एक परम्परा है अर्थात लोकनर्तन है। स्वयं को ऊँची जाति का कहनेवाले यद्यपि उनका अनादर करते हैं। लेकिन इन होलेय लोगों का नाच, कोली का नाच, भूत का नाच, नाग नृत्य, रानी लोगों का डांडिया नाच, मलयुडि लोगों का नृत्य, कोरग के लोगों का नृत्य—इस प्रकार के कई तरह के नृत्य कर्नाटक में प्रचलित हैं। वे एकदम सरल होते हैं। ज्यादातर वे स्थानीय ही होते हैं, पर ऐसे नृत्य जन-जीवन का सन्ताप और उत्साह मानो

भाँति व्यक्त करते हैं। एकबार बेंगलूर में मैंने लम्बाणी जाति (बनजारे) का नृत्य देखा। स्त्रियाँ वर्तालाकार में खड़ी होकर तरह-तरह से पद संचालन करती आधे घण्टे तक नाचती रहीं।

जीवन का सुख-दुःख व्यक्त करने में नृत्य एक सहायक शक्ति है इसी दृष्टि से मैंने अपने प्रान्त की यक्षगान की कला को अपनाया और उसके प्रचार प्रसार में रुचि ली।

नृत्य-सम्पदा

हमारे प्रदेश के विभिन्न भागों, जन वर्गों में लोकनृत्य प्रचलित हैं। उनके अतिरिक्त केरल की कथकलि के समान आन्ध्र के कुचिपुडि नृत्य परम्परा के साथ विकसित कुछ और भी नृत्य हैं। प्रत्येक की अलग 'मार्ग' पद्धतियाँ भी हैं। परन्तु उनकी समस्त पृष्ठ भूमि सहित उनका अध्ययन करनेवाले विद्वान बहुत कम हैं। हाँ, साम्यहीन पार्वती परमेश्वर का पुराण लेकर चलनेवाले पण्डितों की कमी नहीं। इस दृष्टि से तो पाश्चात्यों ने अपनी संस्कृति से सम्बन्धित जितना अभ्यास किया है उतना दूसरों ने नहीं किया। ज्यादा क्या कहें, हम अपनी ही चीजें नहीं जानते।

सन् 1937 के आस-पास, संसार के नृत्यों पर काम करनेवाले विद्वान राल्फ ड मारी हमारे गाँव आये थे। वे यक्षगान के बारे में जानना चाहते थे। उनके लिए मंगलूर में यक्षगान के कलाकारों को एकत्रित करके उन्हें चित्र संग्रह करने में मैंने सहयोग भी दिया था। उन दिनों वे स्याम देश का दौरा करके लौटे थे। वे एक अन्तर्राष्ट्रीय नृत्य संस्थान के लिए काम कर रहे थे। उसके कोई पच्चीस वर्ष बाद उनका एक पत्र आया। वे अपने एक और प्रतिनिधि के साथ यक्षगान की वेषभूषा एकत्रित करने आ रहे थे। उस पत्र-व्यवहार का स्टाकहोम के इंटर नेशनल डान्स आर्काइव्ज के निर्देशक, बन्ट हेगर ने आगे बढ़ाया। मैंने अपने मित्र की प्रेरणा से अपनी पुस्तक 'यक्षगान बयलाट' की एक प्रति उस संस्था को भेज दी थी। उसके छह मास बाद उनका पत्र आया। उनके साथ राल्फ-द मारी भी आनेवाले थे पर आ नहीं सके। बन्ट हेगर एकदम सीधे हमारे पुत्तूर आ पहुँचे। तब मेरी पत्नी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। पर आये विदेशी की ज्ञान-पिपासा देखकर मैं चुप नहीं बैठ सकता था। उनके लिए यक्षगान नृत्य दिखाने प्रवास पर निकल पड़ा। इससे उनका अपेक्षित काम बहुत कुछ पूरा हो गया। यह जानकर आश्चर्य हुआ कि श्री राल्फ-द मारी ने अपनी सारी सम्पत्ति लगाकर यह सम्पदा खड़ी की थी।

इसी प्रसंग के साथ-ही-साथ श्री बन्ट हेगर ने और आश्चर्य की बात कही तो मेरे मुँह से निकल पड़ा 'भला मैंने क्या किया है!' उन्होंने बताया कि वे

अपनी संस्था की ओर से मेरे गाँव आकर मेरा सम्मान करना चाहते हैं। वे संस्था का गौरव प्रतीक एक कांस्य पत्र मुझे अर्पित करना चाहते थे। उसके लिए उन्ह पुत्तूर म एक छोटी-सी सभा आयोजित करनी पडी। उनके इस सम्मान को मैंने अपने देश की कला के प्रति सम्मान माना। विश्व के विविध नृत्यों के प्रति उस संस्था का कौतूहल और सम्मान वास्तव मे एक बहुत बडी बात थी।

और एक अवकाश

1958 के लगभग यक्षगान पर मेरी एक और पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें उस कला के बारे में सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से, इतिहास की दृष्टि से मैंने जितना अध्ययन किया था सब प्रस्तुत किया है। उसके प्रकाशित होते-होते दिल्ली संगीत नाटक अकादमी ने नृत्य पर एक सेमिनार आयोजित किया। उन्होंने यक्षगान के लिए मुझे प्रतिनिधि के रूप में आमन्त्रित किया। उस सेमिनार में अन्य नृत्यों के जानकार, विद्वान् और नर्तक भी प्रतिनिधि के रूप में आये थे। मैं एक भागवतर, एक वादक और एक नर्तक साथ ले गया। नृत्य तो देखकर समझने का विषय है न? केवल मेरे भाषण से लोग यक्षगान की कल्पना नहीं कर पाते।

वहाँ एकत्रित लोगों के सामने हमने यक्षगान के वेष और नृत्य का प्रदर्शन किया। वहाँ मैंने कुचिपुडि, ओडीसी नौटंकी नृत्य भी देखे जिनका मुझे अब तक परिचय नहीं था। तब तक 'मार्ग नृत्य' यानी कत्थक भरत-नाट्यम मणिपुरी और कथकलि तक ही सीमित थे। इस सेमिनार की कृपा से हमारे यक्षगान का कुचिपुडि और ओडीसी को भी सम्मान मिला। भारतीय कलाविदों का पहले से ही सम्मान किया जाता रहा है।

सन् 1964 में यक्षगान को भी मान्यता प्राप्त हुई। हारादि राम गाणिग का सम्मान किया गया। मैं समझता हूँ यह सम्मान यक्षगान की पुरानी परम्परा को प्राप्त हुआ है।

हमारी विचार-गोष्ठी

जब मैं दिल्ली गया था तब संगीत नाटक अकादमीवालों ने यक्षगान के लिए एक योजना तैयार करने को कहा। मैंने यह सोचकर कि यह काम अकेले नहीं करना चाहिए, उत्तर और दक्षिण कन्नड जिले के प्रमुख कलाविदों को निमन्त्रण भेजा। दक्षिण जिले के कलाविदों को 'कारन्त का यक्षगान' एक अछूत सी चीज लगी होगी। उन्होंने उसका पूर्ण बहिष्कार किया। पर जो विद्वान् आये उनकी सलाह से उस कला के विकास के बारे में एक योजना बनाकर भेजी। मैं नहीं समझता कि उससे कोई लाभ नहीं हुआ होगा।

अनुसधान

जिन दिनो मैं यक्षगान के सौदय के सम्बध म एक पुस्तक लिखने का विचार कर रहा था उन्ही दिनों भोजपत्र पर लिखी एक पुस्तक ने उसके इतिहास के बारे में मेरा कुतूहल जगा दिया। हमारे यहाँ प्रचलित रामायण के आठ प्रसग, कण्वपुर के गोपाल कृष्ण की स्तुति वाली एक पुस्तक यहाँ के किसी पुराने कवि ने लिखी थी। कुछ लोगो का तक था कि उसका लेखक पाति सुब्बा ही है जिसका सन 1802 म निधन हो गया था। पर मुझे उससे दो सौ वष पूव के भोज पत्र मिल जाने से उस तक का खण्डन करना पडा। इससे हमारे जिले के 'सुब्बा' के अनेक भक्त नाराज हो गये। तब विवश होकर मैंने सारे मलेनाड का भ्रमण किया और पुराने भोजपत्रो का सग्रह करके यक्षगान के साहित्य का इतिहास लिखने का साहस किया। उस इतिहास मे मैंने यह सिद्ध किया कि उन रामायण के प्रसगों का लेखक पाति सुब्बा नही, अपितु कोई अनाम कवि है जिसने सन 1600 म उसकी रचना की थी।

मैंने यह काम करते समय उसके सगीत के बारे म भी अनुसधान किया। उसके विविध राग एकत्रित किये। उन्हें अपने बम्बई के मित्रो को भी भेजा। मुझे तब यह सोचकर दुख हुआ कि क्या यक्षगान भाषा सीमा के कारण केवल कन्नडवालो तक ही सीमित रहेगा?

सपना

मैंने पहले से ही यक्षगान क नत्यो के बारे म कई प्रयोग किये थे। इसलिए यह विचार उठा कि इस नाटय रूपक का, जिसका सगीत इतना शक्तिशाली है, एक ऐसा बले क्यो न तयार किया जाय जिसे भाषा न आने पर भी लोग समझ सकें। उस काम को थोडा-बहुत उपयोगी बनाने के लिए उसे आजीविका का साधन बनाकर चलानेवाले व्यवसायी भागवतर तथा नतको की आवश्यकता महसूस हुई। गरीब ग्रामीणो से कला-सेवा के लिए मुफ्त म काम कराना गलत लगा। उन्हें वर्षा के दिनो म अवकाश रहता है इसलिए उन दिनो व यह काम कर सकते हैं। एकबार मैंने अपने मन की यह बात बम्बई क मित्रों के सामने रखी तो उन्होंने कहा, आपको जो भी सहायता चाहिए हम करेंगे। आप अपना काम आगे बढायें। अब मैंने सोचा कि जब पैसे की जिम्मेदारी लेने मित्र आगे आ रहे हैं तो मुझे अब पीछे नही हटना चाहिए।

तयारी

कुशल विश्वास और गौरव रखनेवाले भागवतरों, वादको और नतको का

उडुपि मे दो मास का समागम रहा। व अपने विषय म दक्ष लोग थे। तब मैं यह ध्यान न रखकर कि साठ पार कर चुका हूँ, मेरा यह शरीर मेरा साथ देगा या नहा, इस काम म कूद पडा। दिन म चार घण्टे नाचकर नृत्य म उत्साह रखने वाल युवको को सिखाने लगा। बिना जवान का प्रयोग किय, नृत्य स ही पूरा कथानक प्रदर्शित करने का तरीका निकाला। कई नतको को बीच बीच म क्रमानुसार रगमच पर आने और जाने का ढग सिखाया। भागवतर की सहायता स यक्षगान म आनेवाले रागा को बढाने का प्रयास किया। मैंने यह भी प्रयास किया कि गीत ऐसा होना चाहिए जिससे सगीत और साहित्य दानो समझ म आयें। पाश्व सगीत का सौन्दय बढ़ाने को बला, क्लैरिनट, सक्सोफोन आदि वाद्य भी जोडे। दो मास के प्रयास स 'भीष्म विजय' और 'अभिमन्यु वध' नाम के दो नाटक तयार किये। परम्परा स छूट स्त्री दप के अलकारा और कुछ अय दोषा को ठीक करके प्रदशन की तयारी की।

प्रवास

बम्बई, धारवाड, बगलूर, मगलूर आदि नगरो म उन नाटको के प्रदशन का कायक्रम बनाया। हमारे इस प्रयत्न को बम्बई के कन्नडेतर तथा यूराप क लोगा ने भी देखा और देखकर आश्चय और सन्तोष व्यक्त किया। उनके प्रोत्साहन स मैंने अगल वष भी ऐसा प्रयत्न किया। रगनिर्देश के बारे म बम्बई की प्रसिद्ध पत्रिकाओ न मुक्त कण्ठ से प्रशसा की।

इसका आर्थिक दायित्व मेरे मित्र सजीवराय, कलाकार हेब्बार और उनके अनेक बम्बई के कन्नड मित्रो ने उठाया। उन्होंने लगभग अट्ठारह हजार रुपये एकत्रित किये। उन दो वर्षों मे हमारे कलाकारा को सोलह हजार मिल।

यह काम करते हुए मैंने अनुभव किया कि य ध्यान म लुप्त हो चली वेष भूषा और आभूषणो को फिर से लाना अनिवाय और महत्त्वपूर्ण है। मुझे उसको शुरू करना भर ही था। मेरा सगीत वाला भाग पूरा करने म श्री कृष्णमाचाय और श्रीनिवास उडुप की सहायता मैं याद किये बिना नही रह सकता। श्रीकृष्ण माचाय न अपनी कलाभिरुचि तथा विद्वत्ता से मेरे यक्षगान के अनुसधान म बहुत सहायता दी। मैंने जब 'नदी-यात्रा' का प्रयोग किया था तब भी उन्होंने वादक के रूप मे सहायता की थी।

एक ही अभाव

मेरे प्रयोग आशाजनक रहे। जिस सन्तोष से मैं यह कह सकता हूँ कि अनेक विदेशियों तथा कलाकारों ने उसे सराहा उस सन्तोष स मैं यक्षगान की जन्मभूमि के लोगो के विचारो के बारे म नहीं कह सकता। मगलूर व पुत्तूर म

ढंग पर लिखने की इच्छा से ज्ञान के कई अध्याय लिखे। उन्हें पढ़कर मेरे मित्र वी० सीतारामय्या ने उसकी व्यंग्यपूर्ण भूमिका लिखी। उसका शीर्षक था 'एन एस देट किक्स ऑन आल साइड्स' (An ass that kicks on all sides)। मैंने उसी लहजे में उसका अनुवाद 'चारों ओर लात मारनेवाला गधा' किया और अपने विशेषणों में जोड़ लिया। 'सरसम्मा की समाधि' को सन् 1933 तक लिखकर प्रकाशन के लिए मनोहर ग्रंथमाला को दिया। उसका मुख्य पात्र अजस्त रूप में लैंगिक मनोधर्मवाला व्यक्ति था। उसी को विभिन्न व्यक्तियों के जीवन में दिखाकर विकसित करता चला गया। इस प्रकार मेरा वह उपन्यास एक अलग ही रास्ते पर चला है। मेरे 'गम गुड़ी' नाटक के 'कश्यप' के समान यहाँ भी नीलम्मा अपने गत जीवन की प्रेत रूप में तृप्ति पाने का प्रयास करती है। एक ढंग से यह कहानी अवास्तविक रूप से चलती है, फिर भी वास्तविक मनोधर्म का चित्र उपस्थित करती है। इस रचना पर अधिक लोगों का ध्यान नहीं गया। हमारे गाँव की एक पत्रिका ने लिखा 'ऐसे लोग जीवन में नहीं हो सकते।' यह लैंगिक जीवन का प्रश्न उठने पर आँखें मूँदकर नीति की बात कहनेवाला का रास्ता है। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि प्रत्येक को यह समझना होगा कि वह स्वयं क्या है। किसी और ने लिखा था कि इस पुस्तक से जाति-द्वेष बढ़ सकता है।

मेरी 'गम गुड़ी और 'देवदूत' रचनाओं ने मुझे काफी अपयश दिलाया। सम्प्रदायिकों को मैं एक मूर्तिभंजक सा लगा। मठ के संन्यासियों के भी कोप का भाजन बना। परन्तु अब मेरी रचनाएँ पढ़ने वाले महानुभावों ने मुझे बुलाकर मेरे प्रति सम्मान व्यक्त किया। खैर, मेरी रचनाओं का अर्थ अब तो उनकी पकड़ पड़ा।'

साहित्य की पृष्ठभूमि

धारवाड़ के मेरे मित्र श्री बिंदु माधव बुलि ने, जो कर्नाटक के साहित्यकारों के आत्मवृत्त संग्रह कर रहे थे, मुझसे भी लिखने का आग्रह किया। मुझे लगा, भला आठ दस पृष्ठों में ऐसे साहित्य का इतिहास मैं क्या लिख सकता हूँ। मणिकों के एक साधारण लेखक ने अपने लेख में प्रश्न उठाया है क्या साहित्यकार को अपनी जीवनी लिखनी चाहिए? उसके साहित्य को पढ़ने के बाद उसके बारे में जानने की क्या चीज रह जाती है? साहित्य के लिए अनुभव ही जन्मभूमि है। उसके बिना वह अलग विकसित नहीं हो सकता। अगर हुआ तो बनावटी होता है, झूठा होता है। कुतूहल पैदा करनेवाली कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। सकड़ों संभावनाओं की कल्पना की जा सकती है परन्तु उनको प्रभावशाली बनाकर आँखों के सामने खड़े करने के समान लिखना है उसे मूर्त रूप

चोम

जब मैं गाँवों में भ्रमण कर रहा था तब मैंने बहुत से अछूतों के घर देखे। उनके गाँवों से लेकर जिन काफी बगानों में वे काम करने जाते थे वहाँ भी हो आया। उसी अनुभव को लेकर पाँच दिनों में 'चोमनदुडी' (चोम) उपन्यास की रचना की। पहली बार उस रचना को प्यार करनेवाला कोई मानव नहीं था। पशु ने ही उसे पसन्द किया। मैं घर के आँगन में उसकी पाण्डुलिपि रख कर भीतर कॉफी पीने चला गया था। चारे के अभाव में एक गाय उसे मुँह में दबाकर बाहर चली गयी और आधे पन्ने चट भी कर गयी। हमारे मंगलूर के पशु वहाँ के लोगों से अधिक विद्या प्रेमी होते हैं—यह देखने के बाद 'विद्या विहीन पशुसमान' कहते समय शर्म आती है। मानव पढ़ने लिखने के बाद शायद मानव-स्तर तक पहुँचेगा। मैंने उस गाय का पीछा करके, उसके मुँह से छीन कर जो कुछ बचा था उसकी रक्षा की। उसे फिर से ठीक ठाक करके छपवाया। तब तक मैं अपनी कोई भी पुस्तक दो-तीन सौ से ज्यादा नहीं छपवाता था। मित्रों के पीठ ठोकने पर उसकी एक हजार प्रतियाँ छपवा लीं। हमारे कन्नड़वालों ने इस कृति को बहुत पसन्द किया। उसकी हजार प्रतियाँ बिकने में बारह वर्ष बीत गये। इतना होने पर भी 'आपकी पुस्तक बहुत अच्छी है' कहनेवाले आज भी बहुतेरे हैं। पता नहीं यह अच्छी पुस्तक उन्होंने पढ़ी है या नहीं!

लघु कृतियाँ

बाद में मैंने बड़े उपन्यास लिखने की ओर ध्यान नहीं दिया। 'हसिवु' (भूख) शीर्षक से दस कहानियाँ, 'हावु' (साँप) नाम से दस कहानियाँ और 'तेरेय मरे-यल्लि (परदे के पीछे) नाम से दस कहानियाँ लिखीं। उनकी कथावस्तु गरीबी, बचपन, स्त्रियों की दारुण स्थिति आदि होती थी। उस समय 'स्वदेशाभिमानी' पत्रिका के लिए छोटी मोटी लेखमालाएँ लिखा करता था जैसे—'हल्लिय हत्तु समस्तरु' (गाँव के दस प्रमुख), 'नगरद नायकरु,' 'चिक्कदोड्डवरु' (छोटे-बड़े), 'दुर्गमोति' आदि। 1932 में अथवा उससे कुछ पहले श्री मास्ति वेंकटेश अय्यंगार की सहायता के फलस्वरूप 'मुक्तद्वार' नाटक प्रकाशित हो सका। उसकी दो-सौ प्रतियाँ बिकने में पूरे चौदह वर्ष लगे। अयोध्या के राम को वनगमन से सका-यात्रा से लौटने में जितना समय लगा लगभग उतना ही समय इस पुस्तक की बिक्री होने में लगा।

गार सरसम्मा की समाधि

मैंने स्टीरन लिकॉक की एक-दो छोटी पुस्तकें इसी समय पढ़ी थीं। उसी

ढग पर लिखने की इच्छा से ज्ञान के कई अध्याय लिखे। उसे पढ़कर मेरे मित्र वी० सीतारामय्या ने उसकी व्यंग्यपूर्ण भूमिका लिखी। उसका शीर्षक था 'एन एस देट किक्स ऑन ऑल साइड्स' (An ass that kicks on all sides)। मैंने उसी लहजे में उसका अनुवाद 'चारों ओर लात मारनेवाला गधा' किया और अपने विशेषणों में जोड़ लिया। 'सरसम्मा की समाधि' को सन् 1933 तक लिखकर प्रकाशन के लिए मनोहर ग्रंथमाला को दिया। उसका मुख्य पात्र अव्यक्त रूप में लगिक मनोधर्मवाला व्यक्ति था। उसी को विभिन्न व्यक्तियों के जीवन में दिखाकर विकसित करता चला गया। इस प्रकार मेरा वह उपन्यास एक अलग ही रास्ते पर चला है। मेरे 'यम गुड़ी' नाटक के 'काश्यप' के समान यहाँ भी नीलम्मा अपने गत जीवन को प्रेत रूप में तृप्ति पाने का प्रयास करती है। एक ढंग से यह कहानी अवास्तविक रूप से चलती है फिर भी वास्तविक मनोधर्म का चित्र उपस्थित करती है। इस रचना पर अधिक लोगों का ध्यान नहीं गया। हमारे गाँव की एक पत्रिका ने लिखा 'ऐसे लोग जीवन में नहीं हो सकते।' यह लगिक जीवन का प्रश्न उठने पर आँखें मूँदकर नीति की बात कहनेवाला का रास्ता है। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि प्रत्येक को यह समझना होगा कि वह स्वयं क्या है। किसी और ने लिखा था कि इस पुस्तक से जाति-द्वेष बढ़ सकता है।

मेरी यम गुड़ी और 'देवदूत' रचनाओं ने मुझे काफी अपयश दिलाया। सम्प्रदायिकों को मैं एक मूर्तिभंजक सा लगा। मठ के संन्यासियों के भी कोप का भाजन बना। परन्तु अब मेरी रचनाएँ पढ़ने वाले महानुभावों ने मुझे बुलाकर मेरे प्रति सम्मान प्रकट किया। खैर, मेरी रचनाओं का अर्थ अब तो उनके पल्ले पड़ा।

साहित्य की पृष्ठभूमि

धारवाड़ के मेरे मित्र श्री बिन्दु माधव बुलि ने, जो कर्नाटक के साहित्यकारों के आत्मकथ्य संग्रह कर रहे थे, मुझसे भी लिखने का आग्रह किया। मुझे लगा, भला आठ-दस पृष्ठों में ऐसे साहित्य का इतिहास मैं क्या लिख सकता हूँ। मस्तिष्क में एक साधारण लेखक ने अपने लेख में प्रश्न उठाया है क्या साहित्यकार को अपनी जीवनी लिखनी चाहिए? उसके साहित्य को पढ़ने के बाद उसके बारे में जानने को क्या चीज रह जाती है? साहित्य के लिए अनुभव ही जन्मभूमि है। उसके बिना वह अलग विकसित नहीं हो सकता। अगर हुआ तो बनावटी होता है, झूठा होता है। कुतूहल पैदा करनेवाली कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। सब की संवेदना की कल्पना की जा सकती है परन्तु उनका प्रभाव नकली बनाकर माँ के सामने खड़े करने के समान लिखना है ऊपर मूल रूप

देना है—तो जीवन की पष्ठभूमि मे ऐसी कल्पनाओ का विकास करना होगा—यह मेरा दृष्टिकोण है। साहित्य और कलाओ के बारे मे मैं इस कसौटी पर खरा उतरना चाहता हूँ। मैंने बहुत से नाटक लिखे। मेरी कई पुरानी रचनाएँ खो भी गई हैं पर अब मुझे उसका दुख नही है। उसका कारण इतना ही है कि वहाँ कल्पित कुछ चित्र केवल अनुराग के कारण निरूपित हुए। आगे के अनुभव उनका मज़ाक उडाते से लगे। इस प्रकार कई उपन्यास, नाटक, कहानियाँ लिखने के बाद उनकी पष्ठभूमि का भूलकर साहित्य सृजन के बारे मे सात आठ पष्ठो का एक लेख लिखने से कोई लाभ नही—यह सोचकर मैं चुप हो गया। यहाँ उसके बारे म विस्तार से लिखना है इसलिए लगता है कि उसके लिए एक अध्याय लिखना कोई कठिन नही है।

जल्दबाजी

मुझे जो लिखना होता है उसके लिए एक बेचैनी सी हो जाती है। विलम्ब से कभी शुरू करके, विलम्ब से पूरा करने मे मुझे विश्वास नही है। मेरा वह स्वभाव भी नही है। जल्दबाजी ही मेरा गुण है। इस आदत मे दोष भी हैं गुण भी हैं। जल्दी से काम करने से उसम बारीकी नही आती है। पर तु बीनन पटकने के लिए मैं बैठा नहा रह सकता। मेरे मन म एक कहानी का नाम, उसका स्थूल चित्र आते ही मैं चुपचाप बैठकर, लिखने लग जाता हू। मन के एक तरफ बहने म कोई रुकावट हो तो उस काम म मैं हाथ नही लगाता। अगर लिखने बैठ गया तो एक दिन म एक अध्याय तो लिखा ही जाना चाहिए। बीच मे सोचकर आगे क्या लिखना है—यदि ऐसी स्थिति हो तो मैं उसे शुरू ही नहीं करता। अनुभव की पष्ठभूमि विशाल हो तो लिखते समय सिर खुजलाने की ज़रूरत नही पडती। स्पष्ट रूप से एक एक करके चित्र आँखो के सामने खडे होने लगते हैं और वही बढ़ने लगते हैं। नत्य से भी यही अनुभव मिला। बहुत बडे उपन्यास लिखते समय भी मेरा अनुभव ऐसा ही रहा है। मन म पैदा हुआ बीज मन के सामने ही विकसित होना चाहिए। विविध सन्निवेश अपने आप आकर मिलने लग जाते हैं। मूल कहानियो का चरित्र भलीभाँति संचित होने पर ही लिखना शुरू करना चाहिए। लिखते समय, उद्देश्यपूर्वक लिखते समय भी लेखनी के आगे बढते-बढते वह काम अपने आप होता जाना चाहिए। कई बार मुझे ऐसे रचना कार्य ने आश्चर्य म डाला है। सजन कार्य म लगने के बाद विश्राम कहाँ? एक अध्याय लिखने के बाद दूसरा अध्याय बहुत दिनों के बाद लिखना हो तो वह काम मुझसे नही हो पाता। मुझमे विस्मृति कुछ ज्यादा है। अधिक याददाश्त वालो का भी यही हाल होता है। मेरे लिए तो वह असभव है। प्रथम अध्याय म आये व्यक्ति का चरित्र कुछ दिनो के बाद एकदम बदल जाता है।

इस प्रकार एक अध्याय लिखने के बाद दूसरा लिखने तक—हँसते समय, खाते समय, सोते समय कहानी के विकास के संनिवेशों के चित्र आँखों के सामने नाचते रहते हैं। उन अंशों को चित्रित करने का दूसरा दिन होता है। दूसरे दिन ही उसे पूरा हो जाना चाहिए। दूसरे दिन मिलनेवाले जन और खाने में कहानी अपने ढंग से आगे बढ़ने लगती है, विकसित होने लगती है। रचना के अंत तक लेखन को अविरत जारी रहना चाहिए तब जाकर पात्रों के चरित्र और कथा के संनिवेश स्वाभाविक रूप से बढ़कर खिलते हैं। लिखते समय, अभिनय करते समय, नृत्य करते समय, अपने आपको भूलने पर ही वह सृजन कार्य अपने आप सुंदर रूप धारण कर लेता है। कई बार उपन्यास का पात्र मैं स्वयं हो जाता हूँ। हँसता हूँ, रोता हूँ, क्रोध करता हूँ। मेरी मानसिक स्थिति से परिचित लोग, काम करते समय मेरे पास नहीं आते। मेरी बेटी मालविका जब छोटी थी, तब बीच बीच में आकर तंग करती थी। कुछ समय बाद 'बापू लिख रहे हैं' कहने पर वह भी समीप नहीं आती थी। मैंने अपने उपन्यास 'चोमन दुडी' और 'मरळि मण्णिगे' को पाँच-पाँच दिनों में समाप्त किया था।

'मरळि मण्णिगे' (माटी की ओर) के तीस अध्यायों को तीस दिन में लिखा। 'मुगियद युद्ध' (समाप्त न होनेवाला युद्ध) को बीस दिनों में, 'औदार्यद उरुळल्लि' (उदारता के चक्कर में) को तेईस दिनों में पूरा किया। पाँच अंकों के नाटक को एक ही दिन में खतम किया है। पाँच दिन से ज्यादा कभी किसी नाटक लिखने में नहीं लगाये। मेरी इस जल्दबाजी से मुझे तन्मयता मिल जाती है। उससे सृजन कार्य में भी सहायता मिली है। मुझे ऐसा लगता है कि जमकर बैठकर लिखने में विचार-लहरी में जो शक्ति आती है वह रुककर बीच में छोड़कर, घूमते घामते लिखने में नहीं आती। एक बार लिख लेने के बाद मन में परदे पर वह सब मिटने लग जाता है। पाँच छह दिन तक एक खाली और शांति रहती है, और बाद में मन स्वाभाविक स्थिति में पहुँच जाता है। लिखने का काम जितना आनन्ददायक है ठीक करना और प्रतिलिपि बनाने का काम उतना ही कष्ट पैदा करता है। मैं अपनी ही लिखाई ठीक नहीं कर पाता। प्रतिलिपि करने बैठूँ तो दूसरे ही विचार आने लग जाते हैं। यह काम दूसरे करें तो अच्छा है। इसके अलावा मेरी लिखाई साफ नहीं है। कई शब्दों को तो टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं में ही कल्पना करना पड़ती है। सचमुच ही, अपनी लिखाई पढ़ने में मुझे स्वयं कष्ट होता है। मेरे पिताजी की लिखाई भी ऐसी ही थी, पर लगता है कि इसमें मैं उनसे एक कदम आगे हूँ।

प्रश्न

लिखने के लिए सही मनःस्थिति अथवा अमुक विषय पर लिखना चाहिए'

यह विचार मेरे मन में कैसे आता है यह भी एक विचित्र स्थिति होती है। मन में कभी किसी कारण दुख होने पर कटुता का अनुभव होने पर कई बार स्तब्ध रह जाता हूं। कभी कभी शांति भी मिलती है। प्रकृति के किसी दृश्य को देखते समय, कोई सुन्दर कलाकृति देखते समय, भावपूर्ण संगीत सुनने पर मन शांत होता है और जिस वस्तु से प्रेरणा मिलती है उसी में मन खो जाता है। संगीत प्रकृति सुख दुखानुभव, मन की शांत स्थिति में और कोई नवीन चित्र उस वातावरण से एकदम असम्बद्ध बात को जन्म देता है। तब केवल कहानी का नाम सूझ हो सकता है। एक नाटक की कथावस्तु आंखों के सामने नृत्य करने लग सकती है। कई बार आधी रात में उठकर उस भाव को दो शब्दों में लिखकर फिर से सो गया हूं। ऐसे बनाये गये संक्षिप्त नोटों से मेरी अधिकांश रचनाएं तैयार हुई हैं। एक नयी रचना शुरू करने के लिए उसी प्रकार की मानसिक शक्ति भी चाहिए। जब वह शक्ति मिलती है तब जो लिखना है उसकी एक स्थूल रूपरेखा तैयार करके काम शुरू किया है। उनके बिना भी एकदम सीधा लिखता चला गया हूं।

विस्मरण से लाभ

लिखकर समाप्त करने के बाद उसे भूल जाने से मुझे काफी लाभ हुआ। उससे सहायता ही मिलती है। मनुष्य अपनी सारी यादों का साथ होकर जी नहीं सकता। नहीं तो जीना असहनीय हो जायेगा नारकीय हो जायेगा। जीवन में यदि एक सुख हो तो हजार दुख होते हैं। सुख तो दुर्लभ ही होते हैं। अतः जीवन से मुकाबला करने के लिए दुख की विस्मृति आवश्यक है। मेरे जैसे लिखने के पागलपनवाले व्यक्ति का उससे और एक विशेष उपकार होता है। पुराने चित्र यदि विस्मृत हो जायें तो नये के सजन में सहायता मिलती है। नहीं तो पुराने चित्र ही फिर उभर सकते हैं।

मरनि मण्णिगे (माटी की ओर)

अंत में संक्षेप में अपनी कुछ रचनाओं की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता हूं। 'मरलि मण्णिगे' की पृष्ठभूमि उसकी भूमिका में ही संक्षेप में दी है। समुद्र तट पर स्थित कोई मकान में सैकड़ों साल से लोगों का जीवन है वह। वहां के निसर्ग का सौन्दर्य देखकर मनुष्य संतोष अनुभव कर सकता है। यह निसर्ग तब से अब तक अथवा कल तक एक समान रह सकता है। उसमें चित्रित तीन पीढ़ियों की कहानी है जो मेरा जन्म के जमाने से शुरू होती है। कालक्रम की दृष्टि से वह मेरी पीढ़ी तक पहुंचती है। पहली पीढ़ीवालों ने निसर्ग का संताप प्राप्त नहीं किया।

समुद्र के साथ, नदी के साथ संघर्ष करके, अपना पसीना बहाकर अन्न के लिए संघर्ष किया। तब घोर गरीबी थी। उस गरीबी के संकट से बचने के लिए एक ही रास्ता था—भाग्य पर भरोसा रखना। उनमें औरतों ने बड़ा दुख भोगा। यक्षगान उस जमाने में तीज-त्योहार, शादी-ब्याह, कथावाचन, यक्षगान—यही सब उनके सुख के साधन थे। विलास के लिए वेश्याओं की संगति से ज्यादा सुख की कल्पना तब नहीं थी।

दूसरी पीढ़ी तक आते अँग्रेजी शिक्षा की हवा बहने लगती है। नव समुदाय गाँव छोड़कर शहर में चला जाता है। होटल उद्योग से धन कमाकर, गाँव में पैसा भेजता है। संपत्ति बढ़ती है। धन के बल से, उनमें से तीन चार लोग गाँव में पनपने लगते हैं और एक तरफ लच्चा जैसे व्यक्ति बाज़ार में माहौल में फँसकर नये वातावरण में अपना दिमाग खराब कर लेते हैं। उनके भाग में भी नियति केवल एक जड़ वस्तु होती है। तीसरी पीढ़ी में अंग्रेज़ी शिक्षा सबमें व्याप्त हो जाती है। बेकारी का प्रश्न उठता है। देश में अशांति फैलने लगती है। तब ये सब राम जैसे लड़के को नचाने लगते हैं। अंत में निराशा से वह गाँव की ओर मुँह मोड़ता है। वहाँ भी स्त्रियों की स्थिति वैसी रहती है। मेहनत करना और सवकर यह हो जाना। राम जैसे व्यक्ति को निसर्ग ज्यादा सुख का प्रेरक होता है। यह नये संस्कार का फल है। इस प्रकार उसमें जनता के आर्थिक और मानसिक जीवन का चित्रण हुआ है। उसे पसन्द करनेवाले भी हैं। उसके बारे में सब प्रकार की आलोचना भी हुई है। आज प्रशंसा करके कल निंदा करनेवाले भी हैं।

उस पर 'देवराज बहादुर पुरस्कार' के अवसर पर मेरे मंगलूर के मित्रों ने मेरे सम्मान का प्रबन्ध किया और बड़ी प्रशंसा की। वहाँ प्रशंसा करनेवाले सात लोगों में पाँच ने पुस्तक भी नहीं पढ़ी थी। ऐसी प्रशंसा पर मेरा मन कैसे झूमता? आमतौर पर तब साहित्यिक कलाकार को मिलनेवाले सम्मान का अर्थ इतना ही होता है।

चेट्टद जीव (पहाड़ी जीव)

उसके बाद 'चेट्टद जीव' लिखा। इसमें नाटक के समान काल, स्थान और क्रिया के संतुलन की ओर ध्यान रखा। जंगल में भटकनेवाले मुझे उस प्रदेश का परिचय था। व्यक्ति भी नये नहीं थे। गाँवों में जाकर अनेक मित्रों व कृषि के आदिम कार्यों को देखकर अच्छा लगा था। उन चित्रों का वर्णन करने की इच्छा हुई। एक बार मैं कुछ मित्रों के विनय से उस जगह विश्राम करने के लिए ... के मित्र श्री मंजुनाथय्या के घर गया। उस समय कुछ लिखने का मन कर रहा था। क्या लिखा होना चाहिए यह निश्चय मन में नहीं हो पाया था। ... पढ़े

यह विचार मेरे मन में कैसे आता है यह भी एक विचित्र स्थिति होती है। मन में कभी किसी कारण दुःख होने पर, कटुता का अनुभव होने पर कई बार स्तब्ध रह जाता हूं। कभी कभी शांति भी मिलती है। प्रकृति के किसी दृश्य को देखते समय, कोई सुन्दर कलाकृति देखते समय, भावपूर्ण संगीत सुनने पर मन शांत होता है और जिस वस्तु से प्रेरणा मिलती है उसी में मन खो जाता है। संगीत प्रकृति सुख दुःखानुभव, मन की शांत स्थिति में और कोई नवीन चित्र उस वातावरण से एकदम असम्बद्ध बात को जन्म देता है। तब केवल कहानी का नाम सूझ रहा सकता है। एक नाटक की कथावस्तु आंखों के सामने नृत्य करने लग सकती है। कई बार आधी रात में उठकर उस भाव को दो शब्दों में लिखकर फिर से सो गया हूं। ऐसे बनाये गये संक्षिप्त नोटों से मेरी अधिकांश रचनाएं तैयार हुई हैं। एक नयी रचना शुरू करने के लिए उसी प्रकार की मानसिक शक्ति भी चाहिए। जब वह शक्ति मिलती है तब जो लिखना है उसकी एक स्थूल रूपरेखा तैयार करके काम शुरू किया है। उनके बिना भी स्पंदन सीधा लिखता चला गया हूं।

विस्मरण से लाभ

लिखकर समाप्त करने के बाद उसे भूल जाने से मुझे काफी लाभ हुआ। उससे सहायता ही मिलती है। मनुष्य अपनी सारी यादों को सदा ढोकर जी नहीं सकता। नहीं तो जीना असहनीय हो जायगा, नारकीय हो जायेगा। जीवन में यदि एक सुख हो तो हजार दुःख होते हैं। सुख तो दुर्लभ ही होते हैं। अतः जीवन से मुकाबला करने के लिए दुःख की विस्मृति आवश्यक है। मेरे जैसे लिखने के पागलपनवाले व्यक्ति का उससे और एक विशेष उपकार होता है। पुराने चित्र यदि विस्मृत हो जायें तो नये के सृजन में सहायता मिलती है। नहीं तो पुराने चित्र ही फिर उभर सकते हैं।

मरलि मण्णिगे (माटी की ओर)

अब मैं सं क्षेप में अपनी कुछ रचनाओं की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता हूं। मरलि मण्णिगे की पृष्ठभूमि उसकी भूमिका में ही संक्षेप में दी है। समुद्र तट पर स्थित कोने में आनन्द लेते ग्राम लोगों का जीवन है वह। वहां के निसर्ग का सौंदर्य देखकर मनुष्य संतोष अनुभव कर सकता है। वह निसर्ग तब से अब तक अथवा कल तक एक समान रह सकता है। उसमें चित्रित तीन पीढ़ियों की कहानी है जो मेरे दादा के जमाने से शुरू होती है। कालक्रम की दृष्टि में वह मेरी पीढ़ी तक पहुंचती है। पहली पीढ़ीवालों ने निसर्ग का संताप प्राप्त नहीं किया।

समुद्र के साथ, नदी के साथ संघर्ष करके, अपना पसीना बहाकर अन्न के लिए संघर्ष किया। तब घोर गरीबी थी। उस गरीबी के संकट से बचने के लिए एक ही रास्ता था—भाग्य पर भरोसा रखना। उनमें औरतों ने बड़ा दुख भोगा। पदल चलन के उस जमाने में तीज-त्योहार, शादी-ब्याह, रथयात्रा, यक्षगान—यही सब उनके सुख के साधन थे। विलास के लिए वेश्याओं की संगति में ज्यादा सुख की कल्पना तब नहीं थी।

दूसरी पीढ़ी तक आते अंग्रेजी शिक्षा की हवा बहने लगती है। एक समुदाय गाँव छोड़कर शहर में चला जाता है। होटल उद्योग से धन कमाकर, गाँव में पैसा भेजता है। संपत्ति बढ़ती है। पैसे के बल से, बम्बई में मजा लेनेवाले लोग गाँव में पनपने लगते हैं और एक तरफ लच्चा जैसे व्यक्ति बाजार के मोह में फँसकर नये वातावरण में अपना दिमाग खराब कर लेते हैं। उनके भाग में भी शिक्षा केवल एक जड़ वस्तु होती है। तीसरी पीढ़ी में अंग्रेजी शिक्षा सर्वमान्य हो जाती है। बेकारी का प्रश्न उठता है। देश में अशांति पनपने लगती है। तब ये सब राम जैसे लड़के को सताने लगते हैं। अन्त में निराशा में वह गाँव की ओर मुँह मोड़ता है। वहाँ भी स्त्रियों की स्थिति वैसी रहती है। मेहनत करना और थककर चूर हो जाना। राम जैसे व्यक्ति को शिक्षा ज्यादा दुख का प्रेरक होता है। यह नये संस्कार का फल है। इस प्रकार उसमें जनता के आर्थिक और मानसिक जीवन का चित्रण हुआ है। उसे पसन्द करनेवाले भी हैं। उसके बारे में सब प्रकार की आलोचना भी हुई है। आज प्रशंसा करके कल निंदा करने वाले भी हैं।

इस पर 'देवराज बहादुर पुरस्कार' के अवसर पर मेरे मंगलूर के मित्रों ने मेरे सम्मान का प्रबंध किया और बड़ी प्रशंसा की। उसकी प्रशंसा करने वाले सात लोगों में पाँच ने पुस्तक भी नहीं पढ़ी थी। ऐसी प्रशंसा पर मेरा मन कैसे झूमता? आमतौर पर एक साहित्यिक कलाकार को मिलनेवाले सम्मान का अर्थ इतना ही होता है।

बेट्टद जीव (पहाड़ी जीव)

उसके बाद 'बेट्टद जीव' लिखा। इसमें नाटक के समान काल, स्थान और क्रिया के संतुलन की ओर ध्यान रखा। जंगल में भटकनेवाले मुझे उस प्रदेश का परिचय था। व्यक्ति भी नये नहीं थे। गाँवों में आकर अनेक मित्रों के कृषि के आनुभविक कार्यों को देखकर अच्छा लगा था। उस चित्र का वर्णन करने की इच्छा हुई। एक बार मैं कुछ मित्रों के साथ [illegible] के मित्र थी मेरे [illegible] के घर गया। उस समय कुछ चित्र को मन भर देखा था। वह 'ऐसा होना चाहिए' यह चित्र मन में नहीं हो पाया था। [illegible]

की घाटी चढकर जब मडकेरी स चार मील दूर रह गया तब बस खराब हो गयी। वही बठ रहना सम्भव नही था। मडकेरी पैदल ही चल पडा। सामने खडे पहाडो न पहाडी जीवन नाम सुझाया। मडकेरी पहुँचा तो मजुनाथय्या की मोटर मेरे लिए इ तजार कर रही थी। उस पर उनके घर पहुँचा। वह काफी के बागो से घिरा पहाडियो के बीच का प्रदेश था। उनके घर बठकर छह दिन मे हव्यक ब्राह्मणो की एक कहानी घसीट डाली। उसकी आचलिकता को देखकर उसमे भला कहानी क्या है? कहनेवाले लोग भी है। मैं कोई कहानी कहने नही बठा था। मैं अपनी कटी का बीच बीच म नई कहानियाँ सुनाया करता हू। लोगो को समझना चाहिए कि उप यास चरित्र चित्रण के लिए हुआ करता है।

हेत्तला ताई (ज म देने वाली माँ)

बाद मे 'हेत्तला ताई' उप यास लिखा। उसम एक और तरह का चरित्र-चित्रण है। उसमे एक व्यक्ति म लघुता की भावना थी, पर वही लघुता किस प्रकार महानता और मद का विषय बन जाती है यह दिखाया है। उसम लगिक समस्या भी एक मुख्य विषय है।

मुगियद युद्ध (जीवन-युद्ध)

'मुगियद युद्ध' शाला के एक गरीब अध्यापक की कहानी है। पुत्तर मे मैंने उनक साथ दस पद्रह वष काट थ। मैं उनक सुख दुख स भली भाति परिचित था। 'कडब कथा की पृष्ठभूमि है। वही एक अध्यापक के घर बठकर उनका खाना खाकर मैंन बाल प्रपच क तीन भाग समाप्त किय थ। उनक साथ आसपास की पहाडियो भी चढा उतरा हूँ। घन जगला म चक्कर लगाय हैं। उनकी आशा अभिलाषा का भी समझा हूँ। जीवन की गहराई म उतरा हू। गरीबी क जगल म भी चक्कर लगा आया। इस उप यास को पढ कर श्री जागीरदार ने इसे यथाथवादी उप यास कहा। किसी दूसरे न इस व्यक्ति सापेक्ष कहा। सभी ।का क दृष्टिकोण कितन भिन्न होते हैं।

औदायद उरुलल्लि (उदारता के चक्कर मे)

यह मेरा एक और उप यास है। उसकी रगभूमि उत्तर क नड जिला है। अनेक राष्ट्रीय और सावजनिक का दोलना का उसम उल्लख है। नताआ की दुराशा पता कमान क हथकण्डे पर घसीटनवाला पाखण्ड समाज म ईमानदारी क बन्धन शिथिल हुए परख, किस प्रकार उच्च स्थान पर पहुच जाता है आदि बातें चित्रित की है।

दो और रचनाएँ

कलाकार का मानसिक विकास चित्रित करने को 'मोग पड़ मन' उपन्यास लिखा। इसमें न्याय के बारे में पर्याप्त विवेचना है। मेरे लिए तो कलाकार भी सब की भाँति एक व्यक्ति है। उसका मन किसी और ही ढंग से बात करना चाहता है यही उसकी विशेषता है। उसके बाद लिखा उपन्यास है 'सन्यासाय वस्तु'। इसमें गृहस्थ जीवन से भागनेवाला को यहाँ बताया है कि संसार ही कर्मभूमि है। केवल विश्वास से क्या मिलता है? वह विश्वास कार्य रूप में परिणत होना चाहिए तभी उससे लाभ है—यही उस उपन्यास की कथावस्तु है। कथा की 'इकमायी' ऐसा अपूर्व व्यक्तित्व नहीं। मैंने जीवन को उस रूप में देखनेवाले अनेक बूढ़ों को देखा है।

निबन्ध

कहानी उपन्यास, नाटक लिखने के समान मैंने निबन्ध भी लिखे हैं। वहाँ भी मेरा स्वभाव जल्दबाजी का ही रहा है। आवश्यक विषय से सम्बन्धित सभी तथ्यों को एक बार निशान लगाकर बैठ गया तो बस घसीटता चला जाता हूँ। एक बार लिखने के लिए बैठने भर की बात है। 1200 पृष्ठों वाले 'बालु प्रपंच' को घसीटने में तीन मास लगे। परन्तु बाद में उसे ठीक करने में कुछ वर्ष लग गए। मुखराग तो एक बार बैठकर पूरा कर डाला।

मेरी और एक रचना है 'बालवेय बेलकु' (जीवन ही प्रकाश है)। एक बार मैं धारवाड़ गया था। वहाँ मेरे मित्र शंकरराव जोशी ने 'देवर इल्लद बदुकु' (ईश्वर के बिना जीवन) विषय पर भाषण देने को कहा। शायद उन्होंने मुझे नास्तिक समझा था। भगवान् है या नहीं, मैं इस झंझट में पड़ना ही नहीं चाहता था। मैं न नास्तिक हूँ न आस्तिक। मेरे लिए ऐसे विषय पर भाषण देना प्रश्न पत्र का उत्तर देने के समान था। उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ। उत्तर देते समय अनेक विचार-लहरें मन में उठती हैं इसलिए मैं भाषण देने को तैयार हो गया। उन्होंने कहा, उसी को लिखकर दे दीजिए। उसमें जीवन, ईश्वर, आत्मा, कर्म-फल आदि विषयों के बारे में मैंने अपने विचार प्रकट किए।

यहाँ पर मैंने सन् 1950 तक लिखे उपन्यासों के बारे में संक्षेप में बताया। उसके बाद में भी लिखता रहा, लिख जा रहा हूँ। यह बात सब जानते हैं। लेकिन लिखना ही चाहिए ऐसी हठ तो है नहीं। ग्रन्थों की संख्या बढ़ाने की जिद भी नहीं। चाहे उपन्यास हो या नाटक उसे अपने अनुभव की पृष्ठभूमि पर लिखने में ही मुझे तृप्ति मिलती है। लिखते समय मैं पात्र और व्यक्तियों का ऐसा व्यवहार करना चाहिए मानो वे जीवन्त हों। मुझे उनका मुख दिखायी देना चाहिए तभी

बातें सुनायी देनी चाहिए। लेकिन मेरे अनुभवों की भी तो एक सीमा है। उनसे जितना सार निकल सकता है उससे ज्यादा कृषि का प्रयास करने पर फल फीका निकलेगा।

अनुरंजन

एक जमाने में वह भी यौवन के दिनों में जब आदर्शवाद का भूत सवार था दुनियाँ का उद्धार करने को निकला, तब कुछ उपन्यासों की रचना की। पर ज्यों ज्यों मेरे जीवन का विस्तार हुआ अनुभव बढ़े उस जीवन के बारे में जहाँ तक सम्भव हो सका निष्पक्ष होकर मैंने जो विचार किया तो मुझे लगा कि मेरे सृजन और जीवन में निकटता अनिवार्य है। 'चोमन दुडी' इसी दृष्टिकोण का पहला कदम कहा जा सकता है।

बाद में भी लिखता रहा हूँ। वैसे तो आज मुझे अपने लिखे उपन्यासों के नाम तो याद हैं लेकिन उनमें क्या क्या है और किसने क्या किया यह पूछा जाय तो शायद उत्तर न दे पाऊँ।

साहित्य के इन प्रयोगों में आपको दो भिन्न लहरें दिखायी देंगी। एक कुछ रचनाएँ वे हैं जिनमें मैंने दूर खड़े होकर दुनियाँ को देखा है जैसे, 'शनिश्वरनेरलल्लि' (शनि की छाया में) जदवदारी (किसलन की राह) तथा समीभि। कुछ कृतियाँ ऐसी नहीं हैं। जीवन की समस्याओं का दूसरों के द्वारा सामना किये जाने की बात कहते समय, मेरे तटस्थ रह कर देखने का ढंग कुछ और है। यदि समस्याओं ने मेरे जीवन को छुआ होता तो मैं मूक होकर नहीं बैठता। कई बार स्वयं को झकझोरने वाली समस्याओं ने मुझे उपन्यास लिखने को प्रेरित किया है। 'गाढारण्य' ऐसा ही एक उपन्यास है। हमारे देश के एक राजनीतिक दल वालों को वह एकदम कटु लग सकता है। उस उपन्यास के कटु सत्य को मैंने प्रत्यक्ष भोगा है। जनता के नेताओं तथा राजनीतिक दलों की बातें और व्यवहार देखकर मुझे बड़ा आघात हुआ है। इस कारण मुझे कोई भी पक्ष दबोचता नहीं लगा। यदि कोई पक्ष दानवी गुणों का आजमाने लगे तो मुझे लगता है कि जनहित के लिए उनके दनुजाचार का दर्शाना आवश्यक हो जाता है।

यह समस्या केवल राजनीति की ही समस्या नहीं आजकल तो स्वतन्त्र भारत के यातावरण में और यातना में मेरे जैसों का दम घुट रहा है। मैंने पहले अंध श्रद्धा अनाचार और साम्प्रदायिकता का खण्डन किया है। आज की राजनीति में धार पूजा मूढ़ विश्वास बड़ बधियाँ दर्जे तक पहुँच चुकी है। लेखक जिस समाज में जी रहा है ये उसे कलुषित करनेवाली शक्तियाँ हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि मेरा कर्तव्य क्या है? गहरा और छिछला नापना उपन्यास में अपने एक पात्र के द्वारा पूरा करना तो न सही पर मेरे और मेरे जैसे लोगों के विचारों

को थोड़ी बहुत आवाज देने का प्रयास किया है।

क्षीण स्वर

परन्तु मेरा यह विश्वास नहीं है कि साहित्यकार के स्वरों से समाज का उद्धार हो सकता है। भारत जैसे देश में सत्तर करोड़ जनता में से पैंतीस करोड़ वयस्क हैं। बिना कुछ समझे बूझे ही वे अपने नेता चुनते हैं। साहित्यकार उनसे बहुत दूर हैं। पढ़ने लिखने वालों के लिए तो हजारों पुस्तकें हैं, सैकड़ों रास्ते हैं। क्या सभी के लेखक प्रभावित कर सकते हैं? यह प्रभाव राजनीति में भला कितना हो सकता है? मेरे लिखने से दुनिया उलट पलट नहीं हो जाती। दूसरों के विचारों को समझ कर क्या उनसे मैं पर्याप्त प्रभावित नहीं हुआ? पर मैं यह कैसे बता सकता हूँ कि वह प्रभाव किसकी बात या किसके लेख से हुआ है। अनेक रचनाओं की प्रेरणा ने मुझे बुद्धिजीवी बनाया। इसलिए मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं साहित्य के द्वारा समाज को कुछ अर्पित करूँ। पर इससे एक शिष्य समुदाय जन्म नहीं लेता। यह शिष्य समुदाय तो 'दास समुदाय' बनता जा रहा है। इसलिए मुझे ऐसा समुदाय बनाने की इच्छा नहीं। आँखें मूँदकर किसी के मेरे शिष्य बनने की अपेक्षा समीक्षात्मक रूप से मुझे समझकर मुझसे भिन्न विचार रखने वाले बुद्धिजीवी को मैं श्रेष्ठ समझता हूँ।

बातें सुनायी देनी चाहिए। लेकिन मेरे अनुभवों की भी तो एक सीमा है। उनसे जितना सार निकल सकता है उससे ज्यादा कृषि का प्रयास करने पर फल फीका निकलेगा।

अनुरक्ति

एक जमाने में — वह भी यौवन के दिनों में — जब आदर्शवाद का भूत सवार था, दुनिया का उद्धार करने को निकला, तब कुछ उपन्यासों की रचना की। पर ज्यों ज्यों मेरे जीवन का विस्तार हुआ, अनुभव बढ़ा, उस जीवन के बारे में जहाँ तक सम्भव हो सका निष्पक्ष होकर मैंने जो विचार किया तो मुझे लगा कि मेरे सृजन और जीवन में निकटता अनिवार्य है। 'चोमन दुडी' इसी दृष्टिकोण का पहला कदम कहा जा सकता है।

बाद में भी लिखता रहा हूँ। वैसे तो आज मुझे अपने लिखे उपन्यासों के नाम तो याद हैं लेकिन उनमें क्या क्या है और किसने क्या किया यह पूछा जाय तो शायद उत्तर न दे पाऊँ।

साहित्य के इन प्रयोगों में आपको दो भिन्न लहरें दिखायी देंगी। एक — कुछ रचनाएँ वे हैं जिनमें मैंने दूर खड़े होकर दुनिया को देखा है जैसे, 'शनिश्वरनेरलल्लि' (शनि की छाया में) 'जरुव दारी' (फिसलन की राह) तथा 'समीक्ष'। कुछ कृतियाँ ऐसी नहीं हैं। जीवन की समस्याओं का दूसरों के द्वारा सामना किये जाने की बात कहते समय मेरे तटस्थ रह कर देखने का ढंग कुछ और है। यदि समस्याओं ने मेरे जीवन को छुआ होता तो मैं मूक होकर नहीं बैठता। कई बार स्वयं को झकझोरने वाली समस्याओं ने मुझे उपन्यास लिखने को प्रेरित किया है। 'गोण्डारण्य' ऐसा ही एक उपन्यास है। हमारे देश के एक राजनीतिक दल वालों को वह एकदम कटु लग सकता है। उस उपन्यास के कटु सत्य को मैंने प्रत्यक्ष भोगा है। जनता के नेताओं तथा राजनीतिक दलों की बातें और व्यवहार देखकर मुझे बड़ा आघात हुआ है। इस कारण मुझे कोई भी पक्ष दवीपक्ष नहीं लगा। यदि कोई पक्ष दानवी गुणों का आजमाने लगे तो मुझे लगता है कि जनहित के लिए उसके दुराचार को दर्शाना आवश्यक हो जाता है।

यह समस्या केवल राजनीति की ही समस्या नहीं, आजकल तो स्वतन्त्र भारत के वातावरण में अनेक बातों में मेरे जैसों का दम घुट रहा है। मैंने पहले अंधश्रद्धा, अनाचार और साम्प्रदायिकता का खण्डन किया है। आज की राजनीति में वीर पूजा, लूट खसोट बड़े घटिया दर्जे तक पहुँच चुकी है। लेखक जिस समाज में जी रहा है वे उसे कलुषित करनेवाली शक्तियाँ हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि मेरा कर्तव्य क्या है? 'गहरा और छिछला' नामक उपन्यास में अपने एक पात्र के द्वारा पूर्ण रूप से तो न सही, पर मेरे और मेरे जैसे लोगों के विचारों

को थोड़ी बहुत आवाज देने का प्रयास किया है।

क्षीण स्वर

परन्तु मेरा यह विश्वास नहीं है कि साहित्यकार के स्वरों से संसार का उद्धार हो सकता है। भारत जैसे देश में सत्तर करोड़ जनता में से पचीस करोड़ वयस्क हैं। बिना कुछ समझे बूझे ही वे अपने नेता चुनते हैं। साहित्यकार उनसे बहुत दूर हैं। पढ़ने लिखने वालों के लिए तो हजारों पुस्तकें हैं, सैकड़ों रास्ते हैं। क्या सभी के लेखक प्रभावित कर सकते हैं? वह प्रभाव राजनीति में भला कितना हो सकता है? मेरे लिखने से दुनिया उलट पलट नहीं हो जाती। दूसरों के विचारों को समझ कर क्या उनसे मैं पर्याप्त प्रभावित नहीं हुआ? पर मैं यह कैसे बता सकता हूँ कि वह प्रभाव किसकी बात या किसके लेख से हुआ है। अनेक रचनाओं की प्रेरणा ने मुझे बुद्धिजीवी बनाया। इसलिए मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं साहित्य के द्वारा समाज को कुछ अर्पित करूं। पर इससे एक शिष्य समुदाय जन्म नहीं लेता। यह शिष्य समुदाय तो 'दास समुदाय' बनता जा रहा है। इसलिए मुझे ऐसा समुदाय बनाने की इच्छा नहीं। आँखें मूंदकर किसी के मेरे शिष्य बनने की अपेक्षा समीक्षात्मक रूप से मुझे समझकर मुझ से भिन्न विचार रखने वाले बुद्धिजीवी को मैं श्रेष्ठ समझता हूँ।

दुबारा राजनीति मे

स्वतन्त्रता से पहले

जब महात्मा गाधी के असहयोग आ दोलन म मैं कूदा, तब जवान ही था। पाच छह वष तक मैं काग्रेस का सदस्य रहा, उसका एक स्वयसेवक बनकर अपने आप कुन्नापुर मे काम करता था। यह कहना गलत न होगा कि राजनीतिक भाषणा स मुझे अपनी ध्वनि का परिचय हुआ। उस समय की राजनीति का एकमात्र उद्देश्य अग्रजो को भारत स निकालना था। उसके लिए आवश्यक वाक् प्राण हमारे नेता प्रदान करते थ। गांधीजी की यग इण्डिया पत्रिका मेरे लिए एक तरकस थी। उसके लेखो से ज्यादा समीक्षा कर पाने की अपनी शक्ति मेरे पास नही थी। उन दिना देश के कुछ नेताओ के लखो के अतिरिक्त और कुछ पढने की आदत ही कम थी। कभी कभी रमान द चटर्जी की माडन रिव्यू' पत्रिका पढ लिया करता था।

आगे चलकर, भाषण देना ब द करके, खादी निर्माण का काम अपने हाथ म लिया। उसकी कहानी आरम्भ म ही कही है। उसम असफल होने के बाद मेरा मन साहित्य नाटक शिक्षा और ग्राम सुधार जसे विषयो की ओर गया। हवाई किले बनाने के बदले अपनी शक्ति के अनुसार काम करने लगा। अपने अध्ययन, भ्रमण और खोज से भारत की गरीबी और जडता की समस्याए मुझे असीम लगी। स्वतन्त्रता सग्राम के अगले दो वष मैं केवल आसक्त प्रेक्षक मात्र बनकर बैठा रहा। दोनो वष विशेष निराशा म ही कटे जिससे मेरा मन स्वय को सालने लगा।

दूसरे महायुद्ध न प्रत्यक्ष रूप से भारत का विशेष उपकार किया। जापान और बर्मा की घटनाओ से बर्तानिया को यह महसूस करना पडा कि अब साम्राज्य को बचाये रखना कठिन है। खैर किसी प्रकार भारत को स्वतन्त्रता मिल गयी। काग्रेसियो ने यह कहना शुरू कर दिया कि उन्ही के प्रयत्ना से यह स्वतन्त्रता मिली। मेरा विचार है कि युद्ध के बाद की परिस्थिति ने बर्तानिया को झुकने को

मजबूर कर दिया था । उन्हे यह समझ मे आ गया था कि असतुष्ट लोगो पर अब वे राज्य नही कर पायेंगे। कोई आ दोलन न छेडने वाले वर्मा को भी उन्हे स्वत त्रता देनी पडी ।

अभिमान जाता रहा

काग्रेस के बारे मे आरम्भ मे मुझ मे जितना अभिमान था चौथे दशक मे उतना ही कम हुआ । अहिंसा के नाम पर जेल जानेवाले कुछ लोगो के तौर तरीके से मैं परिचित था । अनेक लोग ऐसे थे जो समय से स्फूर्ति पाकर सत्याग्रह करके जेल गये थे । हमारे कर्नाटक के दक्षिण जिले मे कांग्रेस मे घुस आये कई नेताओ के व्यवहार से मुझे बडी जुगुप्सा हुई। वचक, अवसरवादी, लालची लोग यदि भगवद्गीता की भी दुहाई देते तो भी मैं धोखा नही खाता । दिवगत श्री सदाशिव रायजी को हटाकर जब कुछ चालबाज लोग नेता बने, तो मुझे इस राजनीति के सामने सिर झुका लेना पडा ।

स्वतन्त्रता तो मिली

सन 1947 मे भारत स्वतन्त्र हो ही गया। उसके साथ देश को चलाने की जिम्मेदारी भी आयी। इस उद्देश्य को लेकर राजनीति मे भाग लेने वालो की सख्या तो उगलियो पर गिनी जा सकती है । मेरे बडे भाई साहब ने काग्रेस मे रहकर काफी परिश्रम किया था। उसके अनुभव से मैं परिचित हूँ । मुझे लगा कि समय बीतने के साथ काग्रेस स्वार्थियो का स्वर्ग बन गयी । गाँधीजी ने 'कांग्रेस तोडो' कहा था । यह बडी दूरदर्शिता की बात थी। मेरे भाई ने अपने कटु अनुभवो के कारण ही काग्रेस छोडी थी । वे प्रकाशम के मन्त्रिमडल मे कर-मन्त्री थे । उन्होंने जब ऐसा कदम उठाया तो अवश्य ही कुछ ठोस कारण रहे होगे ।

समय बीतते बीतते जन सेवा, देश भक्ति आदि शब्द जनता को धोखा देने के अर्थ लगने लगे । पुराने राजाओ सुलतानो को भगानेवाली जनता, उससे चौगुनी होकर उनकी छोडी जूतियो मे पाँव रखकर नवयुग के राजा बनने के सपने देखने लगी। कांग्रेस सस्था पर मेरे मन मे जो अभिमान पहले था वह मिट्टी मे मिल गया।

गाधी जी

देश के मार्गदर्शक गाँधीजी का जीवन बलिदान हो गया। उनके नाम पर लाभ उठाने के लिए देश मे असख्य नेता आगे आये। गाँधीजी के सत्य अहिंसा के मन्त्र सबकी जबान पर नाचने लगे। स्वार्थियो के लिए वह एक मुखौटा बन गया।

सन् 1952

सन 1952 म चुनाव शुरू हुआ जोकि हमारे लिए एक महान घटना थी। मेरा मन देश की राजनीति को देखकर दुखी था। उस तरफ रूस म आयात किया गया वयक्तिक जीवन का गला घोटनेवाला कम्युनिज्म देश म फलन लगा। उसके विरोध मे प्रजातन्त्र की रक्षा करनेवाली सस्थाओं म बेईमानी का प्रभाव बढने लगा। ऐसी परिस्थिति म मेरे जैसे का कत्तव्य क्या होना चाहिए ? मुझे राजनीतिक जीवन मे कोई आकषण नही रह गया था। पर इस सन्दिग्ध स्थिति मे तटस्थ होकर जीना भी सम्भव नही था। तब व्यक्तिगत विरोध दिखाने क लिए मैं चुनाव मे खडा हुआ। मै कृपलानी के नेतत्व मे प्रजा समाजवादी पार्टी की तरफ से खडा हुआ था। तब मुझे यह भय भी हो रहा था कि 'समाजवाद' शब्द अस्पष्ट और अनिश्चित दिशा की ओर भाग रहा है। मैंने सोचा कि भले ही कुछ न हो कांग्रेस का विरोध तो होगा। उसी पक्ष स मेरे बड भाई लोकसभा के लिए खडे हुए। मैं असेम्बली सीट के लिए खडा हुआ था। तीन मास तक पुणे के मतदाताओ के घर घर जाने का अवकाश मिला। तब यह पता चला कि चुनाव कितना सत्य और अहिंसा के माग पर होता है। जाति विरोध करनेवाली कांग्रेस भी जातिवाद स दब गयी है। मेरे दोनो विरोधी ब्राह्मणतर थे। मैंने जन्म से ब्राह्मण होने पर भी, ब्राह्मणेतरो मे विवाह किया था। यह बात जानने वाले मतदाताओं के लिए भी कारत ब्राह्मण ही ठहरे।

इस राजनीतिक सघष मे नेता और उनके अनुयायी अपने प्रचार मे सबसे पहले सत्य की बलि चढा देते हैं। पता नही धन किस किस तरफ से आता है और उसका क्या क्या प्रभाव पडता है !

चुनाव परिणाम

चुनाव तो मेरे और मेरे भाई के विरोध मे ही गया पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने अपनी आखो स देखा कि 150 मत पेटिया खुली पडी थी सम्बधित अधिकारी ने लिखित रूप से यह स्वीकार करते हुए कहा 'ऐसा आपके साथ ही नही दूसरो के साथ भी हुआ है।' न्यायाधीश के सामने तो वह साफ मुकर गया और कहा कि ऐसा हुआ ही नहीं। मतकक्षो से आये फाम ही गायब थे। एक गाव से दूसरे गाँव म पहुचकर मतपत्र ही गायब हो गये। मैंने इस पर मुकदमा लडा। न्यायाधीश क सामने यह सिद्ध किया कि मतपत्र एक जगह से दूसरी जगह कैसे चले गय। इतना ही नहीं मेरे क्षेत्र म बाँटे गय मतो की कुल सख्या मे केवल 72 लागो का छाड दें तो बाकी सब आये है।

उसस दुगने मतपत्र मगलूरकी लोकसभा की पेटिया म दिखाये। पर तु व सब

न्यायाधीश के लिए गम्भीर दोष दिखाई नही दिये। अत उन्होने मेरी अर्जी खारिज कर दी। मेरे पास तो चुनाव लडने के लिए भी पैसे नही थे। यह मुकदमा भी मैंने मित्रो की सहायता स किया था। फिर से अपील करके धन कहा स लाता ? शक्ति भी कहा से आती ?

परन्तु मेरे अनुभव म कम से कम दूसरे तो लाभ उठायें सोचकर व सारे कागजात ससद सदस्य एच० वी० कामत का सौपकर सारी बातें बताकर चुनाव आयुक्त के ध्यान म लाने को कहा। वहा मेरा काम समाप्त हो गया।

बाद म मैंने चुनाव म हाथ नही डाला परन्तु कुशासन म निपुणता प्राप्त करके अपने भार से जनता को तग करके, व्यक्ति की उन्नति म बाधक बनी काग्रेस के प्रति जो उदासीनता आयी वह अब तक भी मेरे मन स नही गयी है और शायद जायगी भी नही।

मन की दासता

आजकल हम प्रजातन्त्र के रास्ते पर नही जा रहे है। हमने अपन नेताओ को देवता का स्थान दे दिया है। जनता तो सदा मूर्तिपूजक है ही। जब तक जनता अपने बारे म आप सोचने लायक नहीबनेगी तब तक प्रजातन्त्र नही होगा। हमारे नेताओ का ध्यान तो जनता की समस्याओ की अपेक्षा अपन सपनो को पूरा करने की ओर है। अर्थशास्त्र की ग ध तक उन्ह मालूम नही। दूसरे देश भी प्रजातन्त्र की रक्षा करने और व्यक्ति के विकास के रास्ते ढूढने म पूरी तरह सफल नही हुए। जनता का ओर छोर जाने बिना ही शासन के बल से, दल के बल से उनमे बस गद्दी को बनाये रखने की चपलता रहती है। अपने देश की सुरक्षा हेतु दुनिया के परस्पर विरोधी दो गुटो को बातो से तृप्त करने का आत्म विश्वास इनमे है।

दुनिया के भिखमगो मे हमारा स्थान सर्वप्रथम है। हम इतने कृतघ्न हैं कि भिक्षा देनेवालो को उसी क्षण भूल जाते हैं। ऐसे म यह बात हर कोई आसानी से समझ सकता है कि लेखको की शक्ति इस देश मे कितनी दुर्बल है। अनुरक्ति ही आहार बन ऐसे लोगो के बीच म प्रगतिशील कहलाने का जमाना है यह। यह सब कालपुरुष की करामात समझ कर, कर्तव्य से मुह मोडने की हालत पैदा हो गयी है।

देश की रक्षा

विचारशील व्यक्ति के लिए हमारे देश का राजनीतिक वातावरण चित्रित कर देना सहज है। आन्तरिक प्रशासन बेईमानी और नालायकी से भरा है। लगता है परिश्रम करना एक अपराध है। अपने स अच्छी स्थिति मे रहनेवाला

से द्वेष करना, उनसे खार खाना नया युग धर्म बन गया है। इसी पर चलनेवाले ही हमारे मुखिया है। तिब्बत पर चीन के आक्रमण के समय दलाई लामा को भारत में आश्रय देकर उनका मुंह बंद करके, आश्रितों की रक्षा की क्षमच्युति दिखायी। राजनीति बहसबाजी नहीं है। राजनीतिक चालाकी से अपरिचित हमारे नेताओं ने चीनियों पर विश्वास करके देश रक्षा की उपेक्षा की। फिर भी अन्त तक उनमें देवत्व का आरोप करके, उनके नाम पर दीया जलाकर, उनसे शतांश भी योग्यता न रखनेवाले लोग नेता बनने में सफल हुए।

गत महायुद्ध ने यह सिखाया कि हिटलर जैसी शक्ति के सामने कोई देश अलग अलग होकर लड़ नहीं सकते। हमारे नेता उस इतिहास से सबक नहीं सीख सके। पश्चिम के दो गुटों से अलग नेहरू जी एक तीसरे तटस्थ गुट के नायक बने। उसी का फल था चीन का आक्रमण। फिर भी हम अक्ल नहीं आयी। क्या हम अकेले देश की रक्षा कर सकते हैं जब कि चीन परमाणु बम बना रहा है?

यूरोप के प्रमुख राष्ट्र ही एकाकी होकर देश की रक्षा कर सकना असंभव समझकर गुटों में मिलजुल कर अपनी शक्ति का विकास कर रहे है। ऐसी स्थिति में पुराने शस्त्रास्त्रों से अधसज्जित अपने देश की रक्षा करने की नीति से मुझे डर लगने लगता है कि इससे कहीं हम अपने देश की बलि तो नहीं चढा देंगे।

एक बात और। युद्ध की तैयारी सदा शस्त्रास्त्रों के विकास से ही हो सकती है। इन शस्त्रास्त्रों का सदा नवीनीकरण करते रहना चाहिए और ऐसी बातें हर समय गुप्त रखी जानी चाहिए। उन्हीं पर देश की शक्ति निर्भर रहती है। बाजार में पैसा देने से मिलनेवाले शस्त्रास्त्र ऐसे नहीं होते, इसीलिए यदि हम नये आयुध चाहते हैं तो हमारे सहायक बन सकनेवाले एक दो राष्ट्रों से हमारी मित्रता बनी रहनी चाहिए। परस्पर विरोधी गुटवाले यदि हमारे सहायक बने भी वे गुप्त शस्त्रास्त्रों को हमें कभी नहीं देंगे। अगर दे दें तो हमारे माध्यम से अमेरिका का रहस्य रूस को, उसका रहस्य अमेरिका को पता नहीं चल जायेगा? हमारे जैसे बिमगादड़ी नेताओं पर विश्वास करके अपने रहस्यों की बलि चढाने वाले मूर्ख वे नहीं हैं।

वाक्बाणों से युद्ध करनेवाले हमारे नेताओं को देश की रक्षा जब इतनी आसान लग सकती है तो ऐसा न हो कि कभी और एक नेफा का प्रसंग पैदा हो तो अपनी जल्दबाजी और अहंकार से देश को बलि वेदी पर चढाने का पाप हम ही भोगना पड़े!

देश की इस संकट की स्थिति को सोचते-सोचते मन की शक्ति चली गयी है। पर मुझ जैसा लेखक क्या कर सकता है? भला उसकी शक्ति ही क्या है? मतदाताओं को खरीदने की शक्ति किस लेखक में है? ऐसा आभास होने लगा है कि उसका होना भी नहीं होने के बराबर है।

गृहस्थ

आरम्भ

मुझे गहस्थ बने लगभग पचास वष पूरे हो गय। अब मैं केवल गहस्थ ही नही, व्यवहारी भी हो चुका हूँ। मेरा पुराना आदशवाद बदल गया है मेरे जीवन ने दूसरा ही रूप ले लिया है। इस परिवतन की कहानी मैंने काफी लिखी है। मेरा परिवार छोटा है। पत्नी आयी, घर भी बना, बच्चे भी हुए। पर क्या इतने से गहस्थी बन जाती है? चूहे से बचने को बिल्ली, चोरो से बचने को कुत्ते, उनके पेट भरने को गाय भैंस और उनकी और हमारी सेवा करने के लिए सेवक भी तो चाहिए। इस प्रकार विवाह के निमन्त्रण पत्र मे लिखने के समान 'सकुटुम्ब सपरिवार' स्थापित हो गया हूँ। सस्था का पिता बन गया, ससार रूपी सस्था का पिता। बगल मे थला लटकाए कच्चे चने चबाता, बाहो का ही सिरहाना, समाचार पत्र ही बिस्तर बनाकर बिताये पुराने दिना और इनमे अन्तर है। तब कोई अकुश नही था। पर यह नही समझिये कि मैं घरवाली के कहने पर ही चलता हूँ। सुनू या न सुनू कहनेवाले तो हैं—यह गव है।

विवाह का विचार

मेरे जसे घरबार छोडे, बुजुर्गों से दूर और निखट्टू व्यक्ति के लिए पत्नी मिल जाना कोई आसान बात नही थी। पहले तो मैं विवाह ही करना नही चाहता था, बाद मे लगा कि हो जाय तो कोई बात नही। सो विवाह करने की इच्छा हुई। कोई भी काम शुरू करने से पहले उसके हानि लाभ के बारे मे सोचने बठना मेरा स्वभाव नही है। यदि वह मेरे काबू का है तो हो ही जायेगा। यह सोचकर कन्यान्वेषण के काय मे लग गया।

पता नही किस पुण्यात्मा ने यह नियम बनाया कि विवाह के लिए एक कन्या चाहिए। किसी घर मे एक अनमोल आभूषण लाकर एकदम 'यह मरी पत्नी है' कहने का अह पुरुष को होता है। हमारे यहाँ कन्या को लाने की पद्धति कुछ ऐसी है जसे भैंस, गाय, कुत्ता, बछडा लाया जाता है। लाने के बाद वह वस्तु

हमारी हो जाती है। परंतु लायी गयी कन्या का मन हमारा होने तक 'मेरी पत्नी' कहने का कोई अर्थ नहीं है। वह मात्र एक रूढ़ि है। पर मैं तो रूढ़ियाँ तोड़ चुका था। मुझे रूढ़ियों में बँध विवाह की आवश्यकता नहीं थी। मेरा विचार था कि एक दूसरे की पहचान कर विवाह करना चाहिए। लड़का लड़की को और लड़की लड़के को समझे। क्या हमारा समाज ऐसा बन पाया है? जन्मपत्री और जाति में मेरा विश्वास नहीं है। पर इसी प्रकार सोचनेवाला परिवार भी तो मिलना चाहिए था न? बाद में, लड़के लड़की का परिचय होना चाहिए। पहले दोनों में मित्रता होनी चाहिए। बस यह रास्ता है कठिन। इसे लोग जितना आसान समझते हैं यह उतना आसान नहीं है। बिना वजह एक लड़के और लड़की को एक साथ खड़ा कर, उनकी स्वीकृति लिए बिना ही, अपने खुद के खर्च से विवाह करा देनेवाले हैं हमारे समाज के लोग। मेरे विवाह करने के निश्चय और विवाह होने के बीच तीन वर्ष गुजर गये थे। इस बीच मैंने ही अपने कुछ मित्रों के विवाह भी कराये थे। लेकिन मेरे लिए अपना विवाह करना कठिन लग रहा था।

खोज

बंगलूर की निवासी एक पढ़ी लिखी लड़की ने मन ही मन मुझसे विवाह करने का संकल्प कर लिया था। उसने मित्रों द्वारा मुझसे बात करने का प्रयत्न भी किया। पर इस अश्वत्थामा से बात करने का साहस मित्रों में नहीं था। अगर मैं अपनी दाढ़ी नहीं कटवाता तो किसी की कदापि हिम्मत नहीं होती। जो भी हो, मित्र ठहरे। उन्होंने सोचा कि समझदार होने पर भी यह लड़का ऐसे कर रहा है। उसे एक खूटे से बाँध ही देना चाहिए। मुझसे उस लड़की का परिचय कराया गया। वह जैसी दीख रही थी (अगर आगे चलकर वह और मोटी न हो तो) मैंने सोचा कि हो सकता है। मैंने मन से स्वीकृति भी दे दी थी। एक दो मास तक हमारे बीच पत्र व्यवहार भी चला। एक दिन वह अपनी सारी जिम्मेदारी अपने पिता के सिर मढ़कर मूक हो गयी। मेरे मित्रों ने उसके पिता से बात की। उन्होंने कहा "यह कैसे संभव है? अभी तो उसे तीन साल और पढ़ना है।" मैं यह सोचकर चुप हो गया। अच्छी बात यदि भाग्य में हुई तो कम से कम परलोक में तो एक भार्या मिल ही जायेगी।

बाद में एक छोटी आयु की लड़की मेरे सौंदर्य को देखकर मुझ पर आसक्त हो गयी। मध्यस्थ लोगों द्वारा बातचीत भी शुरू हो गयी। एक सप्ताह बाद वह अपने आप उत्सुक होकर आगे आयी और फिर वह भी इस व्यक्ति को एकदम अयोग्य समझ कर पीछे हट गयी। बाद में मेरे एक मित्र ने इस रिश्ते को जोड़ने का यत्न भी किया था।

सन् 1935 में मैं कभी-कभी मंगलूर बेसेंट स्कूल जाया करता था। उनके यहाँ नाटक, नृत्य और अभिनय का निर्देशन किया करता था। उस स्कूल की सुपरिटेण्डेण्ट रमाबाई मेरा बडा सम्मान करती थी। एक दिन उन्होंने मुझ से नृत्य सीखनवाली एक लडकी के बारे में पूछा, "इस लडकी के बारे में आपका क्या विचार है ?" मैंने कहा, "क्या कहा जा सकता है। लडकी चुस्त है पर उमर बहुत छोटी है। इस उमर में विवाह की बात उठाना ठीक होगा ? फिर अभी एक अविवाहित बहिन भी है। यह भी मालूम नहीं कि उसके घर में बडों के विचार कैसे हैं ? उनके द्वारा बात कर सकती हैं तो कीजिए।" वे बोली, "अच्छी बात है।" वह मेरे द्वारा निर्देशित नाटक, नृत्य और प्रदर्शनों में सदा भाग लेती थी। जिस लडकी का जिक्र पहले किया था वह भी उसी स्कूल में थी। वह आयु में भी थोडी बडी थी। उसने अपनत्व भी दिखाया था। यहाँ तक कि अभिनय सिखाते समय वह मुझ से झगड भी पडती थी। लेकिन इसने मेरे प्रति किसी तरह की कभी कोई आसक्ति भी नहीं दिखायी थी। वह और उसकी कुछ अन्य सखियाँ समय मिलते ही मेरे पास गप्पें मारने आ जाया करती थी और गाँव के और मेरे पुराणों के बारे में सुन सुनाकर चली जाती थी।

गर्मी की छुट्टियों में एक दिन वे सब अपनी सुपरिण्टेंडेण्ट के साथ एक दल बनाकर मेरे 'बाल-वन' आयी। वहाँ एक-दो दिन रहकर खुशी खुशी वापस लौट गयी। तब फिर से रमाबाई ने उस लडकी की बात उठायी। मैंने अपना पहलेवाला जवाब दुहराया। पता नहीं उनका क्या अभिप्राय था, वे मेरे प्रति उस लडकी के विचारों का बडी तत्परता से अध्ययन कर रही थी। उन्होंने उस लडकी के पिता से बात करने का निश्चय किया। आगे तीन दिन बाद मैं भी मंगलूर गया। मेरे ठहरने की जगह पर वही लडकी आयी और बोली, "मास्टरजी आप हमारे घर आइए।" मैंने कहा, 'अच्छी बात है।" उसके पिता का फूलों का एक बगीचा था। वह सारे मंगलूर में प्रसिद्ध था। पहले बम्बई में उनकी एक बडी-सी दवा की कम्पनी थी। बाद में वे मंगलूर में बस गये थे और वहीं अपना निवृत्त जीवन फूलों के बाग की देखभाल में काट रहे थे। उसे देखने की मेरी भी इच्छा थी इसलिए मैं उनके यहाँ चला गया।

निश्चय

उनके घर जाने पर, उसने मुझे अलग बुलाकर एक विचित्र बात कही - "मैं आप से विवाह करना चाहती हूँ।" अब एकदम से उत्तर देने के लिए भी मुझे आगे-पीछे सोचना पडा। पहले उसके मन में वह विचार आया तो होगा ही और फिर ऐसी बात कहना असाध्य-सा लगा होगा। मैंने धीरे से कहा, "यह बात उठाने से पहले तुमने इसके बारे में कुछ सोचा भी है ? मेरा स्वभाव, मेरी स्थिति

तुम्हारी जिम्मेदारी—इन सब के बारे में सोचे बिना ही ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।' वहां से वह मुझे अपने पिताजी के पास ले गयी।

तीन दिन पहले ही यानी हमारे गाँव से लौटने के दिन ही उसने अपने मन की बात पिताजी से कह दी थी। पता नहीं उनके मन में क्या क्या सन्देह पैदा हुए होंगे। उन्होंने भी यही बात उठायी। कहा, "देखिए पहले मेरी अच्छी आमदनी थी। अब वसी स्थिति नहीं है। उन बातों की ओर ध्यान नहीं देना। और फिर जाति का प्रश्न भी है। यह सब आप को भलीभाँति सोचने के बाद ही निर्णय लेना चाहिए।"

विवाह

उस शाम को जब हम घूमने गये तब मैंने उसको सारी जिम्मेदारी के बारे में बताया। लगा, कि उसने अपने मन को पक्का कर लिया था अत मैंने स्वीकृति दे दी। अगले पन्द्रह दिनों में हमारी रजिस्टर्ड मैरेज हो गयी। वह छह मई 1938 का दिन था, चित्रा पूर्णिमा का दिन। सिद्धार्थ के बुद्ध बनने का दिन। उसी दिन मैं गृहस्थी के बन्धन में बंध गया। वह ब्राह्मण ब्राह्मणेतर का विवाह था उससे हमारे समाज में हलचल शुरु हो गयी। पर समय ने उसे ठीक कर दिया। मेरे रिश्तेदार और मित्रों ने हमारे साथ अच्छा ही व्यवहार किया। पुरातन वादियों के मन में ऐसी घटना से अशान्ति पैदा होना स्वाभाविक भी था। लेकिन मेरा रास्ता कुछ अलग ही था और उनकी मानसिक स्थिति अपनी अलग थी।

सनातनियों का आक्रोश

उडुपि के एक पत्रकार ने तो इसी मौके पर अपना सारा विष उगला। उस प्रकार की असहनशीलता का विरोध करने के लिए मुझे उस पर मुकदमा चलाना पड़ा। यह मुकदमा हाई कोर्ट तक गया। तीनों कोर्टों में वह दोषी पाया गया और उसे जुर्माना भुगतना पड़ा। पर उसने जुर्माना न देकर वीर सनातनी के रूप में जेल जाना ही पसन्द किया।

तब से लीला लीला कारन्त बन गयी। उसकी आरम्भिक शिक्षा मराठी में हुई थी। मराठी सीखकर मंगलूर आने के बाद फिर से सारा काम कन्नड में ही करना पड़ा। विवाह के बाद भी उसने एक साल तक पढ़ाई जारी रखी। उसी समय मैं नूतन प्रवास पर चला गया। तब मेरी शाला चल रही थी। लेकिन अगले वर्ष ही वह बन्द हो गयी। अत मैं पुत्तूर में ही रहने लगा। हमारे विवाह के एक वर्ष बाद ही उनके पिता गुजर गये। माँ पहले से ही नहीं थी। इस प्रकार और कोई रास्ता न होने से, उसके लिए पति ही सर्वस्व हो गया। हमारे दीर्घ

दाम्पत्य जीवन मे कोई नवीनता नही है । दूसरो के समान ही हम भी गृहस्थ हैं। कोई ऊच नीच नही मन मुटाव भी नही, मित्रता से ही हमने गृहस्थी चलायी । गृहस्थी माने उसके सुख दुख ही तो होते है। छोटे मोटे झगडे भी होते ही ह । हम मे कोई लुकाव छिपाव न होने से गहरा स्नेह रहा है । किसी समय मैंने सोचा था कि विवाह से जीवन मे एक प्रकार का सौन्दय आता है। मेरे अनुभव ने उस बात को सत्य पाया । यह भी मैं जानता हू कि बच्चो को हम जो स्नेह देते हैं वे उससे ज्यादा आनन्द हमे देते ह । जीवन मे सहनशीलता सिखाने म बच्चा से बडा कोई गुरु नही । मेरे जसे सदा असहनशील के लिए तो यह पाठ अत्यन्त आवश्यक है । इससे पता नही मुझ मे कितना सुधार हुआ है । यह बात तो दूसरे ही बता सकते हैं ।

कष्ट मे

हम दोनो का दाम्पत्य जीवन जब शुरू हुआ तब स्त्री-पुरुष के स्नेह मे जितनी नवीनता थी उतनी ही चिन्ताएँ भी थी । साथ ही, उसकी पढाई रिहाइश की समस्या भी थी । पुराना कर्ज भी दो कारणा से बढा था । पुस्तक-प्रकाशन से लेकर छापाखाने तक मैं कर्ज मे डूबा था । इसके अलावा शाला के निर्माण का कर्ज भी जुडा था । बीच मे 'बाल प्रपच का भी बहुत कर्ज था । उसके प्रकाशको को मेरा कष्ट मालूम नही था । उनके कष्ट की ओर से मैं भी अन्धा ही बना रहा । जीवन के अति कष्ट के दिनो मे ही मुझ पर हमारी इस गृहस्थी का भार भी आ पडा ।

विवाह के एक वर्ष मे ही पत्नी ने आकर घर की जिम्मेदारी सभाली । मेरा भ्रमण तो पहले की तरह ही जारी था । 1937 तक 'बाल प्रपच' के लिए मुझे मगलूर मे ही ज्यादा समय बिताना था । उस अकेली को ही घर मे रहना पडता । शाला के बन्द हो जाने से विद्यार्थी भी न रहे । उधर मेरी पत्नी के पिता भी न रहने से उसकी बहिन भी हमारे घर ही आकर रहने लगी । पसा पसा एक भूत की तरह तग करने लगा । मायके मे मनमौजी से रहनेवाले एक छोटे से जीव को मेरे जीवन के साथ जुड जाने के कारण किशोरावस्था की कई स्वाभाविक इच्छाओ को भी दबाना पडा । उन सब को मेरे प्रौढ मन ने महसूस ही नहीं किया होगा ।

इसके अलावा, मैं एकदम उजडड हूँ । पहले से ही मग्न विचारो म डूबा रहता था । बात करते ही गुस्से मे आ जाता था । ऐसे व्यक्ति के साथ जीवन चलाना बडा कठिन रहा होगा । यह सब मेरी कल्पना है । मैं यह कह नही सकता कि वह भी ऐसा ही सोचती थी । उसने छोटी आयु मे मेरी आशा आकाक्षाओ के मुताबिक अपने को ढाल लिया था ।

इसी बीच, हमारे स्नेह को सह न पानेवालों ने हमारे बीच विवाह विच्छेद की बात भी फैलायी। बेचारे ! जो होता नहीं यदि वह हो जाय तो, वह बिगड़ गया समझने में लोगों को संतोष होता है। परंतु मेरा मन तो आत्मभाव को और गहरा बनाने का निश्चय कर चुका था। इसी से हम कई कठिनाइयों को पार करना संभव हुआ।

हमारे ज्येष्ठ पुत्र हूप के जन्म के समय बहुत ही कष्ट के दिन थे। तभी अपनी सुविधा के अनुसार घर बनाना शुरू किया था। जो मन में आता है उसे बिना आगा पीछा सोचे शुरू कर देना मेरा स्वभाव है। कर्ज-वर्ज की चिंता में चुप नहीं बैठा रहा। उस शिशु के दूध, दवा आदि के प्रतिदिन के खर्च के लिए अपना पेट काटकर, उसे सुख देने का यत्न किया। आगे, दो ढाई वर्षों के बाद, जरा अच्छे दिन आने लगे।

मुझे लगा कि इस संतान का भला क्या सुख ! पाता नहीं क्या बात थी वह सारा दिन रोया करता था। शायद स्वास्थ्य ठीक न होने से ऐसा करता था। उसे मैं गोद में लेकर घूमने लगा तो मैंने अनुभव किया कि बच्चे ही इस दुनिया की सच्ची सुख सम्पत्ति होते हैं।

बचपन में पूछा गया उसका एक प्रश्न मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। हमारे घर का एक बछड़ा मर गया था। उसे दफनाने की जगह वह जानता था। एक बार मैं उसे वहां ले गया तो उसने पूछा, 'पिताजी, मेरे मरने पर आप क्या करेंगे?"

वह रोज कुछ प्रश्न पूछा करता था। उनसे मुझे 'बाल प्रपंच' लिखने में सहायता मिली। पर कई बातें ऐसी भी थीं कि उसे कैसे समझाता पर वह कहता कि उसे सब समझ में आता है। आप बताइए तो सही ऐसी बड़ी बड़ी बातें ऐसे ही लड़के किया करते हैं ! आगे, एक वर्ष बाद, हमारे घर में एक कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम मालविका रखा गया।

बेटी का प्रश्न

एक बार मेरी बेटी मालविका ने बहुत तंग किया तो मैंने उसे डांट दिया। उसने तुरन्त कहा, 'पिताजी मैं जंगल चली जाऊँगी।' मैंने पूछा, "क्यों?' वह बोली, वहाँ शेर है, वह मुझे खा जाएगा।" मैंने कहा, "खा जाएगा तो क्या होगा? वह बोली, 'तब माला न आपको रहेगी और न माँ को। तब मेरी समझ में आया कि बच्चा का मन कितनी आसानी से दौड़ता है।

मेरे दोनों बच्चों को घर में पूरा स्वराज्य मिला हुआ था। सदा घर में ही रहते थे। लड़के ने घर में ही एक-दो साल तक पढ़ाई की। हमारे छापाखाने के कांटे जोड़कर पत्र लिखने लगा। उसके सारे बाह्य खेलों के लिए मैंने पूर्ण

स्वतन्त्रता दे रही थी। मेरी इच्छा थी कि शाला की बद से उसके मानसिक विकास मे बाधा न पहुँचे। एक दिन (1948 म) उसने शाला जाने की इच्छा व्यक्त की तो मैंने उसे शाला मे दाखिल करा दिया।

मेरा पुराने जमाने का नाटक का पागलपन, प्राणियो पर का प्रेम हमारे बच्चे को भी जा लगा। मौका मिले तो सभी बच्चो को उसमे मोह होता है।

मालविका धीरे धीरे खूब बातूनी होने लगी। कहानी सुनना उसे बडा पसन्द था। उसके लिए झूठ मूठ की कहानिया बुन कर सुनाता था। कई दिनो के बाद पूछने पर भी उन्ही को वह थोडा और विस्तार से सुना देती थी। इन शक्तियो का विकास नही करना चाहिए?

सेवा मे

शुरू मे मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नही थी। परिश्रम न करने पर भी मैं स्वतन्त्र था। पर लिये गये कर्जे कमाने को प्रेरित कर रहे थे। शाला की जिम्मेदारी पहले से ही थी। अब और पाच छह जीवो के पालन-पोषण का भार पडते ही पैसे की जरूरत और ज्यादा महसूस होने लगी। पैसा एक अनिवार्य पदार्थ हो गया जीवन के लिए। परावलम्बी व्यक्ति को समाज मे सम्मान कहा? तब से केवल सेवा के लिए पुस्तकें लिखकर दूसरो के पेट भरने का काम बन्द कर दिया। 'यदि आप अपने लिए लाभ चाहते है तो लेखक को भी उसका हिस्सा दीजिए' कहकर मैं वास्तविक दुनियाँ मे उतर आया। मेरे पुराने प्रकाशन खरीदनेवाले लोगो से प्रशसा मिलती है पर पैसे नही मिलते। दस वर्षों मे यदि 260 प्रतियाँ बिकी हो तो उससे तो उसी का खर्च नही निकल पाता। इसलिए पाठ्य पुस्तकें लिखकर, दूसरो से प्रकाशित करायी। 'बाल प्रपच' से भी मुझे सहायता मिलने लगी। परन्तु प्रकाशकों के हाथ मे पडी रचनाओ का क्या हाल होता है यह चार पाँच लोगो से समझने के बाद, मैं खुद प्रकाशक बन गया। तब मुझे कुछ प्रकाशको के मुह से यह सुनने का सौभाग्य मिला यह 'आदर्शवादी' लेखक नही रह, पैसे के लिए लिखनेवाले लेखक बन गये हैं। सच तो है उनकी इच्छा यही थी कि मैं उन जैसा रहूँ। क्या करता? इस नास्तिक को सरस्वती की पूजा का महत्त्व भला कैसे समझ मे आये?

सन 1938 40 सारी दुनिया के लिए ,बडा कठिन समय था। मुझे अपनी पुस्तको की आमदनी पर भरोसा करके जीवन चलाना बडा कठिन लगा। तब तक साहित्य मे अन्न देने की उतनी शक्ति नही आयी थी। इसलिए 'कन्नड अर्थकोश' पर काम करना शुरू किया। लोगो पर विश्वास करके उन्ही के खर्च पर कन्नड के उन सारे प्रदेशो मे घूम आया जहाँ कन्नड भाषा का प्रयोग होता है। उससे कन्नड का अर्थ समझ म आया। आर्थिक लाभ भी हुआ। कुछ न कहना शुरू

किया, 'अरे कारंत, इसमें भी घुस आये !" मैंने अपने जीवन में कोई सीमा नहीं रखी। अपने को पण्डित समझने वाले सोये रहे तो मैं क्या करता ? मैंने कन्नड़ का अर्थकोश तैयार करना शुरू कर दिया। कन्नड़ मेरी मातृभाषा है। मैं उसका शिशु हूँ। मुझ से ज्यादा जाननेवाले अच्छी कृतियाँ लिखकर जब तक देश की सेवा न करें तब तक मेरे जैसे नीम हकीम राज्य करते रहेंगे।

बढ़ईगिरी

फिर भी लिखने पर ही भरोसा करके जीने में विश्वास नहीं हुआ। दो वर्ष के साहस से यह बन्द करके एक लकड़ी के काम का कारखाना खोला। खेल के सामान फुट, रूलर आदि तैयार करने लगा। नौकरों के साथ लकड़ी चीर-चीरकर थक गया। तब दिमाग में केवल यन्त्र ही भर थे। एक-दो उपकरण अपनी कल्पना से ही बनवाये। जरा धैर्य हुआ, लगा कि यह काम चला ले जाऊँगा। पर जापान के युद्ध में कूद पड़ने से, मेरे इंजिन के लिए आवश्यक थोड़ा-बहुत तेल मिलना बन्द हो गया। केवल वार सर्विस के लिए अथवा युद्ध से पहले जिन्होंने काम शुरू किया था उन्हीं को तेल मिलता था। भला मुझे क्या मालूम था कि युद्ध शुरू हो जाएगा ? यदि यह मालूम होता तो गत शताब्दी में ही पैदा होकर अब तक यात्रा समाप्त कर देता।

भाग्य की राह में

तब क्या मैं उस युद्ध में सहायक हो जाता ? एक दो सुझाव युद्ध की सामग्री तैयार कराने के भी आये। परन्तु सन 1942 में परोक्ष रूप से राजद्रोह का प्रेरक मैं स्वयं युद्ध में सहायक कैसे बनता ? तब तो मुझे अपनी पत्नी से युद्ध करना पड़ता। उसके लिए तेल की जरूरत नहीं थी। सन 1943 तक फिर से अँधेरा छा गया। लगायी गयी पूँजी और किया गया कार्रवाई भी काम नहीं आया। युद्ध समाप्ति तक अपना कारखाना बन्द रखता तो मेरा हाल क्या होता ? इसलिए जरा सही दाम मिलते ही मैंने कारखाना बेच डाला। अब मेरा ध्यान मेरे पिछले धन्धे से सम्बन्धित छापाखाने की ओर गया। युद्ध के कारण मुफ्त का धन नाचने लगा। लोग पढ़ने लगे। पुस्तकें ज्यादा बिकने लगीं। सौ पृष्ठों की घटिया कागजवाली पुस्तक के डेढ़ रुपये दाम रखने पर भी लोगों को नोट से कहीं वह अधिक सस्ती लगने लगी। लगा कि मेरे जैसे कुछ लेखक तो उससे अपना जीवन चला सकते हैं। यों छापाखाना में काम ज्यादा होने लगा था। मैं पाठ्य पुस्तकों का उपजीवी था। सौ पृष्ठों की पुस्तक को लगभग चार आने में बेचना होता था। गाँव के छापाखानों को ज्यादा पैसे देकर छपाने की अपेक्षा

काम ही छोडना बेहतर लगा। या फिर अपना ही छापाखाना खोलना चाहता था। वसा ही किया। तब मैं अखण्ड रूप से साहित्य सेवा करने लगा। लिखकर, छापकर, प्रकाशित करके पढने तक मैं स्वतन्त्र था। कुछ समय बाद उससे जीवन का सघर्ष जरा हल्का हुआ।

और दो

दस बारह वर्षों के बाद, हमारे परिवार में और दो बच्चे पैदा हुए। उनमे बडे का उल्लास और दूसरी का क्षमा नाम रखा। चार बच्चों के परिवार को चलाने की जिम्मेदारी काफी भारी थी। सन 1959 तक तो पुस्तक प्रकाशन से जीविका चलानी थी। केवल उपन्यास ही बिकते थे। काव्य को तो स्वयं छापकर प्रकाशित करने पर भी सारी आमदनी पुस्तक प्रकाशन में ही गल गयी इसलिए कोई और आमदनी का रास्ता ढूँढना पडा। प्रेस चलाना भी आसान काम नही रहा। लेखन और प्रवास में मेरा सारा समय लग जाता था अतः मैं प्रेस में ज्यादा बैठ नही पाता था। घर और बच्चों की देखभाल ही ज्यादा होने से लीला भी उसे देख नही पाती थी। बडी अव्यवस्था रही। अपना समझकर जिस लडके पर वह जिम्मेदारी छोडी थी वह मौके से लाभ उठाकर अपना उल्लू सीधा करने लगा। लाभ की जगह हानि होने लगी। जाँच करने पर पता चला कि बाहर के कामों का बिल तैयार नही होता था। तीन वर्ष की अवधि में कुछ हजार रुपये खोकर अक्ल आयी।

हूप

बडे लडके ने हाई स्कूल की पढाई पूरी की। उसे उडुपि के कालेज में पढने लिए बडी कठिनाई से भेज सका। यह पता चलने पर कि उस कॉलेज की पढाई पसन्द नही आयी, उससे घर ही आकर रहने के लिए कहा। सोचा कि जबरदस्ती की पढाई उपयुक्त नही। छोटी आयु का होने पर भी कुछ वर्ष तक उसी ने प्रेस सभाला। गाँव में और भी प्रेस खुलने लगे। प्रेस के बाहर की आमदनी जाती रही।

उसी जमाने में बेटे को स्वतन्त्र उद्योग करने की इच्छा हुई। तब मुझमे उसके लिए पूँजी जुटाने की शक्ति नही थी। उसके उत्साह को भंग नही करना चाहिए सोचकर कर्ज करके थोडी बहुत पूँजी जुटाई। उसके अपने मित्र भी सहायता करनेवाले थे। उसने बिजली के सामान की एक दुकान खोली। वह भी एक कहानी बन गयी। तीन वर्ष तक बेचारे ने दिन रात परिश्रम किया। वह उधार सामान मँगाकर बेचा करता था। पर सारे सामान का क्या हुआ, पैसे का

गया हुआ इस तरफ उसका ध्यान नहीं रहा। दुकान की देखभाल करने के लिए एक जान पहचान के महानुभाव मिले थे। उन पर हम सबने विश्वास किया। वैसा विश्वास करने पर धोखा ही होता है—यह ध्यान में आने तक काफी कुछ सफाया हो चुका था।

नुकसान

तीन वर्ष की अवधि में मूल से पन्द्रह हजार रुपये का कर्ज सिर पर चढ़ चुका था। बेटा कर्ज उतारने में असमर्थ रहा। अन्न जल छोड़ बैठा। "अब व्यापार बहुत हो गया" कहकर मैंने उसे अज्ञातवास पर भेज दिया। मेरे लिए 'विज्ञान प्रपंच' का भार बहुत हो गया था। अकेले उसी का लगभग पच्चीस हजार का कर्ज हो गया था। अब बेटे का भी पन्द्रह हजार का कर्ज सिर पर आ गया। इतनी मुसीबत ही पर्याप्त नहीं थी, पत्नी का स्वास्थ्य भी खराब होने लगा। प्रेस के सात-आठ नौकर मेरे विरोधी हो गये। जैसी स्थिति थी उसी में कोई न कोई हल ढूंढना था। तब प्रेस के कुछ यन्त्र बेचकर कुछ भार उतारा। एक मित्र ने उस समय मुझे बड़ा धैर्य बंधाया। उसी समय मेरा 'यक्षगान बयलाट' पुरस्कृत हुआ। बम्बई के मित्र ने एक निधि प्रदान की। उन सबसे बेटे का कर्ज उतारने में काफी सहायता मिली।

मेरा मन जब कुछ शान्त हुआ तब मैंने बेटे का हिसाब किताब जरा उलट पलटकर देखा। अब तक बड़े बेटे रूप के अविवेक पर दुखी हुआ था, गुस्सा भी किया था। उसके बही खाते में उसके विश्वस्त मैनेजर के हाथ की करामात स्पष्ट दिखाई दी। मन थोड़ा हलका हुआ। समझ में आया कि विश्वास करने वालों को धोखा देने पर ही कुछ लोगों को सुख मिलता है। लड़का बड़ा दुखी रहता था। उसे जरा शान्ति मिले सोचकर बम्बई में अपने एक मित्र के पास भेज दिया। मैंने सोचा था कि उनके साथ रहकर कुछ लोक व्यवहार सीखेगा, बाद में गाँव में ही आकर अपनी इच्छा का कोई स्वतन्त्र धन्धा कर लेगा। वहाँ उसने अपने मालिक का विश्वास प्राप्त किया यह जानकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

अब तक मुझ पर 'विज्ञान प्रपंच' का कर्ज था। साथ ही, उसके कर्ज का भार भी था। पढ़ने और लिखने का काम भी था। इतना काम था कि चिन्ता को भूलना ही पड़ा। पत्नी का स्वास्थ्य कुछ सुधरने लगा था यही एक तसल्ली की बात थी।

बेटे का भविष्य

मैं एक बार दिल्ली गया। जब लौटते हुए बम्बई गया तो मेरा बेटा मुझे

कपडे बदले। वे सब उसके सामने पक्ति म खडी होकर रो रही थी। उसे देखकर विचार आया— बेचारी वे क्यो उस बच्चे के लिए आँसू बहा रही हैं ?

प्रकृति ने हमे जो दिया था वह प्रकृति वापस ले गयी। अब रह गया था बेटे का केवल पार्थिव शरीर। मित्रो ने उसे श्मशान ले जाने की तयारी की। एक मित्र ने मेरे हाथ मे एक माला दी। वह मैंने उसके गले म डाल दी। मेरे दोनो हाथो ने अपने आप जुडकर उसको नमस्कार किया। तब उसका बचपन मे पूछा प्रश्न याद हो आया। वह प्रश्न था 'पिताजी मैं मर जाऊ तो आप क्या करगे ?'

एक वष पहले उस बच्चे के व्यवहार शून्य काम को देखकर, उस पर गुस्सा किया था। तीखी बातो से उसे दुखाया था। अगले वष उसका वनवास देखकर दुखी भी हुआ था। अन्त म उसके असीम धय, उदार स्नेह को दखकर आनन्दित भी हुआ था। बचपन म वह सदा रोया करता था। मैं उसे छाती से लगाकर घूमा करता था। उसी याद को लेकर अन्त मे मैं श्मशान-यात्रा मे गया। जब सब यादें एक साथ आती है तो जीवन का विस्तार, वचित्र्य, माया, सौ दय एक एक करके याद आते हैं। पुरुष होकर मैं यह सब कह रहा हूँ, ज म देनेवाली माँ के दिल का क्या कहू उसे शान्ति कहाँ ?

बाकी लोग

चार थे, तीन ही रह गये। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के समय, केवल दो ही थे न ? बाद मे मेरी बेटी मालविका ने कॉलेज की पढाई पूरी की। आगे पता नहीं क्या उसे मनोविज्ञान पसन्द आया। उसी म एम ए करके आगे दो वष तक और अध्ययन करती रही। बाद म वह अपने पाँव पर आप खडी होने लायक हो गयी।

इस अध्याय को जोडते समय बेटे उल्लास ने हाई स्कूल की पढाई खतम कर ली है। डेढ वष बाद उसके बाद वाली क्षमा मट्रिक कर लेगी। इस प्रकार बच्चो के बडे होने का दृश्य बडो के लिए सदा सन्तोषप्रद होता है। पर वे बड होने के साथ बडो से चिपके नहीं रहेगे, अपने अपने राज्य के सपने देखने लगेंगे। देखना ही चाहिए। तब बडो से दूर होना ही पडता है।

तब बच्चो के बिना घर एकदम वीरान जगल लगता है। बचपन के असम्बद्ध प्रलाप से मन को जो सन्तोष मिलता है उनके प्रबुद्ध होने पर उनका तक, उनकी विद्वत्ता माता पिता को उतना सुख नहीं दे पाते। उसका आकषण कुछ और ही होता है और इसका कुछ और।

याद आने पर

उडुपि मे

सन् 1962 के वर्षाकाल मे मैंने उडुपि म दो मास बिताये। तब मैं यक्षगान नृत्य का एक प्रशिक्षण चला रहा था। अधिकांश लोग उसी तरफ के थे। उनकी सुविधा की दृष्टि से ही मैंने वहा यह उद्यम किया था। मित्र कु शि हरिदास का घर ही मेरा मुकाम था। उस दम्पती के व्यवहार ने मुझे उनके घर को अपना घर समझने म मजबूर कर दिया था। मैं अपने काय मे लगा था कि परोक्ष रूप से पता चला कि मेरे मित्र हरिदास भटट कुछ हिकमत कर रहे हैं। व मेरी साठवी वषगाठ का आयोजन कर रहे थे। उसी सिलसिले म उडुपि के मेरे कई मित्र बडे उत्साह म इस काम म जुटे हुए थ। एक बार रोगटे खडे हो गये। वास्तव म मुझे ऐसी औपचारिकताओ से तप्ति नही होती। उस बहाने मैं अपने को अमर बनाना नही चाहता था। मेरे प्रति प्रेम और विश्वास के कारण वे वह आयोजन करने जा रहे थे। उनका उत्साह भग करने का भी मेरा मन नही हुआ। स्नेह और प्रेम के आगे भला मेरी क्या बिसात! इस प्रकार उन्होंने यह याद दिला ही दी कि मैं साठ वष का हो रहा हूँ। इधर इस आशय के पत्रिकाओ मे लेख भी छपने लगे। दूसरे भी ऐसे समारोह मनाने का उत्साह दिखाने लगे। धारवाड के विद्यारण्य के हाई स्कूल वालो ने उडुपि से भी पहले यह आयोजन कर डाला। मुझे एक विद्यार्थी-सम्मेलन मे बुलाकर उसी के साथ वह उत्सव भी मना लिया।

10 अक्टूबर 1902

मुझे याद है कि मेरा जन्म 1902 मे दस अक्टूबर को हुआ था। गत साठ साल म पता नही क्या-क्या हो गया है! मुझे अपने जन्म दिन को याद करने का उत्साह ही नही है। साहित्यकार होकर जबसे भ्रमण करने लगा, आमतौर पर अपने जन्म दिन पर गाँव म ही नही रहता था। कुछ वर्ष पूर्व मैं सतारा गया था। वहाँ एक मित्र ने मेरे लिए वहाँ के कुछ गहस्थों को बुलाकर चायपान का आयोजन

किया था। तब मेरे साथ के एक मित्र मुझसे यों ही पूछ बठे, "आपकी क्या उमर है ?" उन्हें बताते समय याद आया कि मेरा जन्म दस अक्टूबर को पड़ता है। हँसते हुए बोला 'आज तो यह मेरा जन्म दिन ही मना रहे हैं आप।"

इस प्रकार अनजाने ही ये साठ वर्ष नदी के जल के समान बह गये। साठ कोई ज्यादा नहीं। मेरे ऊपर विश्वास और अभिमान रखनेवालों को वह बहुत लगे होंगे। उडुपिवालों ने वह दिन बड़ी खुशी से मनाया। हरिदास भट्ट और उनका मित्रवर्ग—पै व धु, डा० ऐताल सब मेरे पुराने परिचित हैं। उस दिन उनके द्वारा की गयी प्रशसा सुनते हुए मैं बहरा ही बना रहा। मैं इतना ही कह सकता था 'मैं आप सबके विश्वास के लिए बहुत ऋणी हूँ।"

उडुपि के उदाहरण को कर्नाटक के कई नगरों ने दोहराया। मैं सारा साल सम्मान बटोरता शिवमोगा, अकोले धारवाड मैसूर, भद्रावती आदि स्थानों में जाकर उनके ऋण के भार से और अधिक दबकर लौटा। कई पत्रिकाओं ने, एक लेखक को जो सम्मान दिया जाना चाहिए, उससे भी ज्यादा सम्मान व्यक्त किया।

ऐसे लोगों में मेरे घनिष्ट मित्र, साधारण परिचित बाल्य मित्र, सभी हैं। कुछ लोगों ने घर में भोजन के लिए बुलाकर, आसन पर बिठाकर मुझे भेंटें भी दीं। तब मुझे यह सन्देह हुए बिना न रहा कि वाकई में मैं उनके प्रेम और प्रीति का भाजन रहा हूँ।

एक ही याद

लेखक प्रकाशन सुविधाओं के अनुग्रह से हजारों लोगों के सामने आता है। जो उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते उनको भी वह मोहित कर सकता है। मेरे लेख और रचनाएँ आमतौर पर मनोरंजक नहीं होतीं। मेरी रचनाओं में मिठास से ज्यादा खटास रहती है। कुछ लोगों के दृष्टिकोण में मैं वास्तविक समाज से बहुत दूर हूँ। परम्परावादियों की दृष्टि में एक 'नास्तिक' हूँ पर वे ही लोग मेरी साठवीं वर्षगाँठ मनाने के बहाने मेरा सम्मान करने लगे तो मैं समझता हूँ कि उनकी उदारता महान् है।

मंचिकेरी के गणपति भट्ट मेरे पुराने मित्रों में से एक हैं। उनके पास मैं एक बार गया था पर उनका स्वभाव कुछ ऐसा है कि मुझे बार बार उनके पास जाने की इच्छा होती है। जब मैं एक लम्बे दौरे पर था, मुझे पता चला कि वे हमारे घर आये थे। तब मैं यक्षगान के प्रदर्शन के लिए सागर गया था। वहाँ से मुझे चार दिन का अवकाश मिला था। मुझे फिर से सागर जाना था। हेगडेजी धारवाड का मेला देखने आये हुए थे। उन्होंने पूछा, "हमारे यहाँ नहीं चलना ?" मैंने कहा, 'आपके अपने गाँव पहुँचने से पहले दीवाली पर मैं आपके यहाँ पहुँच

जाऊगा। दूसरे दिन घनघोर वर्षा रही। मैं उनके गाँव गया। वे मुझ से पहले गाँव पहुँच गये थे। उनके यहाँ त्योहार था। दूसरे दिन भी वर्षा न घर लिया। उस दिन धन लक्ष्मी की पूजा थी। मुझे लगा कि वे उस दिन एक साहित्यकार की पूजा करने का निश्चय कर चुके थे।

मचिकेरी मे सभा हुई। वह मेरे सम्मान के लिए आयोजित की गई थी। सकडो जन घर से त्योहार छोडकर, वषा मे पदल चलकर गाडी म बैठकर वर्षा मे भीगकर आय थ। वडी सी एक छत पर लोग इकटठे हुए थे। मुझे भी उसी ऊचे स्थान पर चढाया गया। नौ सौ रुपये की दक्षिणा मिली। जब मैं वह सेवा याद करता हूँ तो सोचता हूँ कि उस अरण्य मध्य मे निवास करनेवाले उन मेरे मलनाड के बन्धुओ का प्रिय साहित्यकार कैसा मूक नही होगा! वहाँ यह मेरा दूसरा सम्मान था। जब भी उनके असीम गौरव दान को याद करता हूँ तो ऐसा लगता है कि उनकी कल्पना के कारत का चित्र मेरा नही रहा होगा।

और दो मधुर स्मृतियो का उल्लेख करना गलत न होगा। एक सागर का सम्मान था दूसरा भद्रावती का। मुझे लगा था जसे सागरवालो ने अपने शहर के सारे सुगंधित चन्दन के हार मुझ अकेले का दे दिय। साठ साल पूरे करने के अवसर पर साठ हार पहनाये गय। चन्दन के हारा से पता नही मैं कितना सुगन्धित हो उठा था!

भद्रावती के मित्र तो उनसे भी बाजी ले गये। उन्होने तो गाडियो मे फूलो के हार लाकर उनस मुझे लाद दिया और खुशबू से नहला डाला।

ऐसे लोगो की प्रशसा और स्तुति म मैं क्या कहता? मैं क्या उत्तर दे पाता? "मैं आपका ऋणी हू, ऋणी हूँ, ऋणी हू' बस इतना ही कह पाया।

शिवमोग्गा के लोगा न उदारता स निधि देकर सम्मानित करत समय मेरे काम को बडा हलका कर दिया। मैं सोच मे पडा था कि क्या कहू। उन्होने मेरी जीवन दृष्टि जाननी चाही। मुझे भूल गये थे। उन्होने समस्त जीवन के बारे मे विचार करने का अवसर दिया। जीवन के प्रवाह मे मैं एक बूद के अलावा और हूँ क्या?

बडो का आशीर्वाद

मेरे इक्सठवें जन्म दिन पर जब इतने कार्यक्रम चल रहे थे तब मेरा चुपचाप बठे रहना उचित था? अपने आपको बडा समझने म किंचित मात्र भी आकर्षण नही होता है। क्या मैं भी असम्ख्य जनता का ऋणी नहा हूँ? बुजुर्गों, पूवजो और दूसरो का दिया ज्ञान सरोवर न होता तो मरी भूख, मेरी तषा कभी तृप्त हो पाती?

इसी कारण आठ दस वर्ष पहले, जब मुझे साहित्य परिषद का अध्यक्ष चुना गया था, वहाँ जाने से पूर्व तीन बुजुर्गों को पत्र लिखकर उनके आशीर्वाद मांगे गये। इस साठ कार्य में पत्र लिखना उचित नहीं लगा। चार दिन पहले मजेश्वर जाकर श्री गोविन्द पै के दर्शन करके उन्हें नमस्कार किया था। उनकी प्रीति, उनका विश्वास मेरे लिए सदा स्मरणीय है। उस दिन भी उन्होंने मुक्त कण्ठ से आशीर्वाद दिया। पर मैंने यह नहीं समझा कि वह मेरी और उनकी अंतिम भेंट होगी। प्रत्येक को अपना समय आने पर जाना ही पड़ता है। वह घटना इस चिर सत्य की एक साक्षी थी।

बम्बई

यह कहूँ तो गलत न होगा कि बम्बई मेरे लिए कन्नड जाननेवालों तक ही सीमित थी। यह बात नहीं कि दूसरी भाषा वालों से परिचय नहीं था। पर वहाँ के कन्नडभाषियों का प्रेम स्मरणीय है। अतः वे मेरे लिए बड़े प्रिय हैं। जब मैं पहली बार यूरोप गया तब उन्होंने सम्मान सहित विदा दी। मेरे लौटने पर स्वागत किया। जब मुझे केन्द्रीय साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला तब भी एक निधि देकर सम्मानित किया। उन्होंने ही फिर इक्सठवीं वर्षगाँठ मनाकर पुनः सम्मानित किया। इस बार भी उन्होंने एक निधि प्रदान की।

इस प्रकार दस लोगों से दक्षिणा पाने वाले का कष्ट ज्यादा होता है। साठ पूरा हो जाने पर इस सबको पेंशन समझूँ? लोग यह आदर हमारे काम के लिए दिखाते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि हमारा काम उनका ही है। उन कामों का कोई अन्त नहीं होता है। जीवन प्रवाह का जब तक अन्त नहीं आ जाता तब तक करने के लिए काम करना ही होता है। इसलिए उनका स्नेह इस बूढ़े शरीर में शक्ति भरने का एक प्रयास ही मानना चाहिए।

विश्वविद्यालय

एक दिन बैंगलूर के एक मित्र के घर में समाचार पत्र से पता चला कि कर्नाटक विश्वविद्यालय ने मुझे और अन्य दो महानुभावों को मानद डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान करने का निश्चय किया है। अन्य थे श्री सी जी देशमुख, एन आर गाडगील जो भारत भर में प्रसिद्ध थे। मैं कर्नाटक का था। उस समाचार ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया। आगे उन्हीं से पत्र आने पर मैंने अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। इस प्रकार डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान करना एक परिपाटी तो है, पर मैंने इस बात की कल्पना नहीं की थी इसीलिए आश्चर्य हुआ। उसका मुख्य कारण यह था कि मैं विश्वविद्यालय का एक सामान्य उपाधिधारी भी नहीं था।

उसी वर्ष (1963 में) प्रशस्ति स्वीकार करने के लिए मुझे बम्बई से वहा जाना पड गया। उस प्रशस्ति समारोह मे उस दिन उस वर्ष के सकडो स्नातक और अन्य अनगिनत प्रेक्षक एकत्रित थे। उस दिन की सभा धमधाम से सम्पन्न हुई। तब के कुलपति श्री पावटे ने ही मेरे 'विज्ञान प्रपच' को पहली बार केन्द्र सरकार को सिफारिश की। मेरे बारे मे उन्होंने जो विश्वास दिखाया उसका मै बडा कृतज्ञ हूँ। उस दिन तो हम तीनो अतिथियो को डिग्री प्रदान करने के बाद कई दिनो से गुस्से मे बैठा देवराज इन्द्र एक घण्टे तक लगातार बरसता रहा।

उस दिन हमारे बाद के जिन सैकडो स्नातको ने डिग्री को परिश्रम से ही प्राप्त किया था, वे बेचारे वर्षा मे भीगते रहे। मलेनाड के एक साहित्यकार को बुलाकर सत्कार करने से ही उस दिन ऐसी वर्षा हुई होगी। बिना कुछ कहे हमें वह डिग्री लेनी पडी। हमारे बारे मे विश्वविद्यालय वालो ने बडी उदारता से कुछ बातें कही। जिन्हे लेकर बाद मे पत्रिकाओ मे बडी टीका टिप्पणी हुई। लेकिन उनकी बातो मे भले ही कोई दोष रहा हो पर हमारे सम्मान को चोट करनेवाली कोई बात नही थी। अगर उसे याद करू तो मुझे राज ही होनेवाली एक चीज याद आती है। किसी विशिष्ट मित्र के घर आने पर हम प्राय कहा करते है 'आपकी मेहरबानी है कि आप पधारे।' इसका यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि 'कृपा करके चले जाइए।'

सम्मान के बाद

यह सम्मान लेने के बाद मैं जल्दी से बम्बई पहुँचा। उसी दिन होनेवाले यक्षगान मे मेरी उपस्थिति अनिवार्य थी। उसी मौके की ताक मे बठे मेरे मित्र श्री व्यासराय बल्लाल ने सभा को सम्बोधित करते समय डा कारन्त कहा तो मुझे चारो ओर देखना पडा कि वह कहाँ है'। इस उपाधि के मिलने से मैने सोचा कि यह एक नयी मुसीबत शुरू हो गयी।

उसी वर्ष मसूर विश्वविद्यालय ने भी अपने हिस्से का गौरव यानी एक और डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की। तब भी मुझे बम्बई से वहा भागना पडा था। उस समय भी बम्बई मे यक्षगान नत्य के बदले जीवन एक दारुण नाटक ही हो रहा था। मेरी पत्नी पर जो विपत्ति टूट पडी थी उसके कारण मैं वहाँ था। उसके कॅसरग्रस्त गर्भकोश की उन्ही दिनो शल्य चिकित्सा हुई थी। उसे टाटा अस्पताल मे ही छोडकर उसकी चिकित्सा करनेवाले डा बोरगी से जब अनुमति माँगने गया तब मैं अपने को चोर महसूस कर रहा था। उन्होने तो उदारतापूर्वक 'आप हो आइए, हम यहाँ हैं। आपको किसी बात की चिन्ता करने की जरूरत नही' कह दिया। मैं भी जल्दी से निकल पडा।

इस प्रकार कर्नाटक के दोनो विश्वविद्यालयो ने मेरे काम को देखकर जो

सन्तोष व्यक्त किया उस में उनकी उदारता ही मानता हूं। इस दूसरे अवसर पर श्री पावटजी भी उस दिन के समारोह में मेरे साथ सम्मानित उपाधि लेनेवाले थे। तब सरदार पणिक्कर कुलपति थे। उस समय की एक दुखद घटना मैं बताये बिना नहीं रह सकता। प्रशस्ति प्रदान करते समय या बाद में श्री पणिक्कर को स्वयं आमंत्रित किये गये मुझ जैसे व्यक्ति से बात करने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। इस याद से एक और घटना याद आ गयी। राजा हाथीसिंह की 'चीन यात्रा' पुस्तक का अनुवाद करते समय एक विषय मेरे ध्यान में आया था। हाथीसिंह जब चीन गये तब सरदार पणिक्कर चीन में भारत के राजदूत थे। नेहरू जी और राजा हाथीसिंह जीजा साले थे ही। दूसरे राजनीतिक दल से सम्बन्धित होने के कारण पणिक्कर ने उनके साथ बड़ा अनुदार व्यवहार किया था—यह बात मैंने कहीं पढ़ी थी। मैं वयक्तिक अनादर की स्मृति लाद कर बम्बई जाने के लिए मंगलूर पहुँचा। तभी वहाँ की एक पत्रिका में श्री पणिक्कर के निधन का समाचार पढ़ा। तब मन को बड़ा बुरा लगा। यह सच था कि उनकी काफी आयु हो चली थी। पर हठात उनके इस प्रकार चले जाने की बात पर विश्वास कर पाना भी कठिन था।

प्रशंसा

साठ वर्ष के अपने छोटे से जीवन में मैंने जीवन के बहुत से उतार चढ़ाव देखे थे। उनका खूब अनुभव किया था। कर्नाटक की जनता ने मेरे प्रति जो आदर और मान दिखाया उसके कारण मुझे गर्व करने की कोई बात नहीं थी। सब में यह इच्छा रहती है कि लोग हमें पसन्द करें। हमारा काम दूसरों को पसन्द आये यह इच्छा होना बड़ा स्वाभाविक है। हम साहित्यकारों का लिखना भी इसी उद्देश्य से होता है कि दूसरों को कुछ समझा सकें। पर उनको भी हमारी तरह स्वविचार शक्ति विकसित करनी चाहिए और समीक्षात्मक दृष्टि से विषयों को स्वीकार करना चाहिए। हमें यह भी समझना चाहिए कि उनका मन हमारी ही तरह का होना आवश्यक नहीं।

यह तो हुई पाठकों की बात। अब प्रश्न यह है कि कुछ शहरों में जहाँ मेरा सम्मान किया गया वहाँ हजारों लोग एकत्रित हुए। मुझे मालाएं पहनायी गयीं प्रशंसा की गयी। क्या उन सबने मेरी पुस्तकें पढ़ी थीं और उन्हें पसन्द आयी थीं? यदि ऐसा हो तो मेरे जैसा लेखक स्वर्ग में उड़ सकता है। पर वास्तव में वहाँ एकत्रित लोगों में सौ में से दस ने भी मेरी किताबें छुई होतीं तो मैं अपने को भाग्यशाली मानता। चन्द लोगों ने ही उन्हें पढ़कर पसन्द किया होगा। उनकी प्रशंसा सुनकर शायद जनता ने भी—यह एक महान् व्यक्ति है समझकर उस उत्सव में भाग लिया होगा।

कर्नाटक में सहृदय पाठकों की संख्या कितनी होगी यह पुस्तकों की बिक्री से पता चल जाता है। पहले हजार प्रतियाँ के बिकने में दस वर्ष लग जाते थे। अब भी उनके लिए कम से-कम तीन साल तो चाहिए ही। यदि वह दुबारा प्रकाशित हो जाये तो उसे बिकने में तो पूरे दस साल चाहिए। हमारे लेखकों में ऐसे कितने लोग है जो दूसरा संस्करण छपवाने का साहस करते हैं? यह ठीक है कि पहले से अब परिस्थिति में सुधार आया है।

साधारण जनता उपन्यास और कहानियाँ ही पसन्द करती है। यदि उन्हें अच्छे निबंध अथवा बौद्धिक स्तर की कुछ अन्य पुस्तकें दी जाएँ तो चार पांच प्रतिशत पाठक आगे आ ही सकते हैं।

इसलिए यदि लोग प्रशंसा करके सम्मान प्रकट करते हैं तो लेखक को अपने को बहुत ऊँचा समझने की जरूरत नहीं। वह जमाना अभी बहुत दूर है। कर्नाटक में कितने लोग अपनी लेखनी द्वारा अपनी जीविका चला रहे हैं? पाठ्यक्रम की पुस्तकें लिखनेवालों को तो यह सुविधा है। वह क्षेत्र ही दूसरा है। परन्तु इस के लिए हम किसी को दोष देने से लाभ नहीं। देश की मन्द गति ही उसका कारण है। बौद्धिक क्षेत्र में परिश्रम करने वाले केवल लेखक ही अपने लोगों से बहुत आगे जा सकते हैं। उनका मन कई ओर चल सकता है चलना भी चाहिए। परन्तु उनकी लेखनी के आकर्षण से सारी जनता उनके पीछे चली आयेगी यह सोचना गलत है।

बीस वर्ष बाद

आगे की कहानी

मैंने अपनी यह आत्मकथा अपनी षष्ठिपूर्ति तक लिखकर बन्द कर दी थी। आगे उस ओर मेरा ध्यान नहीं था। इसके अतिरिक्त काल क्रमानुसार हुई घटनाओं की ओर ध्यान न देकर अपने जीवन में जिन विषयों पर विशेष अभिरुचि थी उन्हीं को स्मरण कर मैंने स्मृतिपटल शीर्षक से तीन खण्डों में एक पुस्तक लिखी थी। इसका अर्थ यह नहीं कि इस अवधि में मेरी अभिरुचियाँ, विविध विषयों के सम्बन्ध में जानने की चपलता और क्रियाकलाप समाप्त होते गये। वास्तव में एक-एक विषय पर मैंने जो काम किया उससे लोगों को लाभ होगा यह सोचकर ही मैंने 'स्मृतिपटल' के तीनों खण्ड लिखे थे। इसलिए फिर से उसे ही आत्मकथा के रूप में लिखूं तो पुनरावृत्ति होगी, सोचकर मैं चुप रहा। लेकिन बाद में पता चला कि कुछ मित्रों को तो आत्मकथा में ही अभिरुचि है। अतः उन्हीं के आग्रह पर कालक्रम से आगे के दो दशकों की कहानी लिखकर जोड़ रहा हूं। उमर बीतते बीतते जीवन की यादें न चाहते हुए भी मिटती चली जाती हैं। जीवन में आकर्षण उत्पन्न करनेवाली कुछ ही घटनाओं की यादें जीवन के साथ चिपककर ही रह जाती हैं। अतः ऐसे विषयों पर लिखना संभव होगा सोचकर आगे के जीवन के अनुभवों को भी इस संस्करण में जोड़ रहा हूं।

आगे का जीवन

जैसा कि मैंने अभी कहा यह लगभग दो दशकों की कहानी है। इस अवधि में मेरी दैहिक क्रियाएँ घटने पर भी जीवन को जानने का कौतूहल, उपयुक्त जीवन निर्वाह के दैहिक और मानसिक क्रियाकलाप निष्क्रिय नहीं हुए। फिर भी कई घटनाओं के बारे में लिखते समय थोड़ा आगे पीछे होना संभव है। इस अवधि में मेरे क्रियाकलाप कला प्रपंच तक ही सीमित रहे। पहले से चली आ रही यक्षगान की आसक्ति तो एक थी ही। दूसरी है चित्र और शिल्पकला, जो मानसिक अभिरुचि का कारण है। यह जानते हुए भी कि उसमें प्रवेश करने के लिए

अपेक्षित योग्यता मुझमें नहीं है, जो कुछ जानता था उससे अधिक जानने का प्रयास किया। यक्षगान के प्रति मेरी आसक्ति उसके सृजन से सम्बंधित है। दूसरी कलाओं के बारे में ऐसा नहीं। लेकिन इन दोनों आसक्तियों ने कला सृष्टि और उनके बारे में ज्ञान संग्रह के प्रयोजन से मुझे देश विदेश घूमने को प्रेरित किया।

यक्षगान

यह आरम्भ से ही मेरा प्रिय विषय रहा है। गान माध्यम से भावाभिव्यक्ति की इच्छा कभी कम नहीं हुई। बहुत पहले कुट्टेक गेय नाटकों में हिंदुस्तानी और लोक गीतों की शैली का प्रयोग कर अपने मन की तरंगों को अभिव्यक्ति दी थी। इस विषय में मुझे प्रेरणा देनेवाले डा० अर्नाल्ड बाके के इंग्लण्ड में निधन हो जाने के बाद भी वह आकांक्षा कम नहीं हुई। उन्हीं के समान लोक गीतों का संग्रह करने की इच्छा मैंने आज भी सजो रखी है।

रागों का अन्वेषण

मैंने रागों का संग्रह करनेवाले व्यक्तियों को देखा है। सन 1958 में लगभग मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि यक्षगान में सैकड़ों राग हैं। क्या उन सबका परिचय हमारे भागवतरों को है? ब्रह्मावर में मैंने एक यक्षगान की गोष्ठी का आयोजन किया था। तब पाँच छह विस्मृत हो चले रागों को पहचान पाना संभव हुआ। उदाहरण के लिए पचागति, ढवलार, तुळुहावु तु मचाली आदि रागों ने मेरा ध्यान खींचा। मेरी षष्ठीपूर्ति के समय कर्नाटक के विविध नगरों ने मेरे सम्मान में धन के रूप में जो भेंटें दी उससे इसके अनुसंधान की सुविधा हुई। सन 1962 के बाद मैंने उसी के लिए फिलिप्स टेप रिकार्डर खरीदा। मैंने ध्वनि मुद्रण (Recarding) में निष्णात बेंगलूर के अपने मित्र श्री केशवमूर्ति और श्री रामभूति की सहायता ली। इस काम के लिए मुख्य रूप से भागवतरों की ही आवश्यकता थी। उन्हें आमंत्रित करके उडुपि में एक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया। मित्र श्री हरिदास भट्ट के घर के पिछवाड़ेवाले सोन्मठ के भवन में तीन चार दिन दो-दो बार बैठक करके काम किया। उस समय भागवतर शेष गिरि किणी जीवित थे। उन्हें अप्पार कृष्ण वय और श्रीनिवास नायक जा गा नहीं पाते थे, नारणप्पा उप्पूर, राम गाणिग और रामचन्द्र नाउड—सबको बिठाकर उन्हें सात सारे गीत रिकार्ड कराये। यह काम कराते समय कर्नाटक संगीत के विद्वान श्री श्रीनिवास उडुप को साथ ही रखा था। उनकी सहायता से सैंकड़ा गीतों को न केवल रिकार्ड किया अपितु राग और ताल के नाम भागवतरों से पूछकर लिख लिये गये। बाद में

एक और विद्वान मित्र की सहायता ली। व थे बंगलूर आकाशवाणी के श्री ए० वी० कृष्णमाचार्य। उन सभी गीता को सुनकर, भागवतरा ने भले ही उनका नाम कुछ भी बताया हो, उन्होंने खुद सबका नाम ठीक स निश्चित किया। इसस यह लाभ हुआ कि नाम भूल जाने पर भी भागवतरा को कण्ठस्थ गीता के नाम पहचानने म सुविधा हो गयी। राग व दावनी, व दावनी सारग हो गया था। राग कानड हिन्दुस्तानी हम्मीर राग बन गया था। द्विजावन्ती हिन्दुस्तानी का जय जयव ती राग था। राग 'गुजरी' हिन्दुस्तानी की गुजरी तोडी' था। राग 'कोरवी' के बारे मे थोडा बहुत वाद विवाद रहा। वह कर्नाटक का 'कुरजी राग' था। और भी नाम इस सूची म जोडे जा सकत है।

बाद मे सात आठ वष उपरा त, एसी ही एक और गोष्ठी की। तब जिले के दक्षिण भाग के भागवतर जोइसो को बुलाया था। वध ती मेला क घोटपडे को भी बुलाया था। उस बार को गोष्ठी म राग कोरे का परिचय मिला। यक्षगान म कोरे ताल भी है और कोरे राग भी है। कोरे राग हिन्दुस्तानी राग माड के समान ही है। इसके अतिरिक्त यक्षगान का मधुमाधवी हिन्दुस्तानी सगीत म मधुमाधव सारग है। यह बात हिन्दुस्तानी सगीत के जानकार कुन्दापुर क सगीतकार मित्र वासुदेव न बतायी।

विशुद्ध रागो के रिकाड

इन सब प्रयत्नो का एक फल निकला। हमारे भागवतरो को कुछ राग कण्ठस्थ थे जिनके नामो का पता न था उनको सही ढग स गवाकर उनम से चौंसठ रागा की रिकार्डिंग की। मरा विचार था कि हमार यहाँ लोगो म यदि यक्षगान के सगीत के प्रति लगन है तो हमारा यह प्रयास एक स्थायी काय सिद्ध होगा। पर यह मैं नही जानता कि कितन लोगा न उससे लाभ उठाया। यक्षगान क व्यवसाय मे निरत एक दो व्यक्तियो ने ही उन टेपा की प्रतियाँ ली। हमारी गोष्ठी म सहायक भागवतर श्री नारणप्पा उप्पूर न अवश्य ही थोडा श्रम करके रागा का अभ्यास करने म अपनी तत्परता दिखायी।

बम्बई के मित्रो की प्रेरणा

यह मालूम ही था कि मेर इस काय को यदि साथकता देना है उस बचाना, उसका सरक्षण तथा विकास करना है तो वह यक्षगान को व्यवसाय मानलवाले ही कर सकत है। उसक लिए मित्रो स आवश्यक आर्थिक सहायता पान क लिए मैं उन टेपा को लादकर सन 1961 म बम्बई भागा गया। वहाँ यक्षगान म अभिरुचि रखने वाले चित्रकार हैब्बार, हमार हर काय म सहायता

देने वाले व्यास बल्लाल गणेशभटट और उत्साह में इन सब से बढे चढे मूडबिदरे सजीवराय और उनके मित्र अमीन थ। उन सभी को एक जगह आमंत्रित करके मैंने अब तक की दोना गोष्ठियो मे रिकाड किये गय राग सुनाये।

तब श्री हैग्बार तथा श्री सजीवराय न यह कहकर मुझे भरोसा दिलाया, "आप इनसे जो भी आगे काय करना चाह कीजिए, पसो की चिन्ता करने की जरूरत नही।"

यक्षगान नृत्य नाटक

मैं जानता हू कि वाकप्रिय लोगो को यह बात पसद नही आयेगी। मेरा सारा ध्यान, एक कला माध्यम अपनी सारी शक्ति से क्या क्या कर सकता है और क्या नही कर सकता इसी ओर था। राग के चमत्कार और ताल के वविध्य का केवल प्रदशन कला का गुण नही। किसी भी कला के माध्यम का आदश नहीं है वह। इसलिए मैंने अपने मित्रो के सामने अपन मन की बात विस्तार स रखी। उसका सार यह है—

केवल गीतो की पद्धति राग और ताला के वाद्यो द्वारा एक प्राचीन कथा दो घण्टा की अवधि म नत्य के साथ प्रदर्शित करना मरा उद्देश्य रहा है। गीत और नत्य का सम्बन्ध होना चाहिए। गीत का य और उसम भी सम्बन्ध होना चाहिए। गीत का य द्वारा जो काय होता है वह नत्य और अभिनय से पूरा किया जाना चाहिए। हम राग का जितना सम्भव हो सके उतना प्रयोग करना चाहिए। केवल स्वर मे गाकर नाटक समाप्त करने की जो पद्धति है उसे म द सप्तक मे दिखान के बदले उस भाग को क्लेरनेट अथवा सेक्सोफोन वाद्य से पूरा करना चाहिए। सवाद और युद्ध के दश्य भागवतर अपने गले से पूरा कर। भागवतर सगीत स विरति चाह तो गीत के भाग को केवल गला पूरा नहा कर सकता अत उसके साथ वायलिन वादन मिलाना चाहिए।

रगस्थल को और अधिक आकषक बनाने के लिए हमे युद्ध और दरबारा की शोभा तक सीमित रग सचालन का जहाँ तक हो सके, विस्तार करना चाहिए। ये सब बातें मने उन लोगा के सामने रखी।

उन सबने मुक्त कण्ठ स कहा चाहे जो भी व्यय हो चिन्ता करने की आवश्यकता नही, आप अपना प्रयाग करके दिखाइय।"

चार प्रयोग

मैंने यह काम उडुपि म आरम्भ किया था। मेरा विचार था कि मैं जो भी काय करता हूँ, उसका जो भी लाभ है या होगा और कल को यक्षगान यदि बचा

रहेगा, तो बयलाट को अपनी वृत्ति बनाकर चलनेवालों के द्वारा ही सम्भव हो पायेगा। इसलिए प्रथम वर्ष (1962 में) उडुपि में दो मास के लिए यह काम अपने हाथ में लिया। सप्ताह में एक दिन यानी इतवार को घर यानी पुत्तूर जाया करता था। मेरे जन्म स्थान के पासवाले उस प्रदेश में चार व्यावसायिक मण्डलियाँ थीं। पुराना सम्प्रदाय उनमें काफी बचा हुआ था। वहाँ के भागवतरों को बीस तीस साधारण प्रसंग (कथावस्तु) जबानी याद थे। उनसे मैं जो भी पूछता और जो भी अपेक्षा रखता उस सबका सही ढंग से कार्य रूप में परिणत होना इस कारण था कि उनमें मेरे प्रति गौरव और प्रेम था। मेरे चुने हुए अधिकांश लोग वहीं के कलाविद रहे हैं। ऐसे प्रयोगों में प्रधान पात्र केवल गीतों पर ही निर्भर रहता है और वह भागवतर से ही होता है। परम्परागत पद्धति के पोषक नारणप्पा उप्पूर, आर० रामचन्द्र नावुड उसके सहायक थे। आठ दस व्यावसायिक अभिनेता हम से आ मिले थे। हो नावर की तरफ से कैरेमन महाबल हेगडे और मृदंग-वादक किरिनीरू नारायण हेगडे को मैंने चुना। मृदंग बजाने हिरियडक गोपाल और चण्ड (एक प्रकार की ढोलक) वादन के लिए केम्मण्णु आनन्द थे। इसलिए मैंने ऐसे वाद्य पसन्द किये जिससे गीत का महत्त्व न घटे। एक दिन अंतिम दिनों मेला बजाने बेंगलूर के श्रीनिवास उडुप साथ देने आये। 'कोट' का कोरग नाम का व्यक्ति क्लेरनट बजाने में सहायक हुआ। और भी अनेक व्यक्ति समय समय पर मेरे सहायक हुए जिनके नाम आज मुझे याद नहीं आ रहे हैं।

भीष्म विजय

इस प्रकार अभ्यास करा, मैंने 'भीष्म विजय', 'अभिमन्युकालग' (अभिमन्यु-युद्ध) और 'सधव-वधे' ये तीन कथानक चुने। उनके अनुकूल अभिनय योग्य गीत चुनकर उन्हें समय और अवसर के अनुसार काट छाँट कर तयार किया। एक-एक कथानक के लिए लगभग चालीस रागों का अभ्यास कराया। 'भीष्म विजय' की कथा काशीराज की बेटियों के स्वयंवर से लेकर परशुराम के निर्गमन तक चलती है। इसके दृश्य में अम्बा, अम्बिका अम्बालिका की जलक्रीडा का भी एक दृश्य दिखाना था। इन तीनों का आगमन, जलविहार को जल में उतरना, नदी का पानी, तैरना, डुबकियाँ लेना, स्नान के बाद शृंगार—यह सब अभिनय और नृत्य के द्वारा मंच पर दिखाना था। साधारण यक्षगान में जल-क्रीडा है पर उसकी कल्पना आँखों के सामने खड़ी नहीं होती। उसके लिए निर्दिष्ट रूप दन का निश्चय किया। इस अवधि में रंग मंच पर फीर पड़े स्त्री वेशों के लिए उचित अलंकार और आभरणों की व्यवस्था की। कथा-समाप्ति के समय भीष्म का अविवेक स्पष्ट हो जाता है। अतः उसे युद्ध के लिए खड़ा होना

पडता है। समझ से परे की काल लीला दिखाने के लिए अन्त में मैंने मगलाचरण का एक नया पद्य जोडा।

और एक प्रसग

एक और कथा थी अभिमन्यु युद्ध' जिसकी समाप्ति सैंधव वध म होती है। दो मास के निरन्तर परिश्रम से ये दोनो तयार हुए। इनमे शब्दो का प्रयोग नही होता। केवल गीत, वाद्य, रग सज्जा और अभिनय द्वारा ही यह सम्पन्न होते हैं।

इन दोना का प्रथम प्रदशन हमने बम्बई म किया। बम्बईवालो के लिए वह नया था। बम्बई निवासी कन्नड वाला के लिए भी वह उतना ही नया था। वहाँ के मेरे मित्रो ने ही उन प्रदशनो की पूण व्यवस्था की थी। कलाविद हेब्बार के वहाँ होने के कारण उनके परिचित पत्रकार, विदेशी राजनीतिज्ञ वह प्रदशन देखने आये थे। यह एक महत्त्वपूण बात थी। प्रदशन की व्यवस्था करनेवाल मित्रो से हमने उसकी प्रशसा और प्रोत्साहन की अपेक्षा ता की थी लेकिन विदेशियो की भारतीय रगमच के प्रति रुचि और प्रशसा भी उसके द्वारा मिली। श्रीमती अलकाजी ने उन खेलो को देखकर समीक्षा करन हुए उसकी रगसज्जा के बारे म ब्रिलियन्ट कारिओग्राफी (Brilliant Choreography) लिखा। यक्षगान म रग सज्जा मे क्या क्या कर दिखाना सभव है यह बात सूचित करने को उनका मत यहाँ व्यक्त करना पडा।

अगले वष

उपरोक्त दोनो यक्षगान नाट्यो को बम्बई, हुबली धारवाड, बगलूर, पुत्तूर और कुन्दापुर म प्रदर्शित करके लौटकर मुझे अपनी गृहस्थी और घर के काम काज की ओर भी ध्यान देना पडा। बाद मे, सन 1963 म, और एक बार ऐसे ही दो नृत्य-नाटको की योजना बनाकर पुत्तूर मे ही उनका अभ्यास कराने लगा। अपने व्यक्तिगत सारे कामकाज छोड छाडकर उडुपि म लम्बी अवधि के इस प्रशिक्षण के लिए ठहरना सुविधाजनक न होने से, पुत्तूर क वेकटरमण मन्दिर के बरामदे म ही उनका अभ्यास करान लगा। उस समय के कलाकारो म भी अधिकाश पहले वाले ही कलाकार थे। एक दो जो ठीक नही बठते थे उन्हे छोडना भी पडा। किसी प्रकार उन सबको लेकर दो मास निरन्तर प्रयास के बाद, उस वष मैंने 'बभ्रुवाहन कालग' (बभ्रुवाहन युद्ध) और 'रति कल्याण' (रति का विवाह) पर काय किया। बभ्रुवाहन-कालग' बहुत समय से चली आयी एक अज्ञात कवि की रचना थी। रतिकल्याण' भी एसी ही कथावस्तु थी। इनमे कौतूहल उत्पन्न करनेवाले सन्निवश आकषक युद्ध और विविध भावाभिव्यक्तियो के लिए अनक

अवसर थे। प्रशिक्षण के आरम्भ में ही एक अभिनेता को सन्निपात ज्वर ने घेर लिया। उसे घर भिजवाना पड़ा। राक्षस के पात्र के लिए चुना गया नया व्यक्ति मेरी कसौटी पर पूरा नहीं उतर पा रहा था इसलिए और दो नये लोगों को प्रशिक्षण देना पड़ा। इन कठिनाइयों के होने पर भी पहली मण्डली से इस मण्डली ने ज्यादा अभिरुचि से काम किया—यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई और संतोष भी हुआ।

भाव के लिए उपयुक्त स्थान

इस काम में जो अड़चनें आती हैं उनकी यहाँ थोड़ी बहुत चर्चा कर देना आवश्यक लगता है। हमारे परम्परावादी भागवतर अपनी पद्धति से गा सकते हैं उसमें मुझे कुछ मिलाना नहीं था। वह शैली केवल ताल और लय से सम्बन्धित है। लेकिन भाव से सम्बन्धित बातों की स्पष्टता एवं सुख दुख की भावना व्यक्त करनेवाले आलापों की मुख्य आवश्यकता थी। मैं, जैसी मेरी समझ में आया वैसा गाकर उन्हें बताता जाता था। उसका भाव और विषय का निरूपण अभिनय और अंग विन्यासों में प्रकट होने पर ही, गीत व नृत्य के मेल से दिखायी देता है यह बात भागवतर उप्पूर समझ गये। नायुड, जो गत वर्ष भी मेरे साथ थे, उस तरह से स्वयं को बदल न सके। दूसरे वर्ष के प्रशिक्षण में मैंने उनके स्थान पर रामगणिग को लिया। मदंग के बारे में भी यही बात हुई। पहले दल के एक दो कलाकार भावों के अनुसार अपेक्षित संतुलन नहीं दिखा पाते थे इसलिए हिरियडक गोपाल के साथ अर्जी तिम्मप्पा को लिया। यही नहीं पुत्तूर आने से एक और सुविधा हुई। क्लेरनेट बजानेवाला अभी निष्णात नहीं हो पाया था। पुत्तूर के ही गोपाल कृष्ण यान डाग्रा को क्लेरनेट और सेक्सोफोन बजाने में कौशल प्राप्त था। मंद सप्तक स्वरों को पुष्ट करने के लिए तथा गीत को कर्णप्रिय बनाने के लिए मैंने सेक्सोफोन तथा क्लरनेट जैसे वाद्य ही उत्तम समझे।

मेरे चुने दोनों कथानकों में कुछ विशिष्ट सन्निवेश और पात्र थे। उनमें एक मेदोहृत नाम का एक राक्षस पुरोहित था। उस राक्षस पुरोहित के अनुरूप नृत्य अभिनय वेशभूषा की कल्पना करके उन्हें जुटाना भी अनिवार्य था। उस प्रसंग के अन्त में मंच पर चित्रांगदा और उलूपी का प्रवेश होता है। वे महाशेष के निवास पाताल की ओर जाती हैं। इसमें अभिनय और कल्पना को पुष्ट करने वाले प्रसंग हैं। उस वर्ष कुछ नये लोगों को प्रशिक्षण दिया। उत्तर जिले के कलाकारों की सहायता से प्रशिक्षण का वह काम पर्याप्त संतोषजनक रहा।

अनासक्ति

इस प्रशिक्षण की अवधि में एक खास बात मेरे ध्यान में आयी जिसे मैं कभी

भूल नही सकता। उडुपि मे प्रशिक्षण के समय, गाव के लोग जितनी लगन और कुतूहल से तालीम देखने आते थे, इतना कुतूहल पुत्तूर म देखन को नही मिला, जहां म दस बीस वर्षो से नाटको पर अनेक प्रयोग करता आ रहा था। तालीम के दौरान गाव का एक भी आदमी वहा नही दिखायी देता था। जबकि दूर से उडुपि के कुछ लोग बीच बीच म आकर तालीम देखा करते थे। इसका कारण भी मुझे मालूम था। अपने यहा के लोगो का स्वभाव बताने के लिए वह कारण बताता हू।

पार्ति सुब्बा

मने सन 1956 के लगभग यक्षगान के लिए रामायण का कथानक लिखने वाले पार्ति सुब्बा के बारे म अपना स देह और अभिप्राय बता दिया था। दक्षिण जिले वालो का मत है कि वह कुडबल का पार्ति सुब्बा ही है। मैंने कहा था कि उत्तर भाग मे भी एक सुब्बा नाम का व्यक्ति था। वही उस कथाविशेष का लेखक है। आग प्राप्त सामग्री से भी मरी ही बात सिद्ध हुई। इससे दक्षिण जिल वालो क अह को ठेस लगी। जबसे वह वाद विवाद शुरू हुआ, यक्षगान कला की दृष्टि केवल उत्तर जिले का ही हो गया। नि सन्देह मैंने वहा के सम्प्रदाय और वेशभूषा को पस द किया था। वहां के कलाकारा न मुझ पर विश्वास रख कर मेरे सभी कामो म हाथ बटाया था, यह भी सच है। पर तु कला के लिए जाति या क्षेत्र नही होता है। उस जानन का अधिकार सबको समान है। इस दृष्टिकोण का न सह पानेवाले स्वाभिमानी ग्रामीणो के असहयोग और द्वेष का मैं पात्र ही नही बना, अपितु उन्होने मेरी यक्षगान सम्ब धी गोष्ठियो का भी बहिष्कार कर दिया।

प्रवास

सन 1963 के प्रवास मे हम लोगो ने फिर एक बार बम्बई म अपन यक्षगान का प्रदशन किया। बाद मे धारवाड, शिर्सी, सागर, हेग्गोडु शिवमोग्गा, भद्रावती, बगलूर, पुत्तूर, कुन्दापुर म भी इसक प्रदशन किये। बम्बई म कन्नड के आम लागो न उस विशेष नही सराहा, परन्तु विद्वज्जन को और उन लागा को भी जो यक्षगान मे वर्तालाप को प्रधान मानते थे हमारे प्रयोग बहुत अच्छे लगे। वहां के प्रदशना को सफल बनाने के लिए मेर मित्रो ने जो कष्ट उठाये और जो जा काय किये, उनकी मैं जितनी भी प्रशसा करूं वह कम है। उन दो वर्षों मे जो भी धन एकत्र हुआ वह सब मैंने अपने साथी कलाकारा म बांट दिया। वे खेती-बाडी करनेवाले लोग थे। वर्षा क समय उनकी कोई आमदनी भी नही होती इसलिए उन्ह ता इसस बहुत तृप्ति हुई।

विदेशियों की प्रतिक्रिया

बम्बई में प्रदर्शन देखने आये कुछ यूरोप के कला प्रेमियों ने हमारे वाद्य सुन कर नेपथ्य में आकर सेक्सोफोन की वाद्यतरंग को देखकर आश्चर्य और प्रशंसा व्यक्त की। परन्तु ऐसी भावना हमारे दक्षिण और उत्तर कन्नड के यक्षगान प्रेमियों में कभी दिखायी नहीं दी। मेरा 'वार्तालाप' का बन्द करा देना उनके लिए मेरा एक महान अपराध-सा था। दूसरा अपराध था विदेशी वाद्य बेला और सेक्सोफोन का प्रयोग में लाना। वैसे कर्नाटकी संगीतवाले इस शताब्दी के आरम्भ से बेला और तीन चार दशकों से सेक्सोफ़ोन का प्रयोग करते आ रहे हैं। उसे तो उन्होंने पसन्द किया, विदेशी कहकर अवहेलना नहीं की। यक्षगान के महत्त्व को जाननेवाले हमारे यहाँ के लोगों ने तो उन दोनों वाद्यों के प्रयोग के बारे में आक्षेप किया ही, साथ ही, यक्षगान में वार्तालाप को ही महत्त्व देकर तथा उसके नृत्य वेशभूषा, या अभिनय पर विशेष ध्यान न देकर, ताल मदले (मदंग) को ही महत्त्व देनेवालों ने अपनी अन्धश्रद्धा से यक्षगान को नुकसान ही पहुँचाया—यह बात उन्हें समझ में नहीं आयी यह आश्चर्य है।

निराशा

मेरे मित्र सजीवराय और हब्बार चाहते थे कि इस प्रकार के प्रयत्न, प्रोत्साहन के अभाव में रुकने नहीं चाहिए उन्हें आगे बढ़ाना चाहिए। यह मण्डली अपने दूसरे आम व्यवसाय के समान, इन नये प्रयोगों को भी जारी रखे। उसके लिए मण्डली को खूब मेहनत करनी होगी। उन्होंने यह प्रश्न भी सामने रखा कि उसके लिए क्या करना होगा। उस पर हमारे अनुभवी कुछ बुजुर्गों ने कहा, 'बाहर से सहायता मिले तो अच्छी बात है।" उसके लिए साल में एक बार ऐसा एक आयोजन करने के लिए 18 20 हजार रुपये की जरूरत पड़ती थी। इतना पैसा तो किसी प्रकार जुटाना ही पड़ता था। साधारणतः यक्षगान मण्डलियाँ अब पैसा कमाने की मण्डलियाँ बन चुकी हैं। हमारे मित्रों की इच्छा के अनुसार नये प्रयोग करने के लिए इतना दण्ड भुगतने की जरूरत नहीं सोचकर, मैंने कहा, "इस विषय को यहीं भूल जाइए।

आगे मुझे ऐसे नृत्य नाटकों के प्रयोग में हाथ लगाने में काफी वर्ष लग गये।

आजीविका के झमेले

प्रकाशक के रूप मे

सन 1962 तक पुत्तूर म मैंने अपना छापाखाना लगा रखा था। अपनी पुस्तकें स्वय ही छापकर मैं अपनी जीविका चला रहा था। मुद्रण और प्रकाशन दोना कामो से बहुत कजदार हो गया था। मेरा साठवा वर्ष पूरा होने पर कर्नाटक क अनेक भागो मे मेरे सम्मान मे जो समारोह किये गये उसस मेरी पुस्तको की बिक्री पहले से काफी बढ गयी थी। मेरी प्रकाशित पुस्तको की सख्या भी काफी थी। साल म एक उपन्यास प्रकाशित करने के साथ साथ बिक चुकी किताबो का दूसरा सस्करण निकालना बडा कठिन काय था। उन दिनो एक नये उपन्यास की एक हजार प्रतिया बिकने मे पाच साल लग जाते थे। दूसरा सस्करण निकालने पर तो उसके बिकने मे पहल से दुगुना समय लग जाता। इन कारणो से पुस्तको से जो पैसा मिलता वह पुरानी पुस्तको के नये सस्करण निकालने म खच हो जाता। इस अवधि मे साल के अन्त मे मैंने हिसाब लगाकर देखा। छापाखाने में पडी सारी पुस्तको की अकित कीमत (कुल पुस्तको की कीमत का एक तिहाई) यानी कागज और छपाई का खच साठ हजार से अधिक हो चुका था। यह प्रति वष बढ ही रहा था, कम होने की नौबत नही आती थी। सन 1958 तक मैं विज्ञान प्रपच का चौथा भाग समाप्त करके छपवाने के काम म लग गया था। उस एक पुस्तक के लिए ही बहुत खच हो गया था। इससे बहुत कज हो गया। इस पुस्तक की बिक्री भी धीमी गति स चल रही थी, इसलिए आंखो क सामने कज का एक गटठर ही दीख रहा था। इस कज का एक बडा हिस्सा कन्नड क क्षेत्र मे विशेष रुचि रखने वाले व्यक्तियो द्वारा समय समय पर प्रमोपहार के रूप म भेजी गयी धनराशि स मैंने पूरा किया।

एक वष बाद यानी मेरे बासठवें वष म, मैंने आय कर का हिसाब दिया तो देखा कि लोगो से भेंट के रूप मे प्राप्त धन करीब तीस हजार रुपये हो गया था। सम्बन्धित आयकर अधिकारी ने उस पर भी साढे तीन हजार रुपये आयकर लगा

दिया और आदेश भेजा कि पद्रह दिन म उसे जमा करा कर पमाण पत्र प्राप्त कर लें। उसी अवधि म मुझे अपने गुजर गय बटे का कज भी चुकाना था। अब कुछ भी हो कज करके भी कर का भुगतान तो करना ही था। उधर इसी समय मेरे बटे उरलाम न इजीनियरिंग कालेज म दाखिला ले लिया था। बटी मालविका मैसूर मे मनोविज्ञान पढ रही थी। उन दो खर्चों के अलावा, 'विज्ञान प्रपच' क अतिम भाग को भी प्रकाशित करना था।

कर का भुगतान

आय कर का भुगतान करके निश्चित मन से मसूर चला गया। जात समय रास्त म मित्र मजुनाथय्या क घर ठहरा। 'विज्ञान प्रपच' के कागज आदि मगवान मे व ही मेरी सहायता करते थे। तभी उनके यहाँ एक प्रसिद्ध न्यायधीश आय थे। मैंन मजाक म उन्हे अपने आयकर की कहानी सुना दी। आयकर अधिकारी न अपन लगाये गये कर के समथन म तक दते हुए बताया था "यह धन गुरु शिष्य की परम्परा के अन्तगत ही आता है। केरल क एक शिष्य ने अपने गुरु को एक धन राशि भेट की। वह धन आय के रूप मे माना गया क्योंकि वह उसकी वत्ति के अन्तगत आता था। आपकी षष्ठिपूर्ति पर दिया गया धन भी उसी श्रेणी म माना गया है।' उसक इस तक पर न्यायधीश हस पडे और बोले, 'इस अक्ल नही। गुरु शिष्य के सम्बन्ध म और इसमे कोई समानता नही। आप इन्कमटक्स कमिश्नर से अपील कीजिए। यदि वे नही मानते तो ट्रिब्यूनल से अपील कीजिए। वहा भी यदि आपको असुविधा हो तो सीधे हाईकोट जाइए।" मैंन वसा ही किया। इन्कमटक्स कमिश्नर न अपन अधीनस्थ क आदेश का समथन करत हुए मेरी अपील खारिज कर दी। तब मैंने इन्कमटैक्स ट्रिब्यूनल से अपील की। अगले वष उन्होंने फसले म कहा कि यह आय कर के अन्तगत नहीं आता। भाग्य की बात कि सरकार ने उसके विरुद्ध अपील नही की।

दुर्भाग्यपूण वष सन 1963

इसी वष कन्नड प्रदेश की जनता ने शायद मेरी योग्यता से बढकर मेरा सम्मान किया। इस सम्मान से कहा मैं फूल न उठू इसलिए एक ओर स नही बल्कि चारों ओर स मेरे भाग्य ने मुझ पर मुसीबतें ढाली। उनम स एक सकट मेरी जमीन स सम्बन्धित था। उस अवधि में उसी जमीन पर रहता था जो बच्चो की पढाई क लिए ली गयी थी। बहुत पहले ही वह शाला बन्द हो चुकी थी। वह जगह तब मेरे पुस्तक प्रकाशन और छापेखाने का केन्द्र थी। छ एकड भूमि मे पानी की कमी के कारण कुछ भी नही उगता था। पाँच छह कुए खोद कर भी

पानी के लिए बहुत कष्ट उठाया और अंत में उस से हताश होकर मैंने पुत्तूर के राजमार्ग के पास नौ एकड जमीन का एक टुकडा खरीद लिया। वहाँ आम आदि के छोटे मोटे पेड लगाये। उस बाग की रखवाली के लिए एक दो झोंपडियाँ भी बनवायीं, पर उससे भी मुझे कोई लाभ नहीं मिला। सन 1963 में एक दिन मैसूर सरकार ने मुझे सूचित किया कि वहाँ सरकार की ओर से 'प्रवासी मंदिर' (पर्यटक निवास) बनाया जाएगा इसलिए मैं वह जमीन छोड दूं। यह विज्ञप्ति भी मुझे गजट से ही पता चली। सरकार की इस आज्ञा को मैं चुनौती नहीं दे सकता था। चुनौती से लाभ भी नहीं था। इसलिए सही मुआवजा देने की बात कहकर मैंने वह जमीन उनके सुपुर्द कर दी। अब यह उम्मीद करना कठिन था कि वह मुआवजा कब मिल पायेगा। मैंने यह आशा की थी कि कल को मेरा अपना घर और छापाखाना आदि यदि चला भी जाय तो एक टुकडा जमीन अथवा उसकी कीमत मेरे बच्चों को मिल सकती है। परंतु सरकार के प्रतिनिधि पुत्तूर के कमिश्नर ने कीमत आंकने में ही तीन वर्ष लगा दिये। उसके लिए दूसरे ग्राहक आने पर भी मैं उसे बेच नहीं सकता था। मेरा कहना था कि मुझे उससे कोई पचास हजार रुपये मिलने चाहिए। जब मैं यह पत्र व्यवहार कर रहा था तभी उस जमीन के पास की जमीन के मालिक ने झगडा खडा कर दिया कि सर्वे नम्बर गलत है, इसमें से चार एकड जमीन उसकी है। यह बात भी कोर्ट तक जाने का एक विषय बन गयी। कमिश्नर साहब ने उस विवादग्रस्त जमीन को छोडकर शेष जमीन का मुआवजा पंद्रह हजार रुपये देने का निश्चय किया।

अब कोई और चारा न रहने से मैंने जिला कोर्ट में अपील की। अपनी जमीन के पास की जमीनों की कीमतों का ब्यौरा देना पडा। बिना हक के अपनी जमीन कहनेवाले उस मालिक के खिलाफ भी सबूत व कागजात जुटाने पडे। इस झगडे के निबटने में और तीन वर्ष बीत गये। जिलाधीश ने अपना हक जताने आये उस व्यक्ति की अपील खारिज कर दी और मेरा माँगा मुआवजा सही ठहराया। तब सरकार ने हाई कोर्ट में अपील की। इस प्रकार सरकार द्वारा जमीन अपने अधीन कर लेने के दस वर्ष बाद, जब मैं पुत्तूर छोड कर सालिग्राम पहुंच चुका था, हाईकोर्ट का फैसला मेरे हक में हुआ। तब तक मेरी अंतिम आशा रूप उस जमीन की कीमत शीशे में दीखने वाले बटुए जैसी रह गयी थी।

मुद्रण और प्रकाशन

अपने बडे बेटे के नाम पर चलाया 'हर्ष मुद्रणालय', उसी के कष्ट और दुख का कारण बनकर उसमें भी कम आयु में बन्द हो गया। उसमें थोडी-बहुत जो आय हो जाया करती वह थी साल में तीन मास शादी विवाह सट्टालग के दिनों में निमन्त्रण पत्रों की छपायी से। वह भी तब से जब मैंने उसके बेईमान मनेजर

को हटाकर स्वयं काम सम्भालना शुरू कर दिया। उससे मुझे एकमात्र सुविधा यह थी कि मेरी पुस्तकें मेरे सामने छपती और मैं दो बार उनके प्रूफ ठीक कर लेता था। महीने में पन्द्रह दिन इधर उधर घूमने से छापने का काम तभी देख पाता जब मैं घर में रहा करता था। मेरी अनुपस्थिति में कामगारों को कोई काम नहीं रहता था। बहुत से बहुत उनके पास कागजों की तह लगाने का काम रहता था। उन दिनों उनका वेतन भी बहुत कम हुआ करता था। इसके अलावा मैं वेतन बढ़ाना भी नहीं चाहता था। बाहर से काम जुटाना मुझ से होनेवाला नहीं था। जो वहाँ स्वयं आते मैं उन्हीं का काम कर पाता था इसलिए गाँव से दूर रहनेवाले सहालग के दिनों में ही मेरे पास आते, अन्यथा नहीं। मेरी अनुपस्थिति में होने वाला काम केवल गाँव के छोटे मोटे बीडी उत्पादकों के लेबल छापने का काम था। उसमें विशेष कम्पोजिंग की जरूरत नहीं पड़ती थी। तब कागज की कीमत भी ज्यादा न थी। चार छह ब्लाक जोड़ कर छाप देने पर लोग स्वयं आकर ले जाते। उसमें आदमी कम होने पर भी झमेला झंझट नहीं था। मेरे सारे कामगार मेरे ही सिखाये हुए थे। एक छापेवाला जब से मैंने छापाखाना खोला तभी से, मेरे पास था और छापने तथा बाईंडिंग का काम करता था। वह थोड़ा बहुत इंजन मरम्मत और पम्प मरम्मत का काम भी जानता था अतः फुरसत के समय वह वह काम भी कर लिया करता था। मेरे पास दो ही लड़कों को सही ढंग से कम्पोजिंग करना आता था। उन्होंने मेरे साथ पाँच छह वर्ष काम किया। एक वृद्ध भी था जो आँखें कमजोर हो जाने से, और कहीं काम कर न मिल पाने से मेरे पास ही पड़ा था। और दो लड़के थे जिन्हें पूरे साल का अनुभव भी प्राप्त नहीं था। इस तरह प्रेस में सात जन काम करते थे।

सहयोग की नीति

एक दिन बाहर से एक मजदूर नेता की सवारी आयी। उन सबके कान भर भर उसने उन्हें अपने अधिकार के लिए हड़ताल करने को उकसा दिया। यह स्वाभाविक था कि ऐसी बातें उन्हें जम गयी। और मुझे ? मैं गाँव में ही बहुत कम दिन रहता था। अगर मैं अपनी पुस्तकें मंगलूर के छापाखाने में दे देता तो खर्च की दृष्टि से अपने यहाँ छापने से अच्छा ही रहता। ऐसी परिस्थिति में एक को छोड़कर सब कामगारों ने, यहाँ तक कि जिन्होंने एक साल भी पूरा नहीं किया था अपनी माँगें मेरे सामने रखी। मुझे आश्चर्य हुआ। उससे चार दिन पहले सार्वजनिक सभा भी हुई थी। यह मुझे अच्छा ही लगा। मुझे अपने परिश्रम से मिले पैसे ही पूरे मिल जाते तो बहुत थे। उससे ही अपना पेट भर लेता। चार-छह आदमियों के पसीने की कमायी खाकर उनका ऋणी बनने की इच्छा मुझे न थी। ऐसे आंदोलन मैं मंगलूर में बहुत समय से देखता आ रहा था।

छापाखाने की समाप्ति

इन कारणो से मैंने खुद ही प्रेस बन्द कर दिया। कामगारो से कहा, "आज से प्रेस बन्द कर दिया गया है। वे जब चाहे मुझसे तीन मास का वेतन ले जा सकते हैं।" एस म उन्हे मुआवजा देना होता तो मुझे उन्हे डेढ हजार रुपए देना पडता। इसके अलावा उन्होने मुझसे काफी कर्ज भी ले रखा था। मैंने सोचा खैर कोई बात नही। उनमे एक क्रिश्चियन हरिजन था, वह दूसरो से नही मिला। उससे मैंने कहा, "तुम कोई छोटा मोटा काम करते रहो, कुछ भी न हो तो कम से कम बाहर भेजनेवाली पुस्तको के बण्डल आदि ही तैयार कर दिया करो।"

आगे कामगार खुद उस विवाद को कोर्ट मे ले गये। वहाँ मैंने बताया कि अमुक अमुक ने मुझ से इतना कर्ज ले रखा है। उनमे से एक को कर्ज के अलावा रहने को मकान भी दिया था। वे तो कर्ज लेने की बात साफ मुकर गये। तब मैंने लेबर कमिश्नर से कह दिया, "कोई बात नही, आप जैसा उचित समझे, निर्णय दीजिए।"

उन्होने अपने फैसले मे "तीनो कामगारो को मुआवजे के रूप मे केवल तीन सौ रुपय दिये जायें", कहकर उस विवाद को बन्द कर दिया।

मैंने अगले वर्ष छापेखाने के लिए सही ग्राहक ढूंढ निकाले, प्रेस की सारी सामग्री ले जाकर बम्बई म 'सर्वेंटस आफ इण्डिया सोसाइटी' को बचकर अपने कर्ज के भार को जरा कम किया। बाद मे कुछ वर्षो तक अपनी सारी पुस्तकें बाहर ही छपवाने लगा। केवल प्रकाशन और विक्रय अपने हाथ म रखा।

अपने सुख दुख

व्यक्ति के सुख दुख के लिए जिस प्रकार उसकी आर्थिक स्थिति मुख्य कारण होती है, उसी प्रकार उसका समाज भी कारण हो सकता है। ख्याति अपयश भी कारण हो सकता है अपना परिवार भी कारण हो सकता है। मेरे साठ साल पूरे होने पर कर्नाटक के विविध नगरो म मेरा सम्मान किया गया, सहायता की गयी, तब मुझे यह सन्तोष हुआ कि जिस उद्देश्य को लेकर लिख रहा हू, वह जनता तक पहुच रहा है। इससे मेरा आत्म विश्वास दृढ हुआ। परन्तु उसके पीछे प्रकाशन कार्य कितना जोखिम से भरा है यह दूसरे समझ नही सकते। कन्नडवालो म पढने की रुचि का विकास नही हुआ है, साहित्य के अभाव से वे चिन्तित भी नही होते।

मेरे समाज ने वैयक्तिक रूप से मुझे कोई दुख नही दिया। उनके विश्वास रीति-नीति के बारे म मैंने ही कटु बातें कही। फिर भी उन्होने मुझे प्रेम से ही देखा। मैं यह नहीं कह सकता कि मेरी तीखी आलोचना को उन्होने क्षमा कर '

दिया, पर इतना जरूर है कि सहन अवश्य किया। उनके विचार में यह सब सहनेवालों की आवश्यकता थी। जनता की ऐसी सहनशीलता का मैं कृतज्ञ हूं। परन्तु मेरी वृत्ति चिन्तन, इच्छा, क्रिया कलाप आदि के लिए मेरे घर का वातावरण ठीक रहे और निश्चित रहे तो जीवन सरलता से आगे चल सकता है। लेकिन वह केवल मुझ पर निर्भर नहीं और वह मेरे बूते की बात भी नहीं। मेरा हाथ थाम कर जीवन चलाने आयी पत्नी ने इतने वर्ष बिना कुछ बोले बड़बड़ाये और गरीबी में डर बिना तथा उसके पास जो नहीं था उसकी चिन्ता किए बिना जीवन को सहनीय बना लिया था। परन्तु उसका जीवन तो उसके हाथ का जीवन नहीं रहा।

वह अपने बचपन में ही अपनी माँ को खो बैठी थी। उसके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। बच्चों की माँ के मरने के बाद बच्चों को ननिहाल चले जाना चाहिए मौसली माँ की यही इच्छा थी। उस परिस्थिति में पिता के उसको अपने पास रखने पर भी उसे अपना बचपन सदा अनाथ ही लगा। तब उसकी ओर उसकी बहिन की ममतापूर्वक रक्षा करनेवाली थी उसकी दादी।

उसके पिता के निधन हो जाने के बाद उसकी बुढ़िया दादी हमारे यहाँ आकर रहने लगी। वह अट्ठानवे वर्ष की हो कर गुजरी। उसकी मृत्यु मेरी पत्नी के लिए एक गहरा आघात रही। उससे पहले उसे अपने पिता की आत्महत्या के दुख से भी बहुत आघात लगा था। इसलिए बीच बीच में उसकी मानसिक स्थिति काफी खराब रहा करती थी। इतना ही नहीं, तभी हमारा बड़ा बेटा सन् 1961 में कैंसर से मर गया। यह सब उसके मानसिक उतार चढ़ाव का कारण बन गये। उसे कई बीमारियाँ लग गयी।

इस तरह मेरे घर की और मन की शान्ति जाती रही। तभी एक और विपत्ति आन पड़ी। एक दिन सन् 1963 में मुझे पत्नी को गर्भाशय के कैंसर के कारण बम्बई अस्पताल में दाखिल कराना पड़ा। विशेषज्ञ डा. बोरजस की शल्य-चिकित्सा से वह उस संकट से मुक्त हुई। लेकिन तब से मानसिक अस्थिरता के साथ दैहिक पीड़ा भी उसे बीच बीच में सताने लगी। इस प्रकार सातवें दशक के सारे आधे भाग में मेरे लिए सुख नाम की भी नहीं रहा। आगे का वर्ष भी उस दृष्टि से कोई सुखद नहीं रहा। उस वर्ष काम छोड़ छाड़ कर भाग्य को कोसने का खूब अवकाश मिला। ऐसे समय में मैं यदि अपने को किसी काम में न लगाये रखता तो मेरा जीवन बंजर हो जाता, व्यर्थ हो जाता।

बेटी का विवाह

इस अवधि में मेरी बेटी मालविका एम. ए. उत्तीर्ण कर बंगलूर में मनोविज्ञान का अध्ययन कर रही थी। आर्थिक दृष्टि से उसे वहाँ रखना मेरे लिए बहुत

कठिन था। उसी अवधि में डाक्टर की पढ़ाई समाप्त करके मनो चिकित्सा सीखने को आये एक पंजाबी तरुण से उसका परिचय हुआ। उसका नाम है रवि कपूर। उनके पिता भारत विभाजन के समय लाहौर में अपना सब कुछ खोकर बम्बई में कुछ साल डॉक्टर की नौकरी करके निवृत्त होकर अमृतसर में रहने लगे थे। एक दिन मेरी बेटी रवि कपूर से विवाह करने का निश्चय करके मेरी अनुमति लेने उसके साथ घर आयी। वह दूर का लड़का है, भिन्न संस्कृतिवाला है, यह चिंता मेरे मन में उठी। पर मैंने सोचा कि छोटा को अपने भविष्य का निर्माण स्वयं करना है हम नहीं।

सन 1965 में उनका विवाह दूर अमृतसर में सम्पन्न हुआ। वह आर्य-समाजी ढंग से हुआ। उसका कारण रवि के पिता डॉ० मोहनलाल कपूर की अस्वस्थता थी। उन दिनों मैं कैसा था? अपने समाज की इच्छानुसार शानदार विवाह करने की स्थिति में मैं नहीं था। अपनी बच्ची को केवल पांच हजार रुपये का सोना दे सका। बराती बनकर मैं ही अपनी पत्नी, बच्चे और अपने तीन मित्रों का लेकर अमृतसर गया। आने जाने और शादी में कुल मिलाकर पाँच हजार ही खर्च कर पाया। 'सब आप सब सकुटुम्ब सपरिवार अमृतसर पधारिए' किसी को भी औपचारिकता के नाते मैंने ऐसा पत्र नहीं लिखा। सातवें दशक के जीवन के उस अधर में इस घटना से हम दोनों को वास्तव में संताप मिला। इसे गरीबी में मिला संताप कहूँ तो अतिशयोक्ति न होगी।

शिवराय जी

इसी दौरान मैंने एक और दुख देखा जिसका उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। शिवराय जी मेरे जीवन की एक प्रेरक शक्ति थे। पुत्तूर में मेरे बसने का कारण यही एक आकर्षण था। मेरे प्रत्येक कार्यकलाप में मेरी पीठ ठोककर सहायता देनेवाले वही थे। वे मेरे शिक्षण तथा रंगमंच के क्षेत्र में किये गये प्रयोगों और इस तालुका की आर्थिक परिस्थिति के अध्ययन और जनजीवन की जागृति में सहयोग देने वाले प्रमुख व्यक्ति थे। वे हमारे जिले के सहकारी क्षेत्र के मूल पुरुष थे। वे पंचायत राज्य के जन्मदाता थे। शिक्षणालयों के मार्गदर्शी थे। पुत्तूर कभी भी उनका ऋण चुका नहीं सकता। वे अपना बुढ़ापा काटने मद्रास चले गये थे जहाँ उनके पुत्र का घर था। वहीं वे एक दिन गुजर गये। मैंने अपने जीवन में उन जैसा मार्गदर्शी, साहसी, सार्वजनिक सेवक दूसरा नहीं देखा। उनकी याद बनाये रखने को पुत्तूर में उनके नाम पर शिवसदन नाम से एक स्मारक बनाने का विचार किया गया। उसमें भी आगे आनेवालों की होड़ थी। हाँ उस काम में उन्हीं के द्वारा स्थापित कुछ सहकारी संस्थाओं से मान्यता नहीं मिली। फिर भी उसी गाँव के कुछ मित्रों की जिद्द नाम बनाने की इच्छा नहीं

थी सहायता से शिवसदन का निर्माण हुआ।

इस आशा से कि उस काम के लिए आर्थिक सहायता मिलेगी सोचकर, मैंने और एक बार यक्षगान नृत्य नाटक का प्रशिक्षण शुरू किया। उसके लिए 'गय चरित्र' नाम का एक सुन्दर कथानक चुना। उसे उत्तर जिले के कलाकारों से एक 'बेले' के ढंग पर तैयार कराया। फिर बम्बई आदि नगरों में जाकर उसका प्रदर्शन किया। उससे अधिक लाभ न होने पर भी मन को कुछ शांति अवश्य मिली। बम्बई के मित्र मजीवराय ने इस शिवसदन के लिए ध्वनिवर्धक यन्त्र भेंट किया।

शिवरायजी के गुजर जाने के बाद, जिस पुत्तूर में मैं बहुत वर्षों से रह रहा था वहाँ का वातावरण क्रमशः बदलता दिखायी दिया। वहाँ उनके नेतृत्व में जो जो काम हो रहे थे सब बन्द होते जा रहे थे। कुछ नये ढंग के नेता आगे आने लगे।

साहित्य

इस दशक में 'विज्ञान प्रपंच' का अंतिम भाग प्रकाशित हो गया। बड़े साहस और परिश्रम से विषय संग्रह करके जो 'यक्षगान और बयलाट' लिखा था उसका संशोधित संस्करण भी निकल गया। मैंने अनेक घरों की सहायता से ताडपत्र एकत्रित किये। उसी गाँव के बुजुर्ग साहित्यकार उप्राण मंगेशराय की सहायता से 'वेतालेश्वर रामायण' का सम्पादन करके प्रकाशित करना संभव हो पाया। मेरी यक्षगान के बारे में लिखी पुस्तक स्वीडन की एक संस्था के ध्यान में आयी। 'इन्टरनेशनल डांस आरकाइव्ज' के क्युरेटर बेंट हेगर पुत्तूर आये। उस संस्था के संस्थापक राल्फ द मारी का परिचय मुझसे सन 1935 में हुआ था। इस बार उनके प्रतिनिधि ने अपनी स्टाकहोम संस्था की ओर से मेरे यक्षगान से सम्बन्धित काम के लिए एक कास्य पदक प्रदान किया।

शायद इससे हमारे देश की आँखें खुली होंगी। साहित्य अकादमी ने उसी पुस्तक पर सन् 1967 में अकादमी पुरस्कार प्रदान किया।

तीन-तीन यात्राएँ

युनेस्का

दो दशक पहले जब मैं यूरोप गया था तब मैं पैरिस मे चार दिन ठहरा था। वहाँ मेरा कोई परिचित नही था। हाँ, श्री ईगलटन से परिचय था जो लम्बे अर्से तक मैसूर मे प्रोफेसर थे। मसूर मे उन्होने स्थानीय मित्रो को साथ लेकर प्रौढ शिक्षा के बारे म विशेप प्रयत्न किया था। जब मैं परिस गया तब व युनेस्का सस्था म काम कर रहे थे। उनस भेंट करने से उस सस्था के शिक्षा विभाग के प्रमुख जॉन बावस से मित्रता हुई। आग 1954 के आस पास श्री जान बावस ही मसूर के समीप यलवाल म प्रौढ शिक्षा हेतु कुछ अनुसधान करन के लिए दो साल तक रह। उस अवधि मे मैंने उन्ह प्रौढ शिक्षका क लिए पाठय-पुस्तकें सहायक पुस्तकें तथा शिक्षण की अन्य सामग्री तयार करक दी। उस मित्रता स युनेस्को सस्था को मेर काय का परिचय मिला होगा। इसलिए उस सस्था क पौर्वात्य विभाग न सन 1967 मे तहरान म जब प्रौढ शिक्षा पर एक गोष्ठी का आयोजन किया तो उसमे भाग लेने के लिए मुझे भी आमन्त्रित किया गया। केन्द्रीय शासन ने शिक्षा विभाग से डा० शमा को उसम भाग लने के लिए भेजा था। उस गोष्ठी म नेपाल पाकिस्तान और सिगापुर से भी चार-पाँच प्रतिनिधि आमन्त्रित थे। इससे बहुत समय के बाद मुझ फिर स तहरान जान का अवसर मिला।

खाली हाथ यात्रा

वहाँ जाने का अवकाश तो मिला। आने-जाने का खच और वहाँ ठहरन का खच सस्था वहन कर रही थी। पर खाली हाथ वहाँ जाने पर काम कन चल पाता? मुझे यह चिन्ता सताने लगी कि पर्शिया के इतिहास प्रसिद्ध पार्से पोलिस, सिराज, इस्पाह जसे स्थान देखे बिना वापस आना सभव होगा? उसके लिए हाथ मे काफी पैसे की जरूरत थी। इसके अलावा तहरान म टक्सी और नास्ता-पानी के लिए भी पसे चाहिए थे। मैंने सरकार से विदशी मुद्रा माँगी तो उसने

केवल 20 पौंड (360 रुपये) की मजूरी दी, इसलिए पर्शिया देश को देखने की मेरी इच्छा जाती रही। और फिर जब मैं जा रहा था तब एयर इण्डिया के इंजिनियरों की हड़ताल चल रही थी, इसलिए हमारा विमान तेहरान के बजाय लबनान के बेरुत में उतरा। मेरे प्रवास का एक दिन व्यर्थ गया। हाथ के पैसे उस दिन घूमने में काफी खर्च हो गये। खैर, दूसरे दिन और किसी कम्पनी के विमान से तेहरान पहुँच कर गोष्ठी में सम्मिलित हुआ। उस दिन सभा में चर्चा का विषय था—प्रशिक्षण के बाद भी प्रौढ़ों में शिक्षा लाभदायक क्यों नहीं हो रही है? मैंने सुझाव दिया— 'प्रशिक्षण पाने के बाद प्रौढ़ यदि आगे अपने आप पढ़ना चाहते हैं तो उनके मानसिक स्तर के अनुकूल पर्याप्त पाठ्य सामग्री मिलनी चाहिए।' यह सुझाव न केवल पसन्द किया गया अपितु उसके लिए क्या क्या करना होगा उस पर भी काफी चर्चा हुई।

नया परिचय

उस गोष्ठी में नेपाल के प्रतिनिधि थे कमल दीक्षित से न केवल परिचय ही हुआ अपितु गहरी दोस्ती भी हो गयी। उन्होंने भारत में शिक्षा प्राप्त की थी। काठमांडू में व नेपाल के एक राणा परिवार की सम्पत्ति की देखभाल कर रहे थे। उनका अपना प्रेस था इसलिए वे मेरे ज्यादा समीप आये। भारत के प्रतिनिधि डा० शर्मा ने गोष्ठी का सारा समय अपनी कारगुजारी के बखान में और हिन्दी भाषा की महिमा के गुणगान में ही बिताया। बीच-बीच में पाकिस्तान के प्रतिनिधि उन्हें टोक देते थे। वहाँ हमारे तीन दिन के प्रवास में घूमने घामने और बातचीत करने में श्री कमल दीक्षित ही मेरे अधिक निकट रहे। उन्होंने मुझे नेपाल आने का निमन्त्रण दिया। हम दोनों ने मिलकर नगर का भ्रमण किया। हमारे आतिथ्य में किये गये राज वैभव के समारोहों में हम दोनों ने साथ साथ भाग लिया। टेलीविजन पर एक लड़की का पर्शियन गीत भी सुना। मैंने अपने हिन्दुस्तानी संगीत और वहां के संगीत की निकटता का अनुभव किया। इसके अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं देखा। हम व लोग नगर के समीप के एक पहाड़ी प्रदेश पर ले गये थे। मैंने अपने होटल की खिड़की से ही एलबुर्ज पर्वत श्रेणी को देखा। बस, वही एक संतोष था। विमान की दुर्घटना के कारण मैं इसी चिन्ता में डूबा रहा कि किसी प्रकार एक बार बम्बई पहुंच जाऊं। किसी प्रकार तेहरान आये और बेल्जियम के सबेना विमान से बम्बई पहुंच गया। इतिहास प्रसिद्ध पर्शिया देश मेरे लिए एक सपना ही बनकर रह गया।

काबुल के मित्र

मेरी तेहरान यात्रा की बात काबुल में रहनेवाले मेरे एक मित्र श्रीश आचार्य

को पता चली। उन दिनो वे काबुल म अध्यापक थे। इससे पहले वे उडुपि के एम जी एम कॉलेज में गणित विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने 'आप तेहरान से लोटते समय काबुल म दो दिन के लिए मेरे पास ठहरियेगा', कहकर निमन्त्रण दिया। उस समय मेरे लिए वहाँ जाना सभव नही था। एयर इण्डिया की हडताल के कारण मुझे अपने घर पहुँचना ही एक समस्या थी। फिर भी अफगानिस्तान मेरे लिए एक नया देश होने से उसे देखने की बडी इच्छा थी। इसलिए मैंने अपन आप अगले साल कावुल जाने की योजना बनायी। श्रीश आचाय ने वहा की सारी व्यवस्था की। उन्होने लिखा था कि काबुल से 150 मील की दूरी पर बौद्ध युग का 'बामिया' है और वहाँ से 100 मील आगे जान पर बु दे अमीर' नाम का एक जलाशय भी है।

काबुल को

इस प्रकार दूसरे वष मैं दिल्ली पहुँचा और वहाँ से विमान द्वारा काबुल गया। वहाँ का सारा प्रबन्ध मेरे मित्र आचाय पर था। यात्रा पर जानवाले भारतीय यच के लिए अपने पसे नही ले जा सकत। उन्हे परदेश म दूसरा के सहारे रहना पडता ह। चार पाच दिन मैं उनका अतिथि बनकर रहा। काबुल नगर घूम आया। उनकी पत्नी बेटे और उनके एक मित्र के साथ काबुल से 150 मील दूर स्थित बामिया देखने गया। पूरा रास्ता बजर है और पवता के बीच से सकरे रास्त से जाना पडता है। उसके एक तरफ काबुल नदी बहती है जो आग चलकर सिधु से मिलती है। इस नदी का उदगम दस हजार फुट ऊचे पवत म होता है। उसके पास की घाटी क रास्त म मोटरा का शक्ति-परीक्षण हो जाता है। आस पास के पहाड भय उत्पन्न करते ह। याद म उबकाई आती है। वह आक्सस (आमूर) नदी की दूसरी घाटी है। वहाँ दोना ओर हरियाली रहित विविध रंगा के भयानक पवत और पवत शिखर दिखाई दत हैं। उस रास्त स होते हुए हम बामिया नगर पहुँचे। वहाँ भी चारा ओर सकडा रंगो के रागसाकार पवत और उनकी प्राकृतिक दीवारें हैं। इसी नगर म तीसरी या चौथी शताब्दी मे राजा कनिष्क क जमाने मे बामिया मे एक महान् बौद्ध सम्मेलन हुआ था। यहाँ के पवता की दीवारो के कृतक गुहाघरा मे आज भी लोग बसत हैं। दुनिया की सबसे बडी बौद्ध प्रतिमाएँ वही हैं। उनमे एक 125 फुट की और दूसरी 175 फुट की दत्याकार बौद्ध मूर्तियाँ हैं। आग उस देश पर सना लेकर आये इस्लामी मूर्ति भजका के आक्रमण से ये प्रतिमाएँ कितनी विकृत हो चुकी हैं, मानव की धर्मान्धता के साक्षी के रूप मे व आज भी बची हैं।

उसी बामिया म एक बार मगोल नेता चगेज खान की सना को हार खानी पडी थी। आगे उसके बेटे ने दुबारा उस नगर पर आक्रमण करके उसका ध्वस

लिया और वहाँ जन सहार किया। बामिया नगर के चैत्यालयो और प्रतिमाओं को देखर मरुभूमि के समान पहाडा के रास्ते से और 100 मील यात्रा करके 'बु दे अमीर' सरोवर देख आया। वहा के पहाडो का सौदर्य और ही प्रकार का है। उन सब के बारे मे 'पूव से अत्य पूव' यात्रा पुस्तक मे विस्तार से लिखा है।

मित्र श्रीश आचाय की कृपा से काबुल का दशन हो सका। काबुल म मुगल बादशाह बाबर की समाधि देखने का अवकाश भी मिला। इन सबने श्रीश आचाय के आतिथ्य की स्मति की अमिट छाप छोडी। काबुल स मैं और एक बार सुलेमान पवत देखकर स्वदेश लौट आया।

नेपाल की यात्रा

नेपाल के दूतावास म मेरे परिचित बाल्लोडी देवराय 'चाज डी अफेयर' थे। उन्होंने मुझे नेपाल आमत्रित किया। तेहरान मे श्री कमल दीक्षित ने भी नेपाल आने का आमन्त्रण दिया था। बहुत दिना तक वे दोनो आमन्त्रण स्मति म रहे। उन्ही दिना मुझे दिल्ली जाना पडा। एक बार मैं कुन्दापुर गया था तो शाम के समय हमारे ज़िले के कमिश्नर श्री नागगौड ने फोन से सूचित किया, "हमारी सरकार ने आपको पदमभूषण प्रदान किया है। कृपया आप उस स्वीकार करें।" उस समाचार से मुझे बडा आश्चय हुआ। मैंने यह खबर किसी को नही बतायी। मुझे यह आश्चय हुआ कि सरकार न मेरे सिर पर इस प्रकार का सम्मान क्यों लादा। मैं पहले से कांग्रेस सरकार की आलोचना करता आ रहा था। यह खयाल आया कि उस समय की निजलिंगप्पा सरकार ने अथवा किसी मित्र ने मेरा राजनीतिक दृष्टिकोण ध्यान में न रखते हुए केन्द्र को मेरा नाम सुझाया होगा। फिर भी मन ही मन मैंने उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की। खैर, तब मैंने सोचा कि इससे नेपाल की यात्रा के लिए सुअवसर मिलेगा।

एक यात्रा के साथ दूसरी यात्रा

मगलूर से सीधे दिल्ली जाने म कोई दिक्कत नही है। पर मेरी बुद्धि सीधी चलन को तैयार नही थी। दिल्ली पहुँचने मे पहले अपनी अन्य अभिलाषाओं को तप्त करने की चपलता से मैंने निश्चय किया कि पहले हैदराबाद म रहनवाले अपने भाइ के घर जाना चाहिए। वहाँ से विमान से भुवनेश्वर जाकर अपनी आँखें तप्त करनी चाहिए। फिर विमान स ही कलकत्ता जाकर अपन भतीजे रामानन्द के घर एक दिन बिताकर बाद म नेपाल की राजधानी काठमाडू जाना चाहिए।

भुवनेश्वर मन्दिर के समीप वाले खारवल के समय क खण्डगिरि, उदयगिरि के गुहालय और कोणाक की अद्भुत वास्तुकला न मुझे स्वप्नलोक म विहार

कराया। वे सब भारत की वास्तुकला और शिल्प के बारे मे उत्साह पैदा करने वाली कृतिया है। उन सबको देखा। कलकत्ता म दो दिन ठहरने के बाद, सीधा उडा तो बगाल का मैदानी प्रदेश लाघते ही भव्य हिमालय के दर्शन होने लगे। बहुत वर्ष पहले, मुझे शिमला नगर म दूर से हिमालय की एक झाँकी के दर्शन हुए थे। अब ऐसा नही था हजारो मीलो तक फैली पर्वतावली तथा एवरेस्ट और काचनजगा के शिखरो पर विहगम दृष्टि डालने का अवसर मिला।

देवराय तथा दीक्षित

काठमाडू मे विमान से उतरते ही दोनो मित्र मेरी प्रतीक्षा मे खडे थे। मैं देवराय जी के घर मे ठहरा। उनकी सहायता से पाटन, भाटगाव, काठमाडू के पशुपतिनाथ, स्वयभूनाथ के मदिर देखने का अवसर मिला। मित्र कमल दीक्षित के आतिथ्य का सौभाग्य भी मिला। इतना ही नही, देवरायजी ने तो मुझे भारतीय सस्कृति का दूत ही बना दिया था। भारत नेपाल मैत्री सघ की ओर से एक सभा का आयोजन करके मेरा सम्मान किया गया और उसकी स्मृति के रूप म मेरे सिर पर एक नेपाली टोपी भी पहनायी गयी।

बहुत पहले श्री देवराय मगलूर म अग्रेजी के प्राध्यापक थे। तब उन्होने एक साहित्यकार के रूप म अच्छा नाम कमाया था। उनकी उदारता और स्नेह का मैं बखान नही कर सकता। उन्होने भारत और नेपाल की मैत्री और घनिष्ठ करने के लिए जो परिश्रम किया वह प्रशसनीय है ऐसा काम एक ईमानदार राजदूत ही कर सकता है।

काठमाडू म मुझे पता चला कि हिमालय और काठमाडू के बीच महाभारत नाम की एक पर्वतश्रेणी है। यह दिवगत पण्डित नेहरू की राजनैतिक सूझबूझ थी कि नेपाल के मन्त्री राणा खानदान की मुट्ठी से निकलकर राज्य वर्तमान राजघराने के हाथ आया। बाद मे नेपाल के राजा को यह गलतफहमी हो गयी कि वही नीति भारत नेपाल राज्य मे स्वतन्त्रता जगाकर कोइराला जैसे व्यक्तियो को उकसाकर वहाँ के राजघराने को गिराने के प्रयत्नो म सहायक हो रही है। तब नेपाल ने अपने उत्तर के विशाल राष्ट्र चीन की ओर हाथ बढाये और हमारे देश की मैत्री की ओर सन्दिग्ध दृष्टि स देखने लगा। चारो ओर स बडे राष्ट्रो स घिरे छोटे राष्ट्रो की दशा ऐसी ही होती है।

जब काबुल गया था तब ऐसी ही एक विचित्र परिस्थिति देखने को मिली थी। काबुल मे एक के बाद दूसरे राजा गद्दी पर बैठते गये और गिरते गये। उसे रिझाकर अपने पक्ष मे करने के लिए रूस आगे आया। उसने काबुल तक राजमार्ग बना डाला। अमरीका, फ्रास, इग्लैंड भी उसकी सहायता को आगे आये।

इन उदार राष्ट्रों में होड़-सी लग गयी। आज अफगानिस्तान रूस की मुट्ठी में फँसा है। अफगानियों की स्वतन्त्रता आज कठपुतलियों की स्वतन्त्रता रह गयी है।

दिल्ली

चार-छह दिन काठमाडू में ठहरने के बाद, दिल्ली में आयोजित राष्ट्र प्रशस्ति वितरण समारोह में पहुँचा। उस वर्ष कर्नाटक से मुझे जस पद्मभूषण मिलने वाला था वैसे ही पद्मविभूषण डा० मोदी का भी मिलना था। हमारी ही तरह उसी दिन, पद्मविभूषण, पद्मभूषण और पद्मश्री उपाधियाँ प्राप्त करने वाले बीस-तीस लोग आमन्त्रित थे। राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह हम लोगों को वह सम्मान प्रदान करनेवाले थे। इंदिरा गांधी भी उस समारोह में उपस्थित थीं। उस दिन समारोह में काफी पहले प्रशस्ति प्राप्त करनेवालों को एक रिहर्सल कराया गया था। बाद में शाम को निश्चित समय पर विधिवत् समारोह हुआ। उसमें कर्नाटक के लोगों को मैं अपनी ऊँचाई से कोई छह इंच अधिक बड़ा दिखायी दिया हूँगा। आखिर मैं उस दिन पद्मभूषण का विजेता जो बना था, 'विजेता' शब्द का अर्थ न जाननेवालों के लिए। पता नहीं, किस जीवन से यह विरुद मिला? सरकार द्वारा दिये गये सम्मान को विजय' किस अर्थ में कहा जाए? वह कोई स्पर्धा है?

इस विषय को समाप्त करने से पहले एक दो मजेदार घटनाएँ बताना चाहता हूँ। उस समारोह के बाद कर्नाटक से आनेवाले यानी मुझ और डा० मोदी को डा० महिषी (उपमन्त्री) ने रात्रि भोज पर आमन्त्रित किया था। वहाँ कुछ और भी कन्नडवाले आमन्त्रित थे। जब हम साथ बैठे तो नेत्र विशेषज्ञ डा० मोदी ने मजाक में एक बात कही। उस दिन वे हमें सम्मान स्वीकार करते समय राष्ट्रपतिजी के काला चश्मा पहने मुड़ की ओर देखकर कृतज्ञता से नमस्कार करना ही था। मोदी जी ने उस काले चश्मे को बड़े ध्यान से देखा होगा। अतः उस दिन के समारोह के बारे में बातें करते हुए उन्होंने मुझसे कहा, 'राष्ट्रपति जी की एक आँख एकदम नहीं है।' खैर उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए था। राष्ट्रपति जी अन्धे नहीं थे। प्रधानमन्त्री के साथ पत्रों पर हस्ताक्षर करने वाली यह तो उनकी गांधारी वृत्ति होती है।

और एक खोज

उस दिन की प्रतिक्रिया के बारे में डॉ० महिषी को चार बातें कहनी ही थीं। उन्हें मेरा परिचय रहा ही होगा। वे बेलगाँव के एक कॉलेज की छात्रा थीं। एक वर्ष कॉलेज के वार्षिकोत्सव में मैं अध्यक्ष बनकर गया था। उस दिन मैंने अपने

हाथों से एक स्वर्ण पदक (कालेज की ओर से उनको किसी सफलता के लिए) उन्हें प्रदान किया था।

उसके बदले उन्होंने उस दिन रात्रि भोजन के समारोह में आगंतुकों को मेरा परिचय कराते हुए फरमाया "इन्होंने 'कानूर सुब्बम्मा हेग्गडती' जैसे महान उपन्यास की रचना की है।" यह खबर यदि वे वी पुट्टप्पा को मिल जाती तो वे मुझ पर कृतिचौर्य का दावा कर सकते थे। इतना ही नहीं उससे यह जय लगाने का भी अवकाश था कि मैंने उनके पद्मभूषण' विरुद को तो नहीं चुरा लिया क्योंकि कुछ वर्ष पहले ही वह उन्हें भी प्राप्त हुआ था।

मानसिक तृषा

जो भी हो मैं बुद्धिजीवी रहा, श्रमजीवी नहीं। यह इस अर्थ में कि दैहिक बल से किसी चीज की साधना नहीं की। अपने पचासवें वर्ष पूरा होने तक भी, जैसा मैंने शारीरिक श्रम किया वह उस श्रम का फल अनुभव करने के लिए नहीं था। वह फल भी मानसिक ही था। जहाँ तक दैहिक श्रम की बात है मैंने अपने यौवन में सात आठ वर्षों तक योगाभ्यास करके, कर्नाटक के कई गाँवों में भ्रमण करके, वहाँ के तरुणों को प्रशिक्षित भी किया था। चौथे दशक में तरुणों का दल एक त्रित करके, शान्ति शिविरों का आयोजन भी किया था। कुएँ आदि तुम्बाय, तालाब साफ करवाये थे। पर वह सब मैंने खुद कम किया था। परन्तु उस दौरान प्राकृतिक सौन्दर्य देखने या और कुछ देखने की चपलता से पाँवों को खूब थकाया था। कई बार पहाड़ की चढ़ाई उतराई की थी। ऐसा श्रम व्यायाम का अर्थ नहीं ले सकता। पहाड़ों और जंगलों में आँखों की भूख मिटी। शारीरिक थकावट के बिना वैसा हो पाना कठिन है। उसके लिए अनिवार्य पैदल भ्रमण दूसर प्रकार का होता है। तब आँखों को तृप्त करने की उस अभिलाषा में वह का वह श्रम महसूस ही नहीं होता।

मैंने अनेक बार ऐसे प्रवास किए हैं। उमर बढ़ने-घटने में पाँव मेरा शरीर ढोने में कमजोर पड़ते जा रहे हैं। एक ऐसी घटना बताता हूँ। मैंने मार्शिक रामायण का संपादन करके उसे प्रकाशित कराने का विचार किया था। तब उस कवि की अधिष्ठात्री देवी कौन है कहाँ है—यह खोजने का अवसर आया। उसका मंदिर उत्तर कन्नड़ जिले की घाटी की दीवार के बीच याण' नामक स्थान पर था। उसे देखने की इच्छा से शिर्सी गया। वहाँ से श्री एच श्रीधर जैसे मित्रों को साथ लेकर शिर्सी से बारह मील दूर हुगडेकट्ट गया। वहाँ एक घर में आतिथ्य का आनन्द लेकर, अगले दिन उनके दिये वाहन से आठ दस मील की यात्रा की। उस वाहन का वहाँ तक पहुँचा आना ही बड़ी बात थी। आगे पहाड़ के पास, वाहन से उतर कर पैदल जाना था। वहाँ उतरायी और चढ़ाई दोनों ही

थी। वह पहाड के पास का सकरा रास्ता है। मुझे अपने साहस पर यह विश्वास था कि मैं वहाँ चल सकूंगा पर कुछ ही दूर चलने के बाद इससे पहले का वह कुटचाद्रि पुष्पगिरि, कुदरेमुख की पहाडी आदि पर चढने उतरने का सारा घमण्ड जाता रहा। एक दो मील चलने के बाद मुझे कहना पडा, "आप सब आगे जाकर लौट आइए, मैं यहीं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।" पर क्या वे लोग मुझे छोड कर जाते? जैसे-तैसे पाँच छह मील चलकर अनादि काल के चूना पत्थर के बने उस मंदिर को देखा। बाबी की सी आकृति वाले उस टीले पर एक गुफा है। वह गुफा प्राकृतिक है। उसमें पानी रिसता रहता है। उस प्रकार रिसते पानीवाली दीवार ही भैरव कहलाती है। बूढे पुराने उसे भैरव मानते थे। 'वनवासव पुराण में कहा गया है 'अंधेरी गुफा में वतलेश्वर विराजमान है।' आँखों से न दीखनेवाले भैरव की तो मैंने कल्पना कर ली और उस दीवार की फोटो भी खींच ली। उसी प्रकार का दस्याकार चींटियों के बिल जैसा दीखनेवाला टीला निचली-घाटी घाटी में है। वह चण्डी का मंदिर है। सुना है वहाँ उसके भीतर छह फुट की एक कांसे की प्रतिमा थी। वह कुछ दिन पहले तक थी। हाल ही में उसकी चोरी हो गयी थी। बहुत थक जाने के कारण मैं उस देवी को देखने न जा सका। खैर उस यात्रा से इतना तो समझ में आ गया कि आगे से मुझसे शारीरिक श्रम का कोई भी काम नहीं हो पायेगा। उसमें एकमात्र अपवाद होगा—मन की मस्ती की धुन का शिकार होकर काल्पनिक भावों में बहकर नृत्य करने का काम। उसमें शारीरिक श्रम की कल्पना की बात ही नहीं उठती।

गुरु बिन विद्या

मेरे नृत्य का ढंग उसका आकर्षण उसका दुख सुख जो भी है वह सब मुझमें ही पैदा हुआ है और वह सब काम मैंने सन् 1940 तक किये हैं। पुत्तूर का दशहरा उत्सव बन्द हो जाने के बहुत दिन बाद तक मैं नृत्य के चक्कर में नहीं पडा। लेकिन फिर से 1958 में उसमें कूद पडा। तब मैं ब्रह्मावर में एक यक्षगान गोष्ठी चला रहा था। उस गोष्ठी में आये कुशल नर्तकों के सामने अपने मन का उफान निकालने के लिए लगातार दो घण्टे तक नाचा। उसके दो दिन बाद कदम उठाना भी मुश्किल हो गया। लेकिन नृत्य के समय किसी भी प्रकार की थकान नहीं महसूस हुई थी। उपर्युक्त एकमात्र प्रसंग यदि छोड दें तो सातवें दशक में मैंने अपने पाँवों को कभी थकाने की कोशिश नहीं की।

उस अवधि की भेंट

मुझे अपने देश की वास्तुकला का सौन्दर्य देखने की लालसा सदा जागृत रहती है। इसी कारण मैंने भुवनेश्वर की यात्रा की थी। उस यात्रा में ईसा पूर्व

की कुछ गुहाएँ देखी। आठवी शती और तेरहवी शती के रचित दैत्याकार देवालय और भव्य मूर्तियां भी देखी। इस प्रकार मैंने समस्त उत्तर और दक्षिण भारत के अधिकांश मन्दिर देख डाले। यह तसल्ली भी थी कि कम से-कम एक बार राजस्थान जाकर अम्बेर, अजमेर जयपुर की वास्तु और चित्रकला भी देख सका था। फिर भी कुछ ऐसे स्थल मुझे सदा याद आते थे जिन्हें अब तक देख लेना चाहिए था, पर किसी कारण देख नहीं पाया था। उनमें मुख्य हैं खजुराहो के देवालय। बस त मासिक पत्रिका के सम्पादन के समय मैं सन्त निहालसिंह की पुस्तक पढकर और उसमे दिये चित्रों को देखकर मुग्ध हुआ था। बाद में मार्टिन हर्लिमन द्वारा प्रकाशित खजुराहो पर एक पुस्तक मे वहाँ की वास्तुकला के सौन्दर्य को देखने का मौका मिला था। पर वह स्थान देख नहीं पाया था। मैंने पढा था कि वह झाँसी से इलाहाबाद जानेवाली लाइन पर पडता है। बीच के स्टेशन पर उतर कर जगल के रास्ते साठ से अस्सी मील तक पैदल जाना पडता है। वहाँ किसी प्रकार की सुविधा नहीं है। इस डर से मैंने कुछ दशक तक अपनी इच्छा को दबा रखा था। भुवनेश्वर की यात्रा ने उस लालसा को भडका दिया। सौभाग्य से पता चला कि दिल्ली से खजुराहो तक विमान सेवा शुरू हो गयी है। इसलिए पुन एक बार जब दिल्ली गया तो वह लालसा भी पूरी कर ली।

खजुराहो

मध्य प्रदेश मे स्थित इस स्थान ने दसवी और ग्यारहवी शताब्दी में चन्देल राजघराने के शासन के समय बडी उन्नति की थी। उनके शासन के डेढ सौ वर्ष के समय मे ही खजुराहो स्थान पर लाल पत्थर से एक नहीं सौ से भी ज्यादा मन्दिर बनाये गये। वास्तु और शिल्प के सौन्दर्य से युक्त ये मन्दिर एकदम दायें बायें स्थित राजस्थान, बिहार अथवा दक्षिण के प्रभाव के बिना कैसे बन गये यह एक आश्चर्य की बात है।

वहाँ मैं थोडा समय ही बिता पाया। उस स्थान को देख आये मित्रों से सुन रखा था कि वह जन सचारहीन स्थान है परन्तु जब मैं वहाँ गया, तब वहाँ ऐसा नहीं था। वहाँ प्रवासियो के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध करायी गयी हैं, मार्गदर्शक भी हैं। वह कला का ऐसा आगार है कि कलाप्रेमी वहाँ महीनो बिता सकते हैं। वहाँ मैं थोडा ही समय बिता सका, पर उस अवधि में मैंने विष्णु, ईश्वर, दुर्गा आदि पौराणिक देवताओं के सैकडो अवतार और विविध रचनाओं को देखा। वहाँ के पुरातन शिल्पों में जीवन के शृगार को रूप प्रदान करने के असंख्य तरीके देखे। पुरी और कोणार्क में दिखायी देने वाले और एक प्रकार के शिल्पो को अद्भुत प्रमाणों में देखा। कामशास्त्र ही नहीं, काम के विकृत रूप के अनन्य माध्यम देखे। हम लोग मिथुन शिल्पों को प्रयत्नपूर्वक चाहे कोई

विश्लेषण दें और वहाँ दिखायी देनेवाले शिल्प पर उसे आरोपित करें परन्तु मन में समाधान लाने की स्थिति तक हम पहुंच नहीं सकते। उन्हें देखकर मैं यह सोचकर लौटा कि जीवन में सुख भी है, दुख भी है, रस भी है, विरस भी है, वैसे ही सौन्दर्य भी है जुगुप्सा भी है।

नर्मदा का तट

और एक बार मैं (अब समय और प्रसंग भूल चुका हूँ) नर्मदा तट पर बसे जबलपुर गया। वहाँ एक प्राकृतिक जलाशय है जो नर्मदा ने अपने प्रवाह से संगमरमर को छेदकर निर्मित किया है। वह दृश्य देखकर लौटते समय मुझे वहाँ ले गये सज्जन ने कहा, 'यहाँ भी एक प्राचीन मंदिर है चलिए देखें।' वह एक टीले पर निर्मित एक वृत्ताकार मंदिर है। उस वृत्त के चारों ओर चार पाँच फीट ऊँची सलखड़ी की चौंसठ स्त्री मूर्तियाँ बनी हैं। मातृदेवियों के चौंसठ अवतारों का वहाँ एक विशिष्ट शैली में उकेरा गया है। मानव की सबसे पुरानी देवी उसकी माँ है। बाद में माता पिता के सम्बन्ध से उसके मन पर छाप डालनेवाला एक और देवता है—लिंगरूपी शिव। वहाँ के मंदिर को चौंसठ योगिनियों का मंदिर कहते हैं। मध्यप्रदेश में चन्देलों के बाद कलचुरी घराने की एक रानी ने यह मंदिर बनवाया था। कर्नाटक में राष्ट्रकूट की शक्ति कम करने वाले कलचुरी राजा ही थे। राष्ट्रकूट के वैभव के साक्षी यदि एलोरा गुहालय और औरंगाबाद हैं तो कलचुरी राजाओं के वैभव का एक सुंदर नमूना यह मंदिर है। वहाँ की प्रत्येक प्रतिमा मूर्तिभंजकों के हाथ चूर चूर हो चुकी है फिर भी अब तक प्राप्य अवशेषों से ही उनके नष्ट हो चुके रूप सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। उनकी शैली अत्यंत सरल सुंदर स्वतंत्र और गम्भीर तथा उन्नत है। ऐसे प्रवासों से अपने मन को तृप्त करना मेरा सदा का स्वभाव है। मैंने केवल यही एक ही काम नहीं किया फिर भी उससे मेरी अभिरुचि को पोषण अवश्य मिला है। पाश्चात्य शिल्प और चित्रकला का सौन्दर्य देखकर आने के बाद भी मेरे मन को संतोष देनेवाली और अपने पूर्वजों के प्रति मेरे मन में गर्व जागृत करने वाली अगर कोई चीज है तो वह है हमारा वास्तु और शिल्प।

हमारी साधना क्या है?

मानव के जी भर देने योग्य किसी किसी द्वारा बनायी चीजें देख कर या परोक्ष में सुनकर 'वाह वाह' कर देने से ही क्या हमारा काम खतम हो जाता है? यह प्रश्न मुझे सदा सालता है। मेरी आयु का बहुत बड़ा भाग अब समाप्त हो चुका है। मैं किसी का नौकर नहीं रहा अतः अब भी जड़ जीवन चलाना असाध्य है। घूम घूम कर देखना चाहिए, विविध साहित्य पढ़ पढ़ कर ज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिए,

जीवित रहने तक कोई न कोई साथक काम करते रहना चाहिए—यही बात सदा मेरे मन मे बनी रहती है। मेरे विचार से हम तभी यह महसूस कर सकते हैं जब कि हम जीवन को जीवन की तरह जी रहे हो। इसलिए प्रयासपूर्वक कई प्रकार के कामो का भार अपने सिर पर लाद कर परिश्रम करते मैं ने वर्षों बिताये हैं। छह सात वर्ष तो 'बालप्रपंच' मे काट दिये। तीन वर्ष 'अर्थ कोश' के निर्माण मे लगा दिये। पाँच वर्ष विज्ञान प्रपंच मे लगाये। लगाये या काटे यानी समय इस ढग से बीता कि इस बात का बोध ही नही हुआ कि कैसे बीत गये। उसी गुण से कौशिक रामायण के सम्पादन जैसा नीरस काम भी मुझे उबाऊ नही लगा। लगन से करने वाले काम मे श्रम नजर नही आता।

सातवें दशक के जीवन मे फिर से प्रश्न उठा कि शेष दिन कैसे बिताए जायें। छापाखाना बन्द कर दिया। केवल प्रकाशक बन गया। पर तब यह भय हुआ कि यदि मैं उसी काम को करता बैठा रहा और गोदाम मे पड़ी पुस्तकें कीड़ो से नष्ट हो गयी तो परिश्रम से कमाया थोड़ा बहुत पैसा भी स्वाहा हो जाएगा। तब पुस्तक प्रकाशन की जिम्मेदारी भी मैंने बगलूर की ए वी एच संस्था को सौंप दी। तब सोचने लगा कि चलो अब आराम से बैठा जा सकता है।

आराम मे बैठ नही सकता

अब तक ना कभी चुपचाप बैठा नही रहा उसमे आगे ऐसा करना सम्भव है? यह एक बड़ा प्रश्न है। करने के लिए कोई काम न होने पर भी किसी न किसी आवश्यक या अनावश्यक काम मे डूब जाना मेरा स्वभाव हो चुका है। आगे के लगभग मेरे सारे काम ऐसे ही है। दूसरे लोग चाहे या न चाहे जो विषय मुझे पसन्द है उसमे मन लगा देने की आदत आगे भी जारी रही। ऐसे ही कुछ उदाहरण आपके सम्मुख रखता हूँ।

चालुक्य वास्तुशिल्प

इस अवधि मे मैं कर्नाटक सरकार की संगीत-नाटक, ललित-कला और साहित्य—तीनो अकादमियो का सदस्य रहा। उनकी साल मे दो या तीन बैठकें होती थी। एक बार ललित कला अकादमी की बैठक मे मैंने कहा, "हम जनता मे कलाओ के प्रति अभिरुचि पैदा करने के लिए क्या कर रहे हैं? दूसरे देशो मे चाहे अकादमियाँ हो या म्यूजियम चुपचाप बैठे नही रहते, वे अपने यहाँ की कला सम्पदा का परिचय कराने के लिए विशेष प्रयत्न करते रहते हैं। हम क्या कर रहे हैं? सभाएं करते है ज्यादा से ज्यादा हम जिनको कलाकार समझते हैं उनका सम्मान कर देते हैं बस। जनता को कला के बारे मे जानकारी देने के लिए हम कुछ भी नही कर रहे है। हम जिनको सम्मानित करते हैं वे कलाकार कहलाते

लगते हैं। उससे पहले हमें स्वयं समझना चाहिए कि कला क्या है और किन लोगों को कलाकारों के रूप में सम्मानित करना चाहिए? क्या हम ऐसा वातावरण पैदा कर रहे हैं?"

तब एक सदस्य ने पूछा, "इसके लिए क्या प्रयत्न किया जाय?"

उस पर मैंने व्यथित होकर कहा, "देखिये कर्नाटक का एकीकरण हुआ। उसकी स्मृति में एक बृहत् ग्रंथ की रचना की गई। उसे खोलकर देखा तो ऐसा लगता जैसे कि पुराने मैसूर के अलावा और कहीं वास्तुकला जैसी कोई चीज ही न हो। मैसूर से सम्बन्धित कृतियों के अलावा और कुछ है ही नहीं। ऐहोल को भारत की वास्तुकला का पालना कहते हैं। ऐहोल, पट्टदकल्लु, बादामी और इट्टगि लक्कुंडी जैसे स्थानों का उस पुस्तक में जरा सा भी उल्लेख नहीं होना चाहिए था?"

उस उद्गार ने किसी को चकित नहीं किया। उसने मुझे ही जागृत किया। मेरा पहले से सीखा पाठ यह था—'हमें यह चाहिए, यह चाहिए' कहकर दूसरों पर भरोसा रखो तो काम नहीं चलता। मन सदा यही कहता, यदि तुम कुछ चाहते हो तो जो तुम्हें समझ में आता है वह करो। मेरे 'बाल प्रपंच' का जन्म भी ऐसे ही हुआ था। 'अर्थ कोश' भी ऐसे ही बना, 'विज्ञान प्रपंच' के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

इसी कारण मैंने कर्नाटक के वास्तुशिल्प के बारे में स्थूल परिचय देने वाली एक सचित्र पुस्तक लिखने का निश्चय किया। अब सोचने लगा कि कर्नाटक में कहाँ कहाँ क्या-क्या नहीं है? उसमें मैंने मैसूर के हलेबीड, बेल्लूर, सोमनाथपुर देख ही थे। उन्हें देखने से पहले मैं पट्टदकल्लु, ऐहोल, बादामी देख चुका था। कुक्कनुर, इट्टगि, लक्कुंडी तलकाडु, डंबल, मल्लिनाथ, बल्लिगावि आदि का मैंने नाम भर सुन रखा था और क्या था? बेकार रहने की अपेक्षा एक अच्छा काम तो मिला सोचकर कमरा कंधे पर लटकाकर और एक बार घूमने चल पड़ा। जहाँ पहले न गया था वहाँ भी गया, गये स्थानों पर भी गया। उनमें पट्टदकल्लु, ऐहोल, महाकूट, बादामी आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हें देखकर कुछ ही वर्ष बीते थे। जल्दबाजी के कारण कुछ ऐसे स्थल थे जो उस समय में नहीं देख पाया था। अब उन सब को कमरे में बंद करने गया। उपयुक्त सभी स्थानों की दो बार यात्रा की। वहाँ दुबारा जाने का और एक कारण था। अनेक मंदिरों के भीतरी भागों के फ्लैश लाइट फोटो खींचे थे। उन फिल्मों को जब धोकर देखा तो चित्र एकदम साफ नहीं आये थे। सिर खुजलाया। फोटो खींचने में कोई तकनीकी गलती हो गयी थी। दूसरी बार खींचे गये फोटो साफ थे। खैर, तीन महीने दौड़ धूप करके कई फिल्म बरबाद कीं। उन सारे चित्रों का संवर्धन करके उन्हें उनके सौंदर्य, शैली और काल क्रम से छाँटा।

छपाने की तैयारी

आगे और कुछ दिन तक वास्तुशिल्पों के अच्छे चित्रों की कापी तयार की। उन सारे मंदिरों पर विद्वानों की लिखी पुस्तकें पढीं। बाद में अपना लेखन-कार्य शुरू किया। चित्र संग्रह का काम भी पूरा हो गया। मैं जानता था कि अच्छे छापाखाने में हज़ार प्रतियां छपवानी हों तो उस ज़माने में आठ दस हज़ार रुपये लगते थे। कुल 73 के लगभग चित्र चुने थे। मणिपाल छापाखाने में उसके प्रकाशन का प्रबंध किया।

बाद में ललित कला अकादमी की अगली बैठक में मैंने बताया, 'आप लोगों के सामने मैंने ऐसा एक काम करने के बारे में कहा था। अब उस पर काम कर रहा हूँ। एक हज़ार प्रतियों की कीमत इतनी बैठ सकती है। दो हज़ार प्रतियां छपवाई जायें तो एक प्रति दस रुपये में बेची जा सकती है। वहाँ उपस्थित सदस्य मेरे मुंह की ओर देखने लगे। शायद उनका मतलब यह था कि इस सबके लिए पैसा कहाँ है। तब मैं बोला "आपको डरने की ज़रूरत नहीं है। उसके लिए सारा खर्च करके चित्र एकत्रित करके ब्लाक खरीदकर छपवाने की सारी तैयारी करके उसका नमूना यहाँ लाया हूं। मेरा काम व्यर्थ नहीं जाएगा। अब आपकी सहमति हो तो उसे मैं अपने ही नाम से छपवा सकता हूं।' तब लाचार हो उन्होंने सहमति देनी पडी। अगले दो तीन महीनों में पुस्तक प्रकाशित होकर बाहर आ गयी। उन्होंने उसका खर्च उठाया। मेरी खुशी का कोई ठिकाना न था। मैंने सोचा इस खुशी में मैं और भी काम पाऊंगा। पर उस खुशी में एक ही डर था। अकादमी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री की कोई व्यवस्था नहीं थी। ग्राहक या व्यापारी को चालान में पैसे दे अकादमी से मिलनेवाले थोडे से कमीशन पर पुस्तकें खरीदकर बेचने की जिम्मेदारी लेनी पडती है। उसके लिए उस अकादमी के कार्यालय में चार पाँच चक्कर लगाने पडते हैं। इस कारण छपी पुस्तकें अकादमी के कार्यालय में ही सुरक्षित पडी रहती हैं।

नया सुझाव

जिन दिनों मंडया के शंकरेगौडा कर्नाटक के शिक्षामंत्री थे उनसे यह प्रश्न पूछना ही पडा 'प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री की आपके यहाँ कोई व्यवस्था नहीं है? अकादमीवाले ने कहा कि प्रतियाँ बिकी ही नहीं।" तब श्री गौडा ने फरमाया, "उन्हें खरीदकर हमारी शालाओं में बाँटने की व्यवस्था करेंगे।' दूसरे दिन ही मैं उनसे मिलने गया। मैंने कहा, महोदय अकादमी सरकार के पैसे से पुस्तक छापती है और आप भी सरकारी पैसे से ही शालाओं में बाँटने को खरीदते हैं। पुस्तकें तो जनता तक पहुंचने के उद्देश्य से ही छापी जाती हैं। ऐसी व्यवस्था यदि नहीं की जा सकती तो पुस्तकें छपवाकर सरकारी पैसा व्यय नहीं करना चाहिए।'

पता चला कि जाग उसी ललित कला अकादमी न मैसूर के किसी एक ही व्यक्ति क—फाटो का अनुकरण करके चित्रकार बननेवाल साहसी क—चित्रा को पचास हजार रुपय खच करक छपवाया था। मैंने ऐसी अकादमी के सदस्या के सामन कहा 'दिल्ली की ललित-कला अकादमी भारत तथा विविध देशा क और विविध काला क चित्रो को छाप कर प्रकाशित करती है। हम भी उन चित्रो को खरीद कर उनक घोपका का अनुवाद करा कर अपने लोगो तक पहुचाने की यवस्था क्या न करें?' पर हमारा वातावरण ही कुछ और था। हमारी अकादमी क कलाविद कहलानवाा सदस्य अकादमी का अधिकाश पैसा अपनी शालाओ और मेहनत के वास्त पान की आर ध्यान रखते है। कला हमसे बडी है। कला का क्षत्र भी बडा है। उसस सम्बधित ज्ञान लागो मे फैलाना चाहिए—यह उदार बुद्धि उनमे नही है। 'हमारे चित्र खरीद लीजिए, हमारी कृतिया खरीदिए' लोग इसी चिता म लग रहत है। चित्रकला क्या है? दूसरा क चित्रा की अनुकृतियाँ बनाना हमारी सृजनशीलता है? एस लाग अपनी स्वतन्त्र सस्थाए चलाते हैं मत्रिया और उनकी पत्नियो की प्रशसा म अपन दिन काटत है। किसी न किसी बहान एस लोग सहायता प्राप्त करत चले आ रहे हैं। पुराने जमाने म कविया न राजाओ की प्रशसा म काव्य रचना करके क्या अपन जीवन नही चलाए? वह कला की सजा ह या सेवा की कला है?

प्रयोग और कृतियाँ

पुरानी यादें

जिन्होंने मेरा 'मरलि मण्णिगे' उपन्यास पढ़ा है उन्हें उसमें आनेवाले एताल के पोते राम की याद होगी। उस उपन्यास में आनेवाली तीन पीढ़ियों की कहानी में पहले मेरी दादी के ज़माने का परम्परावादी चित्र आता है। दूसरी में नई शिक्षा प्राप्त करने, उससे लाभ न उठानेवाला लच्चा आता है। ये दोनों पीढ़ियाँ निसर्ग से संघर्ष करती हैं। तीसरी पीढ़ी के पोते राम की आँखें निसर्ग से आकर्षित होती हैं। इसमें मैंने यह चित्रित किया है कि कला के माध्यम पर क्या प्रभाव हो सकता है।

हमारे देश का संगीत चाहे वह शास्त्रीय हो या लोक-परम्परा पर आधारित, भाषा से पैदा होकर व्यक्ति के मन को विस्मित करता है। इससे साहित्य में मानसिक सुख दुख तो दिखाई दे सकते हैं पर ऐसा नहीं लगता कि निसर्ग उसके द्वारा अपने को प्रतिबिम्बित कर सकता है। बिथोवन, शुबर्ट जैसे पाश्चात्य गीत प्रबन्धकारों ने यह कर दिखाया है। इस प्रश्न को मैं अपने 'मुक्तद्वार' नाटक में—काल को जब विविध पात्रों के रूप में चित्रित करने लगा तब नृत्य के माध्यम से प्रकट करने को विवश हुआ। उस नृत्य के अनुकूल चलनेवाले गीतों के चक्कर में मैं नहीं पड़ा। काल के बारे में मेरे लिखे गीत साहित्यिक हैं। काल पक्षी बनकर, अग्नि बनकर, सर्प बनकर, चक्र बनकर वहाँ दिखायी देने लगा। उस नृत्य को संगीत कैसे पुष्टि देगा यह मैंने सोचा नहीं था। पर यह कल्पना एक भ्रम या घुन की तरह मन को तंग किये जा रही थी। तब तक हिन्दुस्तानी नाटकों के गीत और कुछ चीज़ों से परिचय हो गया था। मैं साहित्य विरत बनकर बनाने लगा और अलीबाबा अलादीन जैसी कहानियों का प्रयोग करते समय मैंने हिन्दुस्तानी संगीत की उन चीज़ों का प्रयोग किया था। उससे मुझे अन्य प्रयोगों के लिए उत्साह मिला।

इस बात की मैंने पंडित मंगेशरायजी से चर्चा की। उसे स्पष्ट करने के लिए मैंने उनसे कहा, 'अब एक नदी है उसकी विविध गतियों को चित्रित करने क

लिए ऐसे किया जा सकता है।' मैंने तब राग भैरवी में आलाप लेकर पानी के उतार चढ़ाव की कल्पना को दिखाने का प्रयास किया। वे बड़ी खुशी से मेरी ओर देखते रह गये।

और एक बार 'मयूर' नामक नृत्य तैयार करते समय मैं मेघ मल्हार की एक चीज उठाकर आलाप लेने लगा। वह प्रयत्न वहीं समाप्त हुआ। उसकी संभावना मेरे मन में आयी थी जब 'मरलि मण्णिग' उपन्यास का नायक राम समुद्र के सामने बैठकर कल्पना करता है।

वासुदेव नायक

मेरे इस पागलपन को विकसित होने में और दो दशक लगे। 'प्रयाग' के प्रयाग में उसकी सम्भावनाएं दिखायी दीं। उस विकसित करने की चाह अभी मिटी नहीं थी। कुछ दिनों तक मेरे मन में 'नदी यात्रा' को ध्वनि रूप में सजना दीखता रहा। तब मैंने अपने यौवन के मित्र कुंदापुर के वासुदेव नायक को घर बुला भेजा। उनके हिंदुस्तानी संगीत के पाण्डित्य से मैं परिचित था। उनसे मैंने अपना उद्देश्य बताते हुए कहा, 'देखिए, मुझे नदी के जन्म और मृत्यु को गीतों के माध्यम से सृजन करने की इच्छा है। आलापों के द्वारा उसका गर्जन कर सकता हूं। परंतु बीच बीच में मेरे मुंह से निकलनेवाले आलापों को निश्चित और नियंत्रित करने की शक्ति मुझमें नहीं। एक बार जो आलाप लेता हूं वह दूसरी बार नहीं आता। उसके लिए आवश्यक स्वरज्ञान मुझमें नहीं यह आप जानते ही हैं।" यह बताते हुए मैंने अपने मन की सारी पागल कल्पनाएं उनके सामने रख दीं।

"आंधी आती है उसका गर्जन-तर्जन ऐसा है। बादल घिर कर बूंदें पड़ने लगती हैं उनका गिरना इस प्रकार है। बूंदों से बुलबुले बनते हैं और वह जल यूं रिसता है। उस जल की धार दूसरी धाराओं से मिलकर पत्थरों पर से गिरकर आगे बढ़ती है। वहां से जलप्रपात बनकर आगे कूदती है। बाद में वही मैदानी प्रदेश में पहुंचकर आराम से टेढ़ी मेढ़ी होकर हवा के साथ चल खाती इठलाती हुई बहती नदी बन जाती है। इसके बाद नदी समुद्र में मिल जाती है। समुद्र उसे पीछे ढकेलता है। समुद्र की लहरों और नदी में संघर्ष होता है। अन्त में किसी प्रकार नदी समुद्र में लीन हो जाती है।

इसीलिए राग मुलतानी में आंधी की प्रचण्डता दिखायी। राग पटदीप में बूंदों का गिरना उसका वेग दिखाकर भैरवी या किसी और राग में नदी का अहंकार दिखाया। जल प्रपात के लिए फिर से वही राग प्रयोग में लाकर लाचारी से रोक लिया। नदी का मन्द प्रवाह राग काफी से दिखाया। समुद्र का गर्जन दिखाने का राग मालकोस का प्रयोग किया और समुद्र और नदी का संघर्ष राग काफी और

मालकोस से दिखाया। अंत में राग मालकौस को काफी पर अधिकार करते दिखाया।

दो-तीन दिन तक मेरी गुनगुनाहट गगन का आलाप नायकजी हारमोनियम पर बजाते रहे। इस तरह मेरे मुंह से निकले हुए राग का विस्तार करके स्वरों का निश्चय कर दिया गया।

रेडियो प्रसार

अब मुझे यह याद नहीं है कि उस जमाने में बेंगलूर आकाशवाणी के अधिकारी कौन थे। मैंने अपनी यह कल्पना उनके सामने रखी। उन्होंने बड़ी खुशी से सहयोग दिया। मैं अपने साथ वासुदेव नायक को भी ले गया था। मैंने ही उन्हें याद दिलाया कि पहले किस राग का आलाप मैंने किया था अतः मुझे उनकी आवश्यकता थी। आकाशवाणी के वाद्यवृन्द के संचालन के लिए मेरे वहीं के मित्र श्री वी. वी. कृष्णमाचार्य मेरे सहायक हुए। कहीं वायलिन, एक दो जगह वीणा, गिटार चल्लो, आगन ऐसे आठ दस वाद्यों की सहायता से 'नदी-यात्रा' नामक आधे घण्टे का एक गीत प्रबंध तैयार किया। रेडियो से वह आगे दो तीन बार नये प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस काम ने मुझे संतोष तो दिया पर पूरी तृप्ति नहीं मिली। उसका कारण था मन्द्र स्थायी स्वरों को पुष्टि और तीव्रता देने में हमारे तन्त्री वाद्यों की अपनी सीमाएँ। उन्हीं बिना लय का प्रयोग करते हुए वाद्य वादकों को शाबाशी देते हुए, एक-दो-तीन चार कहते हुए बिना उँगलियों पर गिने निकलनेवाले मेरे काल्पनिक प्रवाह में संतुलन लाने का काम कष्टकर था। उस अवधि में मेरे लिए कृष्णमाचार और वासुदेव ने जो श्रम और सहायता की थी वह भुलायी नहीं जा सकती।

इस कल्पना के मेरे भीतर जमने के बाद से और एक गीत प्रबंध का दुबल रूप लेने के बीच वह एक मास मेरे लिए, स्वप्न का गंधर्व लोक बना रहा।

प्रयोग और गोष्ठियाँ

आगे जब भी अवकाश मिलता यक्षगान की संभावनाओं और असम्भावनाओं के सपने मुझे घेर लेते। मैं अपने मन में महाभारत के अनेक संदर्भों की कल्पना करता रहता। सैकड़ों पात्रों को आँखों के सामने खड़ा करके कुरुक्षेत्र में कदम चलवा कर देखता। वार्तालाप के बिना ही केवल वाद्य-वृन्द की पृष्ठभूमि से उसे खिलवाता।

इस अवधि में हमारे यहाँ के लोगों को यानी हमारे व्यावसायिक यक्षगान भागवतों और नर्तकों को, उनकी क्या कमियाँ हैं दिखाने की इच्छा हुई। इसलिए संगीत नाटक अकादमी की सहायता से उडुपि में चार पाँच दिन की एक

गोष्ठी की। उस गोष्ठी म यक्षगान के गीत, नृत्य, वार्तालाप और अभिनय म तथा भाव म जो सम्बन्ध है, उसकी चर्चा करने को, जितने लोगों को मैं जानता था और जितनों का दूसरों के द्वारा परिचय पाया था उन सबको और उत्तर तथा दक्षिण कन्नड दोनों जिलों के प्रसिद्ध अभिनेता, वादक और भागवतरों को आमन्त्रित किया। उस गोष्ठी का सारा प्रबन्ध उडुपि के महात्मा गांधी कॉलेज के प्रिंसिपल ने किया। आमन्त्रित सभी जनों का आने-जाने का खर्च और भत्ता देने की जिम्मेदारी संगीत नाटक अकादमी ने उठायी। इसी अवसर पर हर रात उत्तर के दल, दक्षिण के दल, कठपुतली का नाच, चमगुतली म उलाद अलावा दिन म कुछ प्रतिस्पर्धाएँ और कुछ विषयों पर चर्चाओं का आयोजन भी किया गया था। उस गोष्ठी की विशेष उपलब्धि यह थी कि गीत और भावों (सुख, दुख, हर्ष उल्लास रोष, भय आदि) की अभिव्यक्ति म तथा उनके लिए पृष्ठभूमि के वाद्य और भागवतरों की ताल म सामंजस्य कैसे हो तथा पद-संचालन और गति में और भावों मे भी कैसा सम्बन्ध होना चाहिए—इन विषयों पर चर्चा हुई। उदाहरण की आवश्यकता पड़ने पर मैंने उसे स्वयं करके दिखाया। भाग्य से वह सारी कार्रवाही बकवाडी श्रीनिवास भट्ट ने लिखकर रख ली थी अत उसे प्रकाशित करना भी सम्भव हो गया।

इस गोष्ठी म भी उत्तर दक्षिण जिले की बात भले ही न रही पर पाति सुबा का प्रेत छाया था। एक भी अभिनेता या भागवतर दक्षिण से नहीं आया। उसमे अपवाद यह रहा कि दक्षिण के कुछ प्रसिद्ध ताल और मद्दल के कलाविद आये। उनमे दरार्जे सीतारामय्या ने हम पूरा पूरा सहयोग दिया। समय, स्फूर्ति वार्तालाप म कितने भाव और रगों का ध्वनि के द्वारा प्रदर्शन किया जा सकता है इन सब पर सफल प्रयोग किये। हमारी गोष्ठी म भाग लेने दिल्ली संगीत नाटक अकादमी वाले और कुछ विदेशी भी आये थे।

सहयोग

इस तरह की गोष्ठी का सारा श्रेय उसकी व्यवस्था का भार उठानेवाले मित्र और धन की सहायता करनेवाली संगीत नाटक कला अकादमी (कर्नाटक) को मिलना चाहिए। उससे ज्यादा मेरे जन्मस्थान के व्यावसायिक कलाविदों को मिलना चाहिए। मेरे प्रयोग के बारे म आस पास के प्रदेश के उदार समीक्षकों ने कई प्रकार के आक्षेप किये परन्तु स्थानीय व्यावसायिक कलाविदों का व्यवहार ऐसा नहीं रहा। वे तो निरन्तर अपनी शक्ति भर सहायता देते आ रहे थे। कालक्रम से यहाँ भी एक छोटी सी फाँस आ लगी।

बाल-साहित्य

सातवें दशक मे बाल साहित्य की दो गोष्ठियो से मेरा सम्बन्ध रहा। मद्रास के 'सदन लैंगवज बुक ट्रस्ट' ने मेरे निर्देशन म बगलूर मे कन्नड, तमिल, तेलुगु, मलयाली भाषाओ के लेखको की गोष्ठी का आयोजन किया था। तब बच्चा के साहित्य के लिए मेरे समान परिश्रम करनेवाले कुछ लेखका का परिचय हुआ। उन मे चित्रकार और प्रकाशक भी थे। वहाँ मुझे ऐसा लगा कि आधुनिक युगीन पाश्चात्यो की रचनाओ का अध्ययन करके उनसे प्रेरणा पानेवालो की सख्या अभी बहुत कम है। उस गोष्ठी के कुछ मास बाद उसी सस्था न दिल्ली म अखिल भारतीय बाल साहित्य गोष्ठी का आयोजन किया। उसके लिए भी मुझे निर्देशक के रूप म आमन्त्रित किया गया था।

दिल्ली की गोष्ठी

उसम सरकार की ओर से एन सी ई आर टी के प्रतिनिधियो ने भी भाग लिया। उसकी कुछ चर्चा प्रख्य चित्रकार श्री शकर मेनन के भवन म भी हुई। शकर मेनन ने बच्चा के लिए कुछ सुन्दर सचित्र पुस्तकें प्रकाशित की हैं। व सभी दृष्टिकोणा से प्रशसनीय थी।

उस गोष्ठी मे मुझे यह कमी दिखाई दी कि व स्व बच्चा के लिए लिखना चाहत थे, पर आधुनिक विज्ञान को बच्चो की कहानियो म ठूसना चाहते थे। उनका उद्देश्य तो अच्छा था परन्तु वे चन्द्रलोक की यात्रा के विषय म सामने आनेवाली वैज्ञानिक समस्याओ के ज्ञान के बिना ही अन्तरिक्ष प्रक्षेपणा या पुष्पक विमानो के रूप मे सरलीकरण करन का प्रयास कर रह थे। तहरान म मेरे साथ गय भारत के प्रतिनिधि डा शर्मा प्रत्येक क्षण विज्ञान की बातें किए जा रह थ। तब मैंने अनुभव किया कि 'वैज्ञानिक' कल्पना उनम एकदम नहीं थी।

और एक बात! एन सी ई आर टी के प्रतिनिधि अपन सरकारी पद के उच्च स्तर स नीचे उतरन को तयार न थ। भाषा शिक्षा के विचार स हिन्दी म उन्होने जो प्रयोग किय हैं व अब भी 'वर्णाक्षर' वर्णमाला स जूझ रहे हैं। लिपि सिखाने के लिए, लिपि के आकार और उसी से मिलन-जुलनवाली वस्तुओ की कल्पना करन वाल प्रो लुबेकर की दृष्टि एकदम अथ शून्य लगी। मुझे आश्चय हुआ येलाह जसे व्यक्ति के यह कहा पर कि वाक्य स शब्दज्ञान और शब्द स अक्षर ज्ञान अपन आप हो जाता है। जब इस पद्धति का प्रचार होन लग गया है तब फिर 'अनादि लिपि दवी' द्वारा य नन्हे मुन बच्चे क्या सताय जाना चाहिए? भाषा की कल्पना के लिए अथ दन का शब्द एक पत्थर होन हैं। लिपि अथ रहित होती है, शब्द उसमे अथ भरत हैं। आश्चय की बात है कि यह अज्ञान आज भी

हमारे देश के शिक्षाधिकारियों और शोध संस्थानों में दिखायी दे रहा है।

क्षुद्र विषयों में

मुझे उपयुक्त उदाहरण इस कारण देना पड़ा क्योंकि आत्मकथा लिखते समय मैंने जिन क्षेत्रों में श्रम किया है वे जितने मुख्य और आकर्षक हैं उतने ही महत्त्व के हैं, मेरे जीवन को भरनेवाले विषय भी हैं। मुझे उस बारे में इसलिए कहना पड़ा कि हमारे देश का शिक्षा-क्षेत्र नीरस और अनाकर्षक होने से बच्चों में ज्ञान का कौतूहल नहीं जगाता। इसका कारण ऐसे विपर्यास ही हैं। हम चाहे कैसा भी ज्ञान किसी को देना हो उसमें दो बातें मुख्य हैं। पहली बात है कि यह ध्यान रखना चाहिए कि हम किसे समझा रहे हैं? उसकी आयु क्या है? उसकी नैसर्गिक रुचि किस्म है? उसमें कौन कौन से संवेदन जाग्रत किये जा सकते हैं? हम इस बात को भूल जाते हैं कि बिना रुचि जगाये हम विषय को चाहे जितना भी विद्यार्थियों में भरें वह ज्ञान शिक्षा न होकर दण्ड हो जाता है। शिक्षा उनके कान और आंख द्वारा होनी चाहिए। थोड़ी बहुत स्पर्श द्वारा भी। हम जगत का परिचय इन इंद्रियों द्वारा ही होता है। देखकर, छूकर और सुनकर हम इस जगत् को समझने का प्रयास करते हैं। जिसे हम देख नहीं सकते उसके बारे में सुनकर समझते हैं। ऐसी जो बातें बच्चे सीखते हैं उन्हें दुबारा व्यक्त कर सकने का उत्साह उनमें आना चाहिए। बिना किसी शिक्षक के ही बच्चे अपनी मातृभाषा सीख लेते हैं। इसलिए हमें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि क्या दूसरी भाषाएँ सीखने में बच्चों को अपनी आयु के दस बारह वर्ष देने चाहिए?

दूसरी बात यह है कि जब तक अभिरुचि उत्पन्न न हो तब तक कोई भी उपदेश लाभकारी नहीं। किसी विषय में रुचि उत्पन्न करने के लिए उसके प्रति आकर्षण पैदा करना ही एकमात्र रास्ता है। यदि वह आकर्षण हो और हम पुस्तकें उपलब्ध करा दें तो विद्यार्थी बड़ी रुचि से उन्हें पढ़ेंगे। जबरन अथवा कभी होनेवाले लाभ के लालच में पढ़ाने से कोई फायदा नहीं होता। हमारा पाठ्यक्रम ही ऐसा होना चाहिए। साथ ही, अध्यापक को विषय का उत्साह और पूरा ज्ञान हो तभी यह सब संभव हो सकता है। विद्यार्थियों के सामने आनेवाली पुस्तकों में यह गुण होने चाहिए।

दो एक प्रयत्न

इस दिशा में मैंने बहुत पहले दो एक प्रयत्न किये थे। भूगोल के लिए मेरी लिखी 'चित्रमय दक्षिण कन्नड' और 'दक्षिण भारत' इसके उदाहरण हैं। भाषा की शिक्षा के सिलसिले में मेरी 'सिरि कन्नड पाठमाले' और हूगन्नड

समीक्षकों के आक्षेप

इस लम्बी अवधि में लिखे गये उपन्यासों पर काफी समीक्षाएँ हो चुकी हैं। मुझके बारे में एक दो बातें यहाँ कही जा सकती हैं। कारण ऐसी ही बातें कहते चले आ रहे हैं। इन्हें ऐसी ही चीजें पसन्द हैं, 'ये अमुक के प्रति उदार हैं उन्होंने अमुकों के प्रति उदारता नहीं दिखायी' एक उपन्यास में अमुक पात्र ऐसा कहता है जीवन को जब गरीबी और शोषण चूस जा रहा है तब वे इधर उधर की बात कहे जा रहे हैं। इस प्रकार की समीक्षाएँ हुई हैं। ऐसी समीक्षाएँ मैंने स्वयं बहुत कम पढ़ी हैं। उनमें से अधिकांश तो मित्रों ने लाकर सुनायी हैं। कुछ लोगों ने पत्र लिखकर भी पूछा है कि मैंने ऐसा क्या लिखा? मैंने उन्हें उत्तर भी दिये हैं। पर ऐसी समीक्षाएं मुझे विचलित नहीं करतीं।

एक साहित्यिक कृति को जनता के सामने रख देने के बाद समीक्षक उसके बारे में जो कुछ कहते हैं या जो सुधार चाहते हैं उसे हम उपन्यास के अगले संस्करण में ला नहीं सकते। एक चित्र बना देने के बाद एक शिल्प के निर्माण के बाद समीक्षकों की टीका देखकर उसमें पुनः परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। साहित्यिक कृति की यही बात है। आगे अगली किसी कृति के निर्माण के समय वह समीक्षा याद आ सकती है। ग्राहकों की इच्छानुसार लिखा जा सकता है बाजार की रुचि के अनुसार लिखा जा सकता है। जो उनको चाहिए वह हम अपनी रचनाओं में दे सकते हैं परन्तु अपने जीवन की जिम्मेदारी को पूरा करने के प्रयत्न में मैं अपना उत्तरदायी आप हूँ। मैं इसी दृष्टिकोण से लिखता हूँ। समीक्षक जैसा चाहते हैं स्वयं उसका सृजन कर सकते हैं परन्तु उन्हें एक लेखक को लेकर आप ऐसा लिखिए और ऐसा मत लिखिए कहने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। अपने जीवन को बतान का अधिकार केवल मेरा है। यह अधिकार मुझे जन्म देनेवाले ब्रह्मा को भी नहीं। मेरे जीवन के प्रति मेरे अनुभव का ज्ञान ही उत्तरदायी है। ऐसा अनुभव दूसरे का नहीं हो सकता। समान अनुभव होने पर अपने अनुभव को नाप तौलकर यह मुख्य है यह गौण है यह अच्छा है यह बुरा है यह कहने का अधिकार केवल मुझ ही है। यहाँ स्व दृष्टि और पर दृष्टि मुझ तक पर सकती है, हम भले ही कितना प्रयत्न करें दूसरों की दृष्टि को समझने की हमारी एक सीमा होती है। उसी सीमा में मैं दृष्टि को समझता हूँ और चित्रित करता हूँ।

आज मैं जब अपने अनुभवों के बारे में सोचता हूँ तो इस पचास वर्ष की लम्बी अवधि में भी और उसके बाद भी उनका स्तर एक ही जैसा नहीं है। अपनी अनुरक्ति और आवेश उतर जाने के बाद, मानव स्वभाव और उसकी समस्याओं के बारे में यह जान जाने के बाद कि विविध ज्ञान शक्तियों का प्रभाव

भी उन तक पडता है, अपने अनुभवो के मूल्यांकन म भी अन्तर आ जाता है। इस दृष्टि से मेरी मानसिक प्रगति जिस दिन रुक जायगी या म द पड जायेगी उस दिन यह समझना चाहिए कि मेरा जीवन भी स्त ध हो जायगा।

पक्षपात

एक ही उपन्यास के विभिन्न पात्रो को चित्रित करते समय मेरे पक्षपात की बात कहनेवाले समीक्षको से एक बात कहनी है कि उप यास म आने वाले सभी पात्र मेरे अनुभव जन्य है। वह अनुभव उनकी चाल ढाल और व्यवहार देखने पर ही हुआ है। मैं अपनी सवेदना—सज्जन, दुर्जन, चोर और झूठे को समान उदारता से नही बाट सका हू। यदि सबको एक ही ढग से आका जाय तो व एक दूसरे स भिन्न नही दीखेंगे। यदि व मुझे सभी समान रूप से मूर्ख या ईमानदार दीखें तो व्यक्ति के चरित्र और समस्याओ की भिन्नता का कोई अर्थ ही नही रह जायगा।

हमारे कुछ समीक्षक जिन मूल्यो को नया मानते है अथवा जि हें उन्होंने बाहर स उधार लिया है उ ही सिद्धा तो के आधार पर व टीका करते हैं। उनके लिए जो उन्होंने पढा है (कहना चाहिए जिसे उ होने खोजा नही) वह ही अत्यन्त आधुनिक तकनीक है सही मापदण्ड है। मैंने तकनीक के दिखाव के लिए कुछ भी नही लिखा और लिखूगा भी नही। मेरी रचना मेरे अनुसार ही चलनी चाहिए नही तो नही। मेरे प्रत्येक उपन्यास की अपनी अपनी शैली है। उस दृष्टि से समीक्षको की समी ा अथवा उनके द्वारा दिये जानेवाले अको में जोड म अन्तर आ सकता है।

सातवें दशक के उप यास

सातवें दशक म मैंने 'आल निराल' 'इद्दर् चिन', 'इ मोददारी', 'स्वप्नद हाने', 'मूकजिय कनसुगलु' और 'उविक्द गार' उपन्यास लिखे। उनमे भी अब मुझे एक दो उपन्यासो की कथावस्तु याद नही है और एक दो की थोडी बहुत याद बची है।

'आल निराल' मे एक परिक्रमा रेल म बैठकर यात्रा करनेवाले विविध मनो धर्म के यात्रियो का दृष्टिकोण है। उसके मुख्य प्रेरक एक बुजुर्ग मित्र रहे हैं। वे है दिवगत नतर शामु शर्मा। वे अपने जमाने के महान विद्वान् और दार्शनिक थ। उन्होंने आशावादी दृष्टिकोण से जीवन को देखा था और साफ सुथरा जीवन बिताया था। एक दिन व ईंधन के एक ट्रक के चपेट म आ गये। उनके पाँव पर से लारी का पहिया चढ़ गया। तब नि सहाय देखने खडे राहगीरो स

उन्होंने कहा "खड़े खड़े क्या देख रहे हो। पाँव को काटकर अलग करके देह को बाहर निकालो।" मैं उन्हें अस्पताल में देखने गया था। मुझसे उन्होंने गंभीरता से कहा 'अवश्यमनुभोक्तव्यम कृतं कर्म शुभाशुभम्।' यह था उनका विश्वास। उनका वह व्यक्तित्व ही मेरे इस उपन्यास की प्रेरणा थी।

स्वप्नद होल (स्वप्न की नदी) उपन्यास में कला से सम्बन्धित बातें आती हैं। साथ हो आदि मानव की एक कल्पना भी है। रास्ता भटक जाने से संकट में पड़ी एक लड़की की कहानी इसकी मुख्य कथावस्तु है। उसके लिखने की प्रेरणा भी एक विचित्र ढंग से मिली।

एक शिक्षणालय की अध्यापिका अभी कन्या ही थी। वह वहीं के एक अध्यापक के प्रेम में फँसकर गर्भिणी हो जाती है। दोनों अलग अलग जाति के होने से उनका प्रेम विवाह के बंधन को समीप नहीं ला सकता। और फिर वह व्यक्ति तो पहले से ही विवाहित था बाल बच्चे भी थे। यह बात उस लड़की के एक सम्बन्धी के कान में पड़ने से वह गुस्से में आ जाता है। वह उस अपराधी से बदला लेना चाहता था। वह मेरी सलाह लेने आया। मैंने उसे समझाया कि इससे स्थिति और बिगड़ सकती है और लड़की का जीवन और दुखमय हो जाएगा। पहले लड़की के भविष्य के बारे में सोचना चाहिए था। किसी वैद्य से उसका गर्भपात करा देना था। उस संकट से पार होने के बाद ही कोई बात सोची जा सकती थी। उस भाग्यहीन कन्या का मुझसे परिचय करानेवाला भी वही अध्यापक था। उस लड़की पर अनुकम्पा होने से ही वह उसे मेरे पास लाया था। मैंने देखा कि हमने जो रास्ता सोचा उससे उन्हें कोई राहत मिलती दिखाई नहीं दी। मैंने उन्हें सचेत किया कि उससे वे और संकट में फँस जाएँगे। बाद में उस अध्यापक ने उस लड़की से विवाह कर लिया। मैंने देखा कि उनका जीवन आनन्द से बीत रहा है। उस अध्यापक के प्रति मेरा आदर सौ गुना बढ़ गया। यही घटना स्वप्नद होल उपन्यास की कथावस्तु की आधारभूमि बनी।

इसके बाद मैंने और दो उपन्यास 'मूकज्जी' और 'उक्किद नोर' लिखे। दूसरे में उत्तर और दक्षिण कन्नड़ जिलों की स्वतन्त्रता पूर्व की राजनीतिक स्थिति का स्थूल चित्रण है। तब के कलुषित राजनीतिक वातावरण में सज्जनता और ईमानदारी के लिए कोई स्थान न होने से दुर्गंध को ही श्रीगंध (चंदन) बताने की नीच वृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। 'मूकज्जी' एक गहरी नैतिक समस्या से सम्बन्धित है। इसमें आनेवाली मूकज्जी (मूक नानीमाँ) का व्यवहार, बातें, परम्परा से आया भगवान, अवतार, पाप-पुण्य इत्यादि विषयों पर का उसका विश्वास हमारे अन्तस को झिंझोड़कर रख देता है।

अमीरों के दुर्व्यवहार पर आँखें बन्द कर लेनेवाले तथा साधारण जन की समस्याओं को बढ़ाकर बतानेवाले समाज में स्त्री पुरुष की समस्या भी एक प्रमुख

विषय है। इसे चित्रित करती मूकज्जी के मुह से निकलनेवाली अनघ बातें परम्परावादियो को हिला सकती है। उस पुस्तक के प्रकाशन के बाद कुछ मित्रो ने केवल इतना ही कहा कि उन्होने उसे पढा है, और कोई बात नही की। दस वर्ष बाद उसी को 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिला। बाद म उसकी बडी प्रशसा होने लगी। उसम हमारे समीक्षको के लिए एतराज की बात मूकज्जी की अतीन्द्रिय शक्ति थी। प्रश्न यह उठा कि ऐसी शक्ति है या नही। करिश्म, अवतार, पुनजन्म इत्यादि पर विश्वास करने वालो को मूकज्जी म दिखाई देनेवाली शक्ति अनर्थकारी लगी। उसमे स्त्री पुरुष की अनादि काल की समस्या का निरूपण है यह मुख्य विषय ही ओझल हो गया। मैंने लैंगिक प्रश्न को लेकर गत तीन हजार वर्षों से चले आये दृष्टिकोण को प्रागैतिहासिक साक्षियो के साथ बुन्द कर दिखाने के लिए सत्तर अस्सी वर्ष की एक वृद्धा को माध्यम बनाया। परम्परागत जीवन के साथ साथ प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान उसके द्वारा दिय जानेके लिए मैंन उसे अतीन्द्रिय दृष्टि दी। उसका मुख्य कारण स्त्री-पुरुष की अनादि काल से चली आयी एक सृष्टि है। मानवकुल उस स्तर का अंतिम सोपान है। उसके बाद म विविध धार्मिक दृष्टियो को व्यक्त करन के लिए मुझे मूकज्जी को सपने देखने की शक्ति देनी पडी। ऐसे सपन देखनेवाली वह मूकज्जी अपने ही सामने बडी मेहनत करके जीविकोपाजन करनेवाली, तथा अपन ही किसी रिश्तेदार द्वारा शीलभग की गयी और इसी कारण पति से बिछुडी हो एक स्त्री और उसके पति दोनो को करुणा की दृष्टि से समीप लाती है। जातक, पुराण, चमत्कार सबको पचाकर चलनवालो के विश्वासो की नीव को यदि गरीब मूकज्जी की शक्ति हिलान लगे तो उसका कौन जिम्मेदार है? हम तो चमत्कार और पुराण आदि अवास्तविक नही लगते। सत्य देखने की एक दृष्टि अवास्तविक लगती है। साइ बाबा जसा के समक्ष घुटने टेकनेवालो की प्रतिमा का मेरा उपन्यास 'मूकज्जी' अवास्तविक दीख सकता है।

दशक उत्साह

अभिमानियो का परिवार

बीसवी शती के सातवें दशक म मुझे एक बात स्पष्ट दिखायी दी, वह यह थी कि क नड म भले ही पाठका की सख्या कितनी भी रह, लेखन-वत्ति अपनाकर जीवन चलानेवाले का आर्थिक रूप स निश्चित हो पाना असम्भव है। यदि ऐसा न हो तो स्वच्छ प्रवृत्तिवाला के लिए कला क माध्यम द्वारा जीवन चलाना बडा कठिन हो जाएगा। जनता म लोकप्रिय हो जान क बाद यह बात सिनमा क्षेत्रवालो क लिए तो सभव हो सकती है पर कलम के बोरा के लिए नही। लेखक बनकर जाने क लिए मुझे प्रकाशक भी बनना पडा और मुद्रक भी। उन दोना क छूट जान के बाद जीवन चलाना कठिन ही हो गया। साठ के बाद तो कष्टा न और भी घर लिया। अपेक्षित रूप स बड हानियाँ भी उठायी। परन्तु उन आघाता से उभरने मे कन्नड जनता का अभिमान मेरा सहायक बना यह बात मैं भूल नही सकता। जो मेरी समझ म आया वह मैंने लिखा। उससे मैंने उन्ह दुख भी पहुँचाया। किसी को उद्देश्य पूवक दुख देने को तो मैंने नही लिखा था। अत वे उसे स्वीकार करते आये। मैं अपने समाज स अलग नही होना भी नही चाहिए। मेरी समीक्षाए और खण्डन जो भी रहे हो, मैंने समाज की अव हेलना करके एक उपदेशक की जगह खडे होकर कुछ नही किया। यह बात धीरे धीरे विकसित हुई। पिछले सात आठ वष म मेरे अभिमानिया की सख्या बढी है। उनकी इस परिवतन का मैंने अनुभव किया बरना बगलूर मे रहनेवाले मेरे केवल एक परिचित यह पता लगाकर कि कु० पि० हरिदास भटट मेरे घनिष्ट मित्रा मे से एक है उनके द्वारा मुझे बगलूर म आमत्रित करके मेरे सम्मान म समारोह न करते। उन्होने अपनी मित्र मण्डली इकट्ठी की और काफी समय और पसे खच करके मुझे 1967 म एक दिन बगलूर बुलाया।

तब म पैंसठ वष का था। पर उस सख्या का कोई विशेष महत्त्व न था। उसी व्यक्ति ने दो वष पूव एक जोरदार आयोजन करके उपन्यासकार अ न कृष्णराय का सम्मान किया था। उसी प्रकार उन्हे मेरा भी सम्मान करने का हठ था। इससे

पहले मेरा और उनका कोई विशेष सम्पर्क नही था। वे होटल उद्योग म लगे हुए थे। हाँ मेरे गाव के अवश्य थे। उनके दैनिक जीवन और साहित्य म क्या सम्बन्ध हो सकता है यह मेरी समझ स बाहर था। पर कृष्णराय का उनके द्वारा सम्मान किये जाने की बात सुनकर मुझे इतना अवश्य स्वीकार करना पडा कि सम्बन्ध कहा है। मित्र रामकृष्ण ऐताल ने बगलूर नगर के अनेक साहित्य प्रेमियो को एकत्र करके मेरे सम्मान म एक समारोह की व्यवस्था की। उस समारोह मे एकत्रित प्रेक्षकों को देखने पर मुझे यह मानना पडा कि उसम मेरी रचनाएँ पढने वाले सकडो अभिमानी हैं। इसके अलावा मेरे पुराने मित्र और प्रशसक श्री वी सीतारामय्या और डा शिवराम जस व्यक्तियो द्वारा मेरी प्रशसा भी करायी। ऐसा लगा कि उस दिन उन्हे मेरे लिए वहा खास कर लाया गया था। समारोह की अध्यक्षता के लिए उस दिन मुख्य म त्री हनुमन्तय्याजी आमन्त्रित थे। एक समारोह जितनी शान स किया जा सकता है उतनी शान से उन्होने किया। उस दिन मैंने क्या कहा आज मुझे याद नहीं। अपनी प्रसन्नता मने जाहिर नही की। अभिनन्दन पत्रो म सदा दिखायी देनेवाली उत्प्रेक्षापूर्ण बातो पर मैंने कान देना बन्द कर दिया था। ऐसी बातें मुझे सदा अति महसूस होती है। जो भी हो उस दिन के उत्तर के अन्त म मुझे स्वतन्त्र भारत की याद हो आयी। स्वतन्त्र भारत 'सत्यमेव जयते' के आदर्श को लेकर चला था। परन्तु वही प्रशासन जनता की स्वतन्त्रता के लिए पहने के पाच सौ राजाओ को चार करोड रुपये प्रतिवर्ष मुआवजे के रूप म देने की बात से मुकर गया था। इसीलिए उन आदर्शो की पीठ ठोकनेवाले भारतीयो की तब मुझे याद आयी। इस देश की जनता के प्रमुख जब राजाओ को दिये वचन से ही मुकर गये तो वे जनता को दिये गये वचन कहा तक निभाएँगे? शायद यही दुख उस दिन मैंने व्यक्त किया था। कर्नाटक के मुख्य मन्त्री की उपस्थिति स मेरे मन म यह बात जाग उठी होगी। हो सकता है कि उस भाषण के कुछ अश उस सभा के सयोजक श्री रामकृष्ण एताल के पास हो। सभा के अन्त म उन्होने अध्यक्ष के हाथ से सात हजार रुपये भेंट दिलाये। वह पैसा बगलूर के मेरे अभिमानियो ने एकत्रित किया था।

सावधान

इस अवसर पर मैं बगलूर म श्री रामकृष्ण एताल का अतिथि रहा। मैंने उन्हे पहले भी देखा था, शायद उनके विवाह के अवसर पर। उस विवाह और इस समारोह के बीच काफी वर्ष बीत गये थे। फिर भी उनका मेरे प्रति स्नेह मैं भूल नहीं सकता। मैं जब घर जाने लगा तो उन्होने एक बात कही, "आप से एक बात कहना चाहता हूँ। वह इसलिए कि आपके स्वभाव के बारे म एक सन्देह है। आपको लोगो ने पहले भी धन भेंट किये थे। हम जानते हैं आपके

हाथ म पसा रखता नही। यह पसा आप बक म जमाकर दीजिए।" पसे का मुह देखने के पहले ही धन के सपने देखने लगनेवाले मुझे यह बात चेतावनी सी लगी। इसलिए गाँव पहुचते ही, वह सात हजार रुपय बक म रख दिये। इस प्रकार मैं भी जीवन म एक बार धनी लखक बन गया।

एक और बडा समारोह

यह बात हुए कोई दो वष बीते होग उडुपि नगर क मरे अभिमानियो को लगा कि किसी की आयु पसठ हो या सडसठ, क्या फक पडता है। उन्होंने भी एक समारोह करने की योजना बनायी। मरी साठवीं वषगाँठ उडुपि क हरिदास भट्ट और मणिपाल के प बन्धु ने बडे जोर शोर से मनायी थी। तब भी उनकी योजना मुझे बहुत देर बाद पता चली थी। फिर इस आयोजन की बात सुन कर मुझे लगा कि इन्हें इतनी जल्दी करने का हठ क्या है। इसके अतिरिक्त व इस आयोजन पर पहले स तिगुना पसा खच करते नजर आय। शायद व महीना पहले से ही उस काम मे जुट गये थ। शायद इसकी प्रेरणा उन्हें भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण प्रदान किये जाने स मिली थी, नही तो मुझ इसका कोई नया कारण दिखायी नही दिया। उडुपि के उत्साही जन और बुजुर्गों की यह एक आदत सी बन गयी है। उनकी सारी तैयारी के बाद मैं सोच रहा था कि पता नही इसकी अध्यक्षता के लिए किस मन्त्री को बुलाने वाले हैं। तभी पता चला कि कलकत्ता क विद्वान अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त डा सुनीतिकुमार चटर्जी की वे स्वीकृति ले चुके है। चटर्जी कन्नडवालो के विशेष परिचित न होने पर भी उत्तर भारत म काफी प्रसिद्ध थे। वे अनेक भाषाओ के जानकार थ। उन्होंने भाषा और संस्कृति क बारे म काफी काम और शोधकाय किया था। उनके बारे म मेरी जानकारी बहुत कम थी।

उडुपि म यह उत्सव तीन दिन चला। कर्नाटक म कन्नड की सेवा म लगे बहुत स साहित्यकारो को बुलाया गया था। गोष्ठिया पर गोष्ठियाँ हुइ। भोजनादि का जबदस्त प्रबन्ध था। लगभग एक मेले का-सा ही आयोजन था। उस अवसर पर मेरे अनेक मित्र तथा कर्नाटक के बाहर के भी लोगो को देखकर मुझे बडा आश्चय हुआ। उस अवसर पर मेरी कल्पना स बाहर की मेरे ही एक प्रपच की उन्होंने वहाँ मेरे लिए रचना कर दी थी। उस कल्पना का कारण भी मैं ही था। इसस पहले मैंने 'बालप्रपच' लिखा था। बाद म मैंने 'विज्ञानप्रपच' लिखा। मेरे मित्रो ने इसी अवसर पर छह सात सौ पृष्ठो का 'कारत प्रपच' नाम से एक अभिनन्दन ग्रन्थ मुझे भेंट किया।

इस उत्सव से मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता इससे हुई कि मरा स्नेह याद

करके मेरे मित्र और अभिमानी वहाँ आये थे। इतने लोगो के सामने मैंने अपने को बहुत छोटा महसूस किया। मेरे लिए एक और सन्तोष की बात थी उस निमन्त्रण पर अध्यक्षता करने आये डा सुनीति कुमार का परिचय। बाद मे जब एक बार कलकत्ता गया तो उनके घर भी गया था। उन्होंने मेरे 'मरलि मण्णिगे' उपन्यास के बगाली मे अनुवाद का कलकत्ता मे विमोचन किया था। उडुपि के उत्सव मे जब मुझे पण्डाल मे ले जाया जा रहा था तब का देखा एक दृश्य आज भी मुझे दुख देता है। यहा उसका उल्लेख करना गलत नही होगा। मेरे स्वागत के लिए पण्डाल के फाटक से मच तक दोनो ओर यक्षगान के कलाकारो को यक्षगान की वेष भूषा मे सज्जित करके खडा किया गया था। यह देख कर मुझे बड़ा ही दुख हुआ। कला चाहे जो भी हो वह सदा बडी होती है। उसकी वेश भूषा मुझे प्रिय है, वह यक्षगान की एक बडी सम्पत्ति है। हम अतिमानव व्यक्तियो को एक काल्पनिक वेश भूषा देकर एक नयी सृष्टि का सृजन करके उसमे रम जाते हैं। ऐसे वेशो का और उस कला का मैंने अभ्यास किया है। मैं उसका भक्त भी रहा हू। अत मेरे स्वागत के समय कलाकारो को दोनो ओर खडा करना मेरे लिए एक अविस्मरणीय दुख है। यह औचित्य की सीमा के परे की बात थी। पर यह मुझ पर के अभिमान के कारण ही किया गया काम था। मैं जानता हू कि उन्होने मेरे यक्षगान के प्रति दृष्टिकोण को समझ न पाने के कारण ही ऐसा किया था। यह घटना हुए करीब पन्द्रह वर्ष बीत चुके है। मैंने अपना दुख आज जाहिर किया है। हम चाहे कितने भी बडे क्यो न हो, हम अपने जीवन के किसी आदर्श के प्रतीक देव को भक्ति और आदर देकर स्वीकार कर लेते हैं। उसमे यही आशय रहता है कि वह जहाँ है हम ही वहाँ पहुँचना है। हम जहाँ रहते हैं उसे वहाँ नही बुलाना चाहिए और उसे वहाँ आना भी नही चाहिए। हम ही उसके स्थान पर जाना चाहिए।

केवल अभिमान से काम नही चलता

केवल अभिमान से काम नही चलता। यक्षगान पर तो मुझे बहुत अभिमान है। उसके लिए अपनी ओर से परिश्रम करने से आगा-पीछा नही सोचता। पर उस क्षेत्र मे यहाँ के देवालयो से सम्बधित कुछ मण्डलियाँ सक्रिय हो चुकी हैं। ऐसी मण्डलियाँ सचारी नाटक कम्पनियो की वेशभूषा का अनुकरण करके नृत्य की उपेक्षा करके यक्षगान दिखाने लगी हैं। उनके विचार मे तम्बू तानकर, टिकट लगाकर मच दिखाना लाभदायक है। यह प्रवृत्ति दो-तीन दशको से दिखायी देने लगी है। परन्तु उडुपि मण्डलीवालो ने 1958 मे आयोजित यक्षगान की प्रथम गोष्ठी मे मुझे यह सूचित किया कि बच्चो को उसके लिए प्रशिक्षित करने का कही भी कोई प्रयत्न नही हो रहा है। उस कमी को पूरा करने के

विचार से मैंने कर्नाटक संगीत अकादमी को उसकी आवश्यकता समझायी। बम्बई के मित्रों से प्रार्थना की और गांव के चार छह लोगों से बात करके उस प्रशिक्षण के लिए एक शाला खोलने का विचार किया। अपने मित्र की की आचार्य के गांव ब्रह्मावर में एक घर निश्चित किया और वहाँ ऐसी एक शाला खोली। नीलावर के रामकृष्णय्या भागवतर का काम करने लगे, प्रसिद्ध यक्षगान अभिनेता हाराडि कृष्ण नृत्यशिक्षक बन गये। गोपालराय मदंग सिखाने लगे। सीखने की इच्छा रखनेवालों को सिखानेवाले तीन अनुभवी कलाकार मिले।

तीन वर्ष उस शाला को चलाने की अवधि में मैंने अनुभव किया कि केवल यक्षगान सीखने के लिए विद्यार्थी नहीं आना चाहते। शाला की पढ़ाई के बाद शाम को वे यक्षगान सीखना पसन्द करते हैं। उसमें भी पहले वर्ष जैसा उत्साह अगले वर्ष नहीं रहा। ऐसी परिस्थिति में तीन वर्ष तक वह शाला चलायी गयी। की की आचार्य और गणपय्या अल्स की सहायता से किसी प्रकार यह काम चला। यह अनुभव करके कि इसमें न कोई व्यावसायिक लाभ है और न ही कोई विशेष प्रयोजन। अतः तीसरे वर्ष वह शाला बन्द कर देनी पड़ी।

सौभाग्य से अपनी वृत्ति को छोड़कर मेरे सहायक उन भागवतर और मृदंग वादक आगे एक समय मेरे काम आये। वह समय है आठवें दशक का आरम्भ।

दिल्ली अकादमी द्वारा सम्मान

पिछले दिन पहली बार सन् 1957 के आसपास दिल्ली में एक नृत्य गोष्ठी हुई जिसमें दिल्ली की संगीत नाटक अकादमी ने यक्षगान, ओडिसी, कुचिपुडि नृत्यों को भी स्वीकृति प्रदान की। हाराडि राम शिवराम हेगड़े इन दोनों को यक्षगान कलाविदों के रूप में सम्मानित किया गया। तीसरी बार श्री वीरभद्र नायक सम्मानित किये गये।

साथ ही श्री वीरभद्र नायक को केन्द्रीय अकादमी से और एक सहायता मिली। वह यह थी कि उन्हें इस क्षेत्र में काम करने के लिए पाँच छह वर्ष तक के लिए पाँच सौ रुपये की मासिक वृत्ति दी गयी। तब मैंने सोचा कि यक्षगान में रुचि रखनेवाले उनसे लाभ उठायेंगे। मैंने उडुपि के मित्र श्री हरिदास भट्ट और की की आचार्य से इस विषय पर चर्चा की। वे मणिपाल अकादमी की सहायता से 1981 के लगभग वहाँ एक यक्षगान शिक्षणशाला प्रारम्भ करने में सफल हुए। इस प्रकार तीन शिक्षक और बारह विद्यार्थियों से एक यक्षगान केन्द्र का जन्म हुआ। शायद भोजन और शिक्षा की यह व्यवस्था होने के कारण जगह जगह से अभ्यर्थी आने लगे थे। उनमें केवल इन बारह व्यक्तियों को चुनना भी बड़े संकोच का काम था। इसके लिए हमने केन्द्र और कर्नाटक

सरकार से सहायता माँगी। वे तो सहायता देते ही आ रहे थे, परन्तु रोज यह चिन्ता सता रही थी कि एक प्राथमिक शाला के अध्यापक से भी कम वेतन पर तीन अनुभवी कलाकारों की सेवाएँ लेना हमारे लिए कहाँ तक शोभनीय है? दूसरी बात यह थी कि कर्नाटक सरकार द्वारा विद्यार्थियों को दी जानेवाली सहायता से उनका सारा खर्च कब तक चलाया जा सकता है? एक यह भी चिन्ता हमें सता रही थी कि यह केन्द्र और विकसित करने के लिए संगीत वाद्य और नृत्य—इन सबके प्रशिक्षण हेतु केवल तीन शिक्षक काफी नहीं हो पायेंगे।

रगमच और बाहर

यक्षगान केन्द्र

उडुपि प्रसिद्ध यात्रा स्थल है मणिपाल की अनेक शिक्षा सस्थाओ का केन्द्र भी है। इसलिए वहाँ लोगो का आना जाना लगा रहता है। वहाँ के महात्मा गाँधी कालेज के प्रिंसिपल श्री हरिदास भट्ट थे। कॉलेज के आश्रम म ही हमारा यक्षगान केन्द्र आरम्भ हुआ। उन दिनो मैं पुत्तूर म रहता था अत बीच बीच म वहा जाकर विद्यार्थियो का थोडा बहुत मार्गदर्शन भी कर सकता था।

दिल्ली नाटयशाला के निदेशक श्री अलकाजी मेरे विचारो से प्रभावित हुए। वे विविध प्रकार के नाटको के प्रयोगो मे लगे हुए थे। वे यक्षगान देखने उडुपि भी आये। यक्षगान के कुछ कथानको को वे हिन्दी म अनुवाद करके उसे अपने विद्यार्थियो द्वारा अभिनीत कराना चाहते थे। उन्होने वह काम मुझे तीन मास के भीतर कर देने को कहा। तब मेरे पास मेरे पहले खेले जा चुके भीष्म विजय के कथानक का रिकार्ड था। उसके गीतो को उसी शैली म उन्होने दिल्ली के हिन्दी कवि से अनूदित कराया। हमारे केन्द्र के नाटय शिक्षक हेरजाल वेंकटरमण ने उनके विद्यार्थियो को पारम्परिक नृत्य पद्धति सिखायी। राम गाणिग भागवतर हिन्दी जानते थे। उन्होने वहाँ के भागवतर का काम निभाया। उस राष्ट्रीय नाटयशाला क तीस विद्यार्थी उसमे प्रशिक्षण लेने लगे। तीन मास तक, म महीने म दस बार दिल्ली जाता आता रहा। वहा के विद्यार्थियो से एक वले शली का नाटक तैयार कराया। वहाँ के कुछ विद्यार्थी बहुत उत्साही थे। प्रतिदिन के प्रशिक्षणिक अभ्यास की व्यवस्था की जिम्मेदारी श्री बी वी कारन्त पर थी। अभिनय और रग सचालन और निर्देशन का भार मैंने अपने पर लिया।

यक्षरग

इन प्रयत्नो से हमारी राजधानी दिल्ली म कर्नाटक के यक्षगान का हिन्दी रूपान्तर प्रदर्शित हुआ। उस जमाने मे वहा की एक छात्रा रोहिणी ओका ने अम्बा के पात्र को बडे ही सतोषजनक ढग से निभाया। वसे ही दो अन्य तरुणो

ने भीष्म और परशुराम के पात्रों का बडा सफल निर्वहण किया। मुझे लगा कि उस बले ने दिल्ली के विद्वानो को भी तृप्त किया। इससे हमे आगे कदम रखने को एक रास्ता मिला। केन्द्रीय सरकार के सास्कृतिक और शिक्षा विभाग की डा० कपिला वात्स्यायन उडुपि आयी। तब उन्होंने इस नये प्रयोग को स्थाई रूप से प्रदर्शित करने के लिए अपेक्षित आश्वासन दिया। इसलिए यक्षरग नाम से एक नये विभाग ने हमारे केन्द्र मे जन्म लिया।

राहिणी वोका बाद मे रोहिणी हट्टगडी हो गयी। उन्होंने एटिनबरो के चलचित्र गाधी मे कस्तूरबा की भूमिका निभायी जो मेरे लिए एक बडे सन्तोष की बात थी। उनमे नृत्य और अभिनय की क्षमता को मैं बहुत पहले ही पहचान गया था।

'यक्षगान' पर एक पुस्तक

इस अवधि मे मसूर विश्वविद्यालय की प्रेरणा से सौन्दयशास्त्र की दृष्टि से यक्षगान कैसा होना चाहिए, उसकी पारम्परिक सम्पदा क्या है, उसकी सीमाएँ क्या हैं, आदि के बारे मे मैंने अंग्रेजी मे एक पुस्तक लिखी। उसके प्रेरणास्रोत डॉ० ह० मा० नायक हैं। वे मसूर विश्वविद्यालय मे कन्नड अध्ययन सस्थान के निदेशक हैं। वह पुस्तक कन्नड और हिन्दी मे भी प्रकाशित हुई। उससे भी पहले मैंने उनसे कहा था, "कन्नड मे चित्रकला पर कोई पुस्तक नही है। मेरा विचार इस देश की चित्रकला के बारे मे लिखने का है।" तो वे बोले, "उसे हम लिखकर दीजिए।" तब मैंने कहा, "वह पुस्तक सचित्र होगी, उस पर बहुत खर्च आयेगा।" तब वे बोले, "कोई बात नही, आप लिखिए।"

कर्नाटक की चित्रकला

आठवें दशक का शुरू का वर्ष मैंने उसी काम मे बिताया। मैंने पहले यह पता लगाया कि कर्नाटक की चित्रकला कहाँ कहाँ शेष है। मैंने पहले उसे बहुत कम देखा था। मैंने पहले सुना कि अजन्ता की शैली पर बादामी की दूसरी गुहा की छतनी के नीचे कुछ चित्र हैं। वहाँ जाकर देखा तो उसकी रक्षा के लिए पोती गयी वार्निश सहित सारे चित्र अदृश्य हो गये थे। उनकी कल्पना मिणज्जिगी की बनायी प्रतिकृतियों से और दिल्ली ललित-कला के विद्यार्थियों की प्रतिकृतियों से करनी पडेगी।

मैंने सुन रखा था कि हमारे यहाँ के भित्तिचित्र बीजापुर के राजमहलों के पास ही कम्मतगी मे और श्रवणी, निप्पाणी आदि जगहों मे हैं। मैं उन्हे देखने गया। ऐसे दो-तीन बार जाकर उनके रंगीन फोटो खींच लाया। वे सब भित्तिचित्र

धुधले पड चुके थे, खराब हो चले थे और एकदम नष्टप्राय स्थिति म थे। उसी प्रकार पहले के बनाय चित्रो पर फिर स कची फिराकर बिगाड डाला गया था। ऐस चित्र हम्पी के विरुपाक्ष के मन्दिर के पास के मण्डप की छत पर भी हैं और कुछ चित्र श्रीरगपट्टण, सिर्वो और श्रवणबेलगोल म भी हैं।

लघु चित्र भी इस प्रदश म हैं। मूडबिद्रि के धवलत्रय चित्र लगभग बारहवी और तरहवी शती के है। मैंन उनके फोटो सग्रहीत किय। बीजापुर क श्री नारायण राव कुलकर्णी के पास दक्षिण हिन्दू और इस्लामी शली क काफी सुन्दर लघुचित्रो का सग्रह था। बीजापुर के ही म्युजियम म अमीर खसरो की लिखी पुस्तक म परशियन शली के कुछ उत्तम चित्र दख थ। वह पुस्तक तब अत्यन्त जीर्णावस्था म थी।

चित्रो के लिए यात्रा

मैं एक दो मित्रा को साथ लकर निप्पाणी हो आया। वहाँ एक बाड से भित्ति चित्र सग्रहीत करके लाया। यही नही, हिरबनकल की गुफाओ म आदि काल क लोगो द्वारा बनाय गय चित्रा का भी सग्रह किया। इस प्रकार तीन वष के इस परिश्रम के बारे मे मैंने अग्रजी और कन्नड म एक सचित्र पुस्तक लिखी। कन्नड अध्ययन सस्थान के डॉ नायक के उत्साह से वह प्रकाशित भी हो गयी। इस प्रकार की इतनी मोटी रचना के लिए तीस चालीस हजार रुपय का खच आ सकता है। केवल भ्रमण और चित्र सग्रह म ही मैंने आठ हजार रुपये खच किय थ। इस पुस्तक की बिक्री कसी हो रही है यह मुझे पता नही चला।

भारतीय शिल्प

इस पागलपन के बाद, अपने दश के शिल्प के बार म लिखने की इच्छा हुई। उसके लिए मैं ऐसे कई भागो को दखने गया जो अब तक नही दख पाया था। बहुत पहल मने ऐसे शिल्प के लिए प्रसिद्ध कुछेक स्थान दखे थ। तब मरी नजर इतनी विकसित नही थी, कला की भी पर्याप्त समझ नही थी। अजन्ता, एलोरा और औरगाबाद म अपने मित्र हेब्बार के साथ चक्कर लगाकर चला आया था। दुबारा एलोरा के शिल्प देखत समय मैं तो दग रह गया। दिल्ली कलकत्ता और मद्रास क वास्तु सग्रहालयों की कांस की प्रतिमाओ के सग्रह का अध्ययन किया। उनक फोटो प्राप्त किये। इस प्रकार दो वष क अथक परिश्रम स मैंन अपन इस दश के शिल्प के बार मे अपना ज्ञान या अज्ञान दर्शाने का एक पुस्तक मणिपाल मुद्रणालय म छपवाकर बगलूर विश्वविद्यालय का अर्पित की। वहाँ क कन्नड अध्ययन सस्थान के डा शिवरुद्रप्पा की सहायता स मरा यह परिश्रम

साथक हुआ।

शक्ति से बाहर का भार

उसके बाद यह विचार आया कि विश्व की शिल्प, वास्तु और चित्र-कला से सम्बंधित एक पुस्तक कन्नड में क्यो न लिखी जाय। दुनिया के दूसरे देशो के चित्र, शिल्प और इतिहास से सम्बंधित ग्रंथ मैं पहले से पढता आ रहा था। चित्रकला और पाश्चात्य कलाकारो के अनेक ग्रंथ मेरे पास हैं। यह सब देखने पर मुझे लगा कि मेरा देश और यहाँ के लोग इस विषय के बारे मे इतने अनभिज्ञ क्यो रहे।

इस अध्ययन के साथ, इससे पहले सन 1952 मे मैं यूरोप की भव्य कला कृतियो को सरसरी नजर से देख आया था। 1972 मे अमेरिका के मैट्रोपोलिटन, गुगनहाइम, स्मिथ्सोनियन, बोस्टन आदि के म्यूजियम के चित्र और शिल्प भी सरसरी तौर पर देख आया था। उनकी प्रेरणा से 1973 77 की अवधि म इस विषय का अध्ययन करके, लेखनकाय पूरा कर तथा चित्र चुनकर—इस तरह पाण्डुलिपि तैयार कर लेने के बाद मैंने मणिपाल मुद्रणालय मे उस की छपायी के खच का अदाज पूछा। उन्होंने बताया, एक हजार प्रतियो के लिए करीब साठ हजार रुपये खच आ सकता है। उसमे पाँच सौ काले सफेद और चौबीस रगीन चित्रो का खच नही लगाया गया था। तब मैंने मैसूर के कन्नड अध्ययन विभाग से चर्चा की। वहाँ की नयी व्यवस्था से वहा के निदेशक डॉ ह मा नायक जरा निरुत्साहित हुए। उसी समय कर्नाटक विश्वविद्यालय के वाइस चासलर डा हिरेमठ ने कन्नड पर के अभिमान के कारण कहा, 'वह हमे दे दीजिए।' मैंने उनकी बात शिरोधाय कर एक साल की अवधि म उसे छपवाकर उन्हे सौंप दिया। वही रचना मेरा 'कला प्रपच' है। उस पर मुझे दो प्रकार का गव है। पहला, मुझे उस काम से मिला सतोष और उसी से मेरे ज्ञान वधन का सताप। दूसरा यह कि भारत की समस्त भाषाओ म ऐसा समग्र ग्रंथ अभी दूसरा नही आया।

विहगम दृष्टि

उस पुस्तक के आरम्भ मे, दुनिया भर मे चित्र और शिल्प-कला के विविध रूपो का किस प्रकार विकास हुआ और उनके मुख्य लक्षण क्या हैं इसका सविस्तार वणन है। उसके बाद आदि-नागरिकता से लेकर विश्व के प्रमुख राष्ट्रो ने चित्र, शिल्प और वास्तु के क्षेत्रो में क्या योगदान किया इसका उल्लेख है। वह सब बताने से पहले, शुरू के सात-आठ अध्यायो म उन कलाओ के परिचय के लिए

अनिवार्य और प्रस्तुति के लिए आवश्यक सिद्धान्तो को सोदाहरण समझाने का प्रयत्न किया है।

प्रवास

इस शतक के आरम्भ मे पाश्चात्य देशा म प्रसिद्धि प्राप्त, हाल की दो ही शताब्दियो म सम्पदा साहस, शोध खोज आदि क्षेत्रो म उन्नत, सयुक्त राज्य अमरिका को दखने का अवकाश मिला। सन 1972 म विमान कम्पनीवाला ने तीस स एक-सौ-बीस दिन की अवधि के लिए भारत से अमेरिका हाकर आन की पाँच हजार रुपय की रियायत दी थी।

उसके साथ ही मिनिया पोलिस नगर के गणितज्ञ डा गोपीनाथ कल्याणपुर ने जो मरे बडे पुरान मित्र थ, मेरे सारे प्रवास की जिम्मेदारी अपन ऊपर ले ली थी, यह कहू तो गलत नही होगा। वे स्वय न्यूयाक आय और मुझे सारा न्यूयाक दिखाकर अपने यहाँ ले गय। मरे यजमान की विद्यार्थी मार्था एस्टन सानफ्रांसिस्को म सिकाया के जगल और कोलराडो क गह्वर दिखान को तैयार हो गयी। आगे डा कल्याणपुर डेनर नगर आये। वहाँ स मुझे ग्राट एटन पवतावलि, यल्लो स्टोन उद्यान बड लैड आदि दिखात हुए कार स दो हजार मील की यात्रा करायी। उसके उपरान्त विमान द्वारा मुझ वाशिंगटन ले जाकर वहाँ से मसच्यूटस के एमहरस नगर पहुचाया। आग वहाँ स मरी साली के बेटे कुलकर्णी ने बोस्टन नगर दिखाकर न्यूयाक पहुँचाने का काम किया।

इस प्रकार एक मास के भीतर मुझे सयुक्त राज्य अमरिका का थोडा-बहुत परिचय प्राप्त हो गया। उसका वणन मैंन अपनी पुस्तक 'पातालके प्रयाण (पाताल की यात्रा) मे किया है। उस यात्रा म हरे भरे जगला, प्रकृति साहसी उद्यमा उनकी चित्रशालाआ और वैज्ञानिक सस्थाओ ने मुझ अचरज मे डाल दिया। उनके साहस से मैं पुलकित हो उठा। मैंने उनके कुछ नाटक भी देखे। सान फ्रासिसको नगर म आयोजित एक नाटक गोष्ठी म मैंने भी हिस्सा लिया।

इस प्रवास ने मुझे प्रकृति और मानव के सम्बन्धों की सीमाओ के बारे मे सोचन को विवश किया।

फिर से रगमच का मोह

न्यूयाक म मैंने ब्राडवे रिन्यू शूबट जय ती के अवसर पर आयोजित सगीतोत्सव देखा। बाद म सान फ्रासिसको म रगमच सम्बन्धी गोष्ठी पर एक चीनी अपेरा और जापान का कबूकी नाटक का थाडा बहुत भाग दखन का अवसर भी मिला। यह सब देखने पर मुझम अपने कार्य के बारे म और अधिक आस्था बढ

चली। 1969 मे मेरे पास डाक्टरेट के मार्गदर्शन को आयी मार्था एस्टेन तब मेरे साथ रही। यक्षगान सीखने को जब वह मेरे पास आयी थी तब मैंने उसे अपने ही घर रखकर अपनी 'यक्षगान बयलाट' पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद करके बताया था। बाद मे उसके लिए हिरियडक गोपालराय और नीलावर रामकृष्णय्या से संगीत शिक्षण का प्रबंध भी करके दिया था। मैं उसे कई बार अपने प्रवासो मे साथ ले गया था। घर मे ही दो मास तक मैंने अपने ढंग का ही नृत्य सिखाने का प्रयास किया था।

विद्रोहिणी शिष्या

उसने बडे परिश्रम से अनेक बार दशावतार खेल देखकर उसका विस्तार से अध्ययन करके अपनी डाक्टरेट की थीसिस तैयार की। उससे उसे डॉक्टरेट भी मिली। उसमे एक कमी देखी वह नृत्य पद्धति यान्त्रिक ढंग से सीख रही थी। भाव विभोर होकर पात्र की तन्मयता उसमे नही आती थी।

आगे भी वह दो वर्ष के लिए हमारे देश की भूताराधना के अध्ययन के लिए मेरी शिष्या बनकर आयी। उसके पुन आने के बारे मे कर्नाटक सरकार का विरोध था। उसे मित्रो के माध्यम से किसी प्रकार अनुमति दिलायी और उसके आगे के कार्य का मार्गदर्शन भी किया। बाद मे वह जिस रास्ते पर चली वह कुछ और ही था। वह डाक्टरेट जो पा चुकी थी। गोरी जाति की थी। गोरी जाति के लोग हमारी कला सीखने आयें तो यहाँ लोग यह समझने लगते है मानो देवता ही उतर आये हो। ऐसे लोगो की सहायता से गुरु को ही गुरुमन्त्र सिखाने वाली शिष्या बन गयी थी वह।

मैं चुप नही रहा

उस अवधि मे उत्तर कर्नाटक के सण्ण आटा (छोटा खेल) और दोड्ड आटा (बडा खेल) की एक गोष्ठी हुग्गोडी मे आयोजित की। उसमे उस ओर के पारिजात राधाकृष्णा, सन्या बाल्या और एक बडे खेलवालो को बुलाकर, उनका खेल देखकर, उनके बचे वैभव को आँकने का प्रयास किया। उसके बारे मे कर्नाटक संगीत नाटक अकादमी को एक रिपोर्ट भी भेजी।

कठपुतली का खेल

अगले एक वर्ष कुन्दापुर, हुलुवागलु अन्तरवल्लि, अरेमल्लापुर, हादरगेरी आदि गाँव से कठपुतली का खेल दिखाने वाली सात-आठ मण्डलियाँ हुग्गोडी मे बुलायी। यहाँ के श्री के बी सुब्बण्णा की सहायता से उनके खेल देखकर उन पर भी विचार किया।

उन मण्डलियो में भी बड़ो से चली आयी सम्पदा को आगे बढ़ानेवाले नहीं दिखे। पता चला कि वे उस ओर ध्यान देने वाले भी नहीं हैं। हम उनके लिए क्या कर सकते हैं अथवा क्या करना चाहिए इस आशय की एक योजना मैंने ऐसी गोष्ठियों के लिए धन की सहायता देने वाली संगीत नाटक अकादमी को भेजी। कठपुतली के माध्यम से हम बच्चों का खूब मनोरंजन कर सकते हैं यह तथ्य उनमें काफी मात्रा में है। इसके अतिरिक्त विदेशों में लोग कठपुतलियों से और उँगलियों से नचानेवाली पुतलियों से कमेकमे चमत्कार नहीं दिखाते? क्या हम भी वैसा नहीं कर सकते? हमारे यहाँ पुतलियाँ केवल यक्षगान के पात्रों की नकल उतारती आ रही हैं। हम लोगों ने उन्हें स्वतन्त्र रूप में प्रयोग करने की सम्भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। इन्हीं कारणों से कठपुतली के लिए जो उत्साह मिलता था वह जाता रहा। आजकल कर्नाटक, आन्ध्र, राजपूताने में यह खेल नष्टप्राय स्थिति को पहुँच चुका है।

यक्षरंग का उदय

मेरे अपने दृष्टिकोण और प्रयत्न को व्यक्त करने वाले यक्षगान श्री अलवाजी के प्रयत्नों से दिल्ली में प्रदर्शित हुए। वहाँ उन्हें लोगों ने काफी पसन्द भी किया। वहाँ के कई रंगकर्मियों को उसने आकर्षित भी किया। कइयों की प्रशंसा में मुँह पर की तारीफ भी काफी मिली हुई थी। कइयों ने उसे उदास दृष्टिकोण से भी देखा। उनका सारा प्रशिक्षण दिल्ली संगीत नाटक अकादमी के तत्त्वावधान में होता रहा। उन्हें देखने को नाटक अकादमी के अधिकारी ही नहीं, बाहर के लोग भी कौतूहल से जाते थे। वहाँ का पूरा काम करके घर लौटते समय मैं संगीत नाटक अकादमी के सचिव डॉ सुरेश अवस्थी से मिलने गया। उन्होंने मेरा बड़े उत्साह से स्वागत किया। मेरे काम की खूब प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, "हम सब इतने दिनों से लोककलाओं के बारे में लम्बी चौड़ी बातें करते चले आ रहे हैं। पर आपने इसी अवधि में उसमें छिपी शक्ति का बोध करा दिया।' यह बात किसी के भी मन में खुशी भर सकती थी। मुझे भी बहुत खुशी हुई। परन्तु उन्हीं अवस्थी महोदय ने तीन वर्ष बाद किसी और सन्दर्भ में कथकलि और यक्षगान के क्षेत्रों की समीक्षा करते हुए फरमाया कि हमारे आधुनिकीकरण के सारे प्रयत्न परम्परागत शैली को नष्ट कर रहे हैं। मैंने यह बात एक अंग्रेजी पत्रिका में पढ़ी। तब मुझे ऐसा लगा, केवल राजनीति में ही नहीं कला क्षेत्र के व्यवहार में भी कितना छल फरेब भरा है।

सन् 1974 में श्री अलवाजी और डॉ कपिला वात्स्यायन उडुपि के एक उत्सव में आये थे। वे विशेष रूप से मुझसे मिलने भी आये। तब उन्होंने मुझसे कहा था, 'आपको जो सुविधा और सहायता चाहिए हम उसका प्रबन्ध करेंगे,

आप अपना काम जारी रखिए।" तब मैंने उन्हें बताते हुए कहा था, "आप के इस काम के लिए दस-बारह वादकों का खर्च उठाना पड़ता है। अनुभवी व्यवसायियों को ही इस काम पर नियुक्त करना पड़ता है।" यह बताकर मैंने उनसे वाद्यों से संबंधित वेला, सक्सोफोन आदि का जिक्र किया। मेरे और उनके संभाषण के समय उपस्थित मार्था के मुख से आश्चर्य से निकला, 'वेला चाहिए!' मैंने उसे टोका, "बेकार की बात मत करो।' वाद्य परकीय होने से संगीत परकीय नहीं हो जाता। मेरा अनुभव है सेक्सोफोन और वेला से हमारे नृत्य और नाटक के संगीत को बल मिला है।"

उसके बाद यानी 1976-78 में हमने अपने केंद्र से ही लगी यक्षरंग नाम की संस्था चलानी आरम्भ की। उसके लिए व्यवसायी कलाकार ही लिये। प्रति-वर्ष दो मास उन्हें मूक नृत्य नाटक का प्रशिक्षण दिया। पहले वर्ष 'नल दमयंती' और 'भीष्म विजय,' और दूसरे वर्ष 'कनकांगी कल्याण' तथा तीसरे वर्ष 'चित्रांगदा' आदि नृत्य नाटकों के अभिनय का प्रशिक्षण दिया गया।

इस तालीम की अवधि में हमारे ये मूक यक्षगान दो वर्ष तक सालिग्राम में, जहां मैं रहता था, और तीसरे वर्ष उडुपि में तैयार कराये गये। हमारी तालीम का केंद्र गांव के कुतूहल रखनेवाले प्रेक्षकों के लिए खुला था। गांव के लोग केवल परम्परागत यक्षगानों से जिसमें भाषा का महत्व होता था परिचित थे। वे लोग भी दोनों वर्ष मूक और विस्मित होकर हमारे मूक यक्षगान को देखने आते रहे।

इस प्रकार तैयार कराये गये नृत्य नाटकों का श्री हरिदास भट्ट ने भारत के अन्य प्रदेशों में भी प्रदर्शित करने की जिम्मेदारी ली। उन्हें प्रतिवर्ष कर्नाटक में ही नहीं, भारत के अन्य नगरों में भी प्रदर्शित किया गया। इस इस प्रकार वे देश के अन्य प्रदेशों में तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र, मध्य प्रदेश, बम्बई, पूना, असम, पंजाब हो आये। वे कन्नड़ भाषा से अनभिज्ञ दूसरे प्रांतों के सभी नाटक प्रेमी लोगों ने उन नृत्य नाटकों को पसन्द किया जिससे हमारा आत्म-विश्वास और बढ़ गया। पर अकादमी के एक नियम का पालन करना हमारे वश की बात न थी। उसके अनुसार प्रतिवर्ष पचास प्रदर्शन कर्नाटक के दूसरे भागों में होने चाहिए थे। इसके लिए व्यवस्था करनेवाले चाहिए और हमें आमन्त्रित करने वाले भी तो चाहिए न? उस कष्ट की कोई सीमा नहीं। वह हमारे कार्यकर्ताओं के बूते की बात न थी। इसलिए हम अपना यक्षगान तीसरे वर्ष में ही बन्द करना पड़ा।

गाँव वाले

मैं जिस दिन से इस काम में लगा उसी दिन से हमारे कुछ स्थानीय बन्धुओं

को लगा कि हम दिया जाने वाला प्रोत्साहन, वास्तव म यक्षगान के बिगाडने के लिए दिया जा रहा है। यह अन्याय है। एसी शिकायतें लोगा न केन्द्र सरकार को भेजी। मरे वह काम करन से पूव ही एसे पत्र मरे पास भी आय थे। उस द्वेषी दल म हमारे कुछ मित्र भी शामिल थे। पता चला कि मेरी शिष्या मार्था एस्टने भी उनके सरगन म एक थी। उसने एक दिन मर घर ही आकर कृतज्ञता से यह कहा 'आप जो दिखा रहे है वह यक्षगान नही है।" बाद म वह ऐसा प्रचार भी करने लगी। मानव स्वभाव पर विश्वास नही करना चाहिए, एसी शिक्षा हेतु मर लिए तो वह एक घटना थी।

मैंने उसका चित्रकार हेब्बार से भी परिचय कराया था। उसन अपन लेख के लिए एक चित्र भी बनवाया था। इसलिए उन्होंने उसस कह ही डाला "आप विदेशी हैं। क्या आप यह चाहती है कि इस देश की कलाएँ केवल म्यूजियम भर के तमाशे को ही रह ? रगमच की विद्यार्थी होने क नाते यूरोप म उसके दश क चित्र, शिल्प वास्तु नत्य, सगीत और रगमच आदि के विषय म क्या-क्या किया जा रहा है और कसे विकसित हो रहे है, उनकी परम्परा की मान्यता क्या है— यह तो उन्हें पता ही होगा। हमारे यहाँ के असहिष्णु लोगो के उकसाने पर चार दिन को यहाँ आयी उसे इस देश की रीति नीति पर इतनी उद्दण्डता की बातें कहना मुझे सभ्यता का लक्षण दिखाइ नही देता।

आभूषणो की सजावट

यक्षरग की योजना हाथ मे लने के बाद मुझे और भी बहुत कुछ सोचना पडा। तब गाने के भाग को पुष्टि देने के लिए बेला और सक्सोफोन जसे वाद्य साथ जोडे। इससे भागवतर के काम को अधिक सहायता मिली। दिल्ली में हिन्दी यक्षगान के प्रदशन म इसके महत्त्व का अनुभव हुआ। आकाशवाणी के विद्वान् मेरे मित्र ए वी कृष्णमाचाय बेला बजाने वहाँ गये थे। उन्होंने बिना गायकी के नत्य और दूसरे वातावरण के लिए वाद्य की जो पृष्ठभूमि प्रदान की, वह मैं कभी भूल नही सकता। यह बात बताने का एक और भी कारण है। यक्षरग बन्द हो जाने के बाद मेरे मित्रो ने उन वाद्यो को छोड ही दिया। यह देखकर मुझे असीम व्यथा हुई थी।

केवल वाद्यो की ही बात नही तब मुझे रगमच की एक-दो और बातो की ओर भी ध्यान देना पडा। पहली वेषभूषा से सम्बन्धित है। मैंने देखा कि स्त्री वेष के लिए आभूषणो की कमी लगी। सही वेषभूषा की ओर भी ध्यान नहीं गया था। पुरुष पात्रो के लिए उपयुक्त आभरण वेषभूषा से ही स्त्री पात्रो के लिए काम चलाना पडता था। पुरुष पात्रो के आभरणो की अति को जरा कम

करके उनकी वेशभूषा के अनुकूल उसमें संतुलन लाना था। इसके अतिरिक्त, वे आभरण काष्ठ के होते थे। भारी किरीट और आभरण धारण करना एक कठिन काम था। उनके आकार और आधिक्य के कारण नृत्य में कई बार गति और मगिमा में अवरोध उत्पन्न हो जाता था। इन सब कारणों से पूर्व परम्परा के काष्ठ के बदले अल्युमिनियम जैसी हल्की वस्तुओं से आभरण तैयार करने का प्रबंध किया। उनका आधिक्य भी घटाकर कपड़े लत्तों के रंगों में समरसता लाने का प्रयास किया। हमारे प्रदेश के रसिक आभरणों का आधिक्य ही पसंद करते हैं। स्त्री-पात्र की भूमिका करनेवालों की मुखसज्जा और आभरणों का तो कोई हिसाब ही नहीं रहता। उन सबको एक सीमा में लाने की अनिवार्यता मुझे महसूस हुई।

आपत् स्थिति

इस दशक की मध्यावधि में स्वतन्त्र भारत को उस महान् संकट का अनुभव करना पड़ा जो उसने कभी नहीं देखा था। यानी प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी में वंश परम्परा से साम्राज्य करने की इच्छा जाग्रत हुई। उन्होंने सब नियम एक तरफ रखकर हमारे संविधान का अपमान करके उसमें परिवर्तन लाकर न्यायांग को भी नकार कर देश पर आपत स्थिति लाद दी। अगनित देशप्रेमियों को जेल में ठूंस दिया गया। असहयोग आन्दोलन के बाद, मैंने राजनीति से कोई विशेष काम तो किया नहीं था फिर भी यह सोचता था कि भारत की स्वतन्त्रता जनता की स्वतन्त्रता है। इंदिरा गांधी के दादा मोतीलाल नेहरू ने कहा था, "जन स्वातन्त्र्य का जहाँ सम्मान न हो वह संविधान जनतन्त्र का नहीं हो सकता।" उनके बेटे जवाहरलाल नेहरू जब तक रहे तब तक कांग्रेस संस्था और अपने मन्त्रीमण्डल के सदस्यों के साथ ऐसा व्यवहार करते रहे जैसे कि एक अध्यापक स्कूल के बच्चों के साथ करता है। पर उन्होंने संविधान को कभी नहीं तोड़ा। संविधान लागू होने के पाँचवें वर्ष में ही उसमें संशोधन अवश्य किया था। उनकी बेटी ने ऐसे किसी लिहाज की जरूरत नहीं समझी। उन्होंने जनता के मूलभूत अधिकारों को ही जड़ से उखाड़ने का काम कर डाला।

खिताब क्यों ?

मुझे दिया गया पद्मभूषण हमारी जनता की सरकार द्वारा मुझे दिया गया खिताब था। उस जनता के अधिकार का ही सम्मान न रखनेवाली सरकार के विषय में अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का एक उचित रास्ता था—उस खिताब को अपने विचारों सहित राष्ट्रपति को लौटा देना। निम्नलिखित

पत्र लिखकर मैंने तत्कालीन राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद के पास भेज दिया। यह बात मैंने बहुत दिन तक किसी को नहीं बतायी। यह मैंने प्रचार के लिए नहीं किया था। यह सोचा था कि उसका परिणाम खराब भी हो सकता है। उस घटना से एक लेखक के द्वारा भला क्या हो सकता है? इससे अधिकार-सूत्र हाथ में लेनेवाली प्रधानमन्त्री चुप भी रह सकती है?

सेवा में

सालिग्राम (द० क०)
दिनांक 2 10 1975

हिज एक्सीलेन्सी फखरुद्दीन अली अहमद साहब,
राष्ट्रपति नयी दिल्ली

आदरणीय

आपकी सरकार की ओर से सन 1969 में तत्कालीन राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त पद्मभूषण प्रशस्ति को आज मैं सखेद आपको लौटा रहा हूँ। ऐसा करने का कारण क्या है यह बताने के लिए आपकी अनुमति चाहता हूँ।

सन् 1922 में दूसरों की ही भाँति मैंने भी गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया था। तब अंग्रेजों के अधीन भारत की सेवा के लिए ही मैंने ऐसा किया था। स्वतन्त्रता संग्राम में अपना कर्तव्य निभाने के लिए मैंने ऐसा किया था। सन 1947 में भारत के स्वतन्त्र होने पर हम सब को अपार हर्ष हुआ। हमारे देश में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इसके संविधान ने मुझे सन्ताप दिया, लेकिन वह सन्ताप दीर्घकाल तक टिका नहीं। समय बीतते संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकारों में संशोधन लाने के बहाने उसे घटाने लगे। जिन्होंने संविधान की रक्षा के लिए हाथ उठाकर प्रतिज्ञा ली थी उन्हीं ने यह काम किया।

इस तरह अंतिम आघात इस रूप में लगा कि हम पर शासन करनेवाले एक व्यक्ति की इच्छा ने न्यायालय के अधिकार को छीन लिया, इससे प्रजा के अधिकारों की रक्षा का वह भरोसा भी मिट गया। भारत के संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य होने पर भी उस संस्था द्वारा घोषित प्रजा के मूलभूत अधिकारों का यहाँ अपहरण हो गया।

यह परिस्थिति देखकर मुझे इस चौहत्तर वर्ष की आयु में भी सिर खपाना पड़ रहा है। मैं यह समझने को तैयार नहीं कि किसी व्यक्ति को किसी भी अन्य प्रजा जन की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छीनने का अधिकार है।

कई दशकों से मैं राजनीतिक क्षेत्र से दूर हूँ फिर भी लेखक के नाते भारत की जनता के साथ हुए अन्याय का विरोध करना ही पड़ रहा है। यदि कुछ भी न

हो तो भी इससे मेरी आत्मा को शांति मिलेगी। यही सोचकर यह प्रशस्ति लौटा रहा हूँ।

असत्य पर सत्य की विजय हो।

सम्मान सहित
के एस कारंत

परन्तु संविधान में संशोधन करते समय उन्होंने अपने गम्भीर स्वर में कहा था जनता अपना अभिप्राय व्यक्त कर सकती है। उस जमाने में पत्रिकाओं पर सेंसरशिप लागू थी। सरकार का कोई भी अप्रिय समाचार नहीं छपता था फिर भी संविधान में संशोधन के बारे में समाचार छपते रहे। पुत्तूर और मंगलूर में इसके लिए ही आयोजित दो सभाओं में गया था। जब पुत्तूर गया तब सभा के आयोजक को ही बन्द कर दिया गया था। अतः उसकी अनुपस्थिति में ही सभा हुई। मंगलूर में आयोजित सभा में काफी लोग आये थे। उस दिन के वक्ताओं में सर्वोच्च न्यायालय के निवृत्त न्यायाधीश श्री मदान द हेग्गड भी आनेवाले थे। जिला कमिश्नर की अनुमति लेकर ही सभा हुई थी। फिर भी ऐसा उपाय किया गया कि वे अवसर पर आ न सकें। उस दिन की सभा में मैंने और मेरे एक मित्र ने निर्दाक्षिण्य होकर आलोचना की। स्वतन्त्र व्यक्ति का एक साध्य रास्ता—अपनी लेखनी, मुँह के द्वारा अपने मन के विचार व्यक्त करना है।

आपतकाल के दो वर्षों में अनेक बुजुर्ग और नवयुवक जेल में ठूस दिये गये। उनके अनुयायी भूमिगत होकर विरोध करते ही रहे। मैंने किसी भी संघर्ष में सीधे भाग तो नहीं लिया, पर रात या दिन में समय समय पर कुछ लोगों के मेरे पास आने पर सलाह अवश्य दिया करता था। मैं उन लोगों को अपने ढंग से मार्गदर्शन करता और सचेत भी करता।

आगे एक दिन, पता नहीं देव की किस प्रेरणा से अथवा किसी भूत की प्रेरणा से, इन्दिरा जी ने आपत स्थिति हटा दी और इस विश्वास से कि भारत की जनता उनके पीछे है चुनाव की घोषणा भी कर दी। उसका फल दुनिया जानती ही है। पदच्युत हो गयी। जनता सरकार अधिकार में आ गयी।

जनता सरकार

इन्दिरा जी की निरंकुश नीति और उनके पुत्र की उद्दण्डता के विरोध में उत्तर हिन्दुस्तान की सारी जनता एक हो गयी। लेकिन बुद्धिमान अथवा अति बुद्धिमान समझनेवाले दक्षिण के लोगों ने ऐसा व्यवहार किया मानो उनसे उनका कोई नाता ही नहीं। दक्षिण के प्रान्तों से इन्दिरा गांधी के अनेक अनुयायी चुने गये। तब आश्चर्य हुआ। ऐसी एक निरंकुश स्वार्थी और किसी को भी मुँह न लगानेवाली

न रखनवाली राजनायिका के अब भी इतने अनुयायी हैं तो आगे पता नही हमारे लिए कौन सा सकट मुह बाये खडा है। हमारे लिए कभी भी खुश रहन का मौका नही बचा। अन्त मे ऐसा ही हुआ।

जनता सरकार बहुत दिन टिकी नही। दूसर लोग इस बारे मे कुछ भी कारण बताए, मेरा विश्लेषण यह है—

जनता के चुने हुए अनेक प्रतिनिधि जनता के द्वारा उन्ह दिये गये अधिकारो का दायित्व भूल गये। जीतकर आम प्रमुख लोगों मे कईयो को मन्त्री पद और मुख्यमन्त्री पद मे क्या-क्या स्वाथ सिद्ध हुगे और कितनी सम्पति जुटायी जा सकती है, पहले से ही यह स्वाद अच्छी तरह पता था। चुनकर आम सभी का म त्री पद की ही लालसा थी। मेरा विचार है कि जिन्होने पहले शासन किया उनम कोई भी ईमानदार, भला और साफ सुथरा नही था। ऐसे ईमानदारी से शासन चलाने वालों की सख्या हम ऊँगलियो पर गिन सकत हैं। इसी एक कारण से प्रधानमन्त्री मोरारजी दसाई, चौ० चरणसिह, श्री जगजीवनराम और कुछ अन्य नताओ न भारत से अपन को बडा समझा और स्वाथ के लिए जनता पक्ष म फूट शुरु हो गयी। इसलिए इ दिरा देवी के चित्रकार हुसैन की अभिनव दुर्गा पुन प्रधानमन्त्री के पद पर आसीन हो गयी। हमारी जनता की बेईमानी, देशद्रोह, स्वाथपरता का कलक भारत क इतिहास म सदा के लिए एक उदाहरण के रूप म रह जायेगा।

अप्रत्याशित दो सम्मान

बेटी का विवाह

आठवां दशक समाप्त होते, मेरे जीवन में व्यक्तिगत उतार चढ़ाव सुख-दुख पहले जैसे ही साथ साथ आते रहे थे, वैसे ही अब भी साथ साथ दिखायी देने लगे। उनमे था एक मेरी छोटी बेटी क्षमा का विवाह। उसने बी एस सी पूरी कर ली थी। एम एस सी करना चाहती थी पर वह हो नहीं सकी। मैसूर विश्वविद्यालय मे उसे स्थान मिलते मिलते रह गया। दूर बड़ोदा म उसे आसानी से प्रवेश मिल गया परन्तु वहां का वातावरण उसके लिए ठीक न होने से उसे घर लौटना पडा। इसी अवधि म उसने अपना भावी वर चुन लिया था। वह दूर का नहीं था। मित्र हरिदास भट्ट की पत्नी का भाई पद्मनाभ था। उसका जन्म मद्रास म हुआ था। वहा बडा हुआ था। वही वकालत कर रहा था। उसके लिए मेरी और मेरी पत्नी की भी सहमति थी, परन्तु मुझे यह विश्वास नहीं था कि लडके के रिश्तेदारो को यह सम्बन्ध पसन्द आएगा। उसकी वयोवृद्ध मां परम्परागत वातावरण म पली विधवा थीं। वे मेरी बेटी को जानती थीं। उन्होने उदार मन से उस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया।

पर मेरी ही आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी, इसलिए यह विवाह कहां हो, उसकी जिम्मेदारी कौन लेगा? इसी की चिंता सताने लगी। पुत्तूर म मेरे लिए स्थान की सुविधा थी पर स्वजाति मित्रो से स्नेह ज्यादा नहीं था। इसीलिए दोनो ओर के लिए बंगलूर को ही सुविधाजनक स्थान माना गया। वहां मेरे लिए एक सन्तोष की बात यह थी कि वहां मेरे मित्र उसे संभाल सकते थे। वहा मेरी बेटी का विवाह होना था पर सब कार्यों म मैं केवल एक अतिथि ही रहा। अपनी बडी बेटी की शादी भी मैं केवल सात-आठ मित्रो को लेकर अमृतसर मे सम्पन्न करा आया था। यह उतनी दूर की जगह नहीं थी मेरे लिए बंगलूर समीप था। विवाह का समस्त भार उठाने के लिए मेरे दो मित्र आगे आये। अतः मुझे काम का कोई भार दिखायी नहीं दिया। मित्र श्री रामकृष्ण एवाल उनके लिए आगे आये। मेरे सम्बन्धी, कहना चाहिए उससे बढ़कर मेरे आदरणीय मित्र श्री

आनन्दराम हाल्लूर भी आगे आये। वहाँ का सारा प्रबन्ध उन्होंने ही संभाला। मुझे अतिथि मानकर विवाह के सारे काम खुद किये। उस कारण मेरे ऊपर उनके ऋण का जो भार चढ़ा वह मैं भूल नहीं सकता।

पुत्तूर को विदा

एक लम्बी अवधि यानी लगभग चार दशक तक आश्रय देने वाला वह नगर कालक्रम से अपना आकर्षण खोता चला जा रहा था यानी मेरे लिए जो आकर्षण था उसका प्रधान कारण था मेरे समस्त क्रियाकलापों का प्रेरणा तथा अवकाश प्रदान करने वाले मोल्लहल्लि शिवराय बुढ़ापे में मद्रास जाकर अपने बेटे के साथ रहने लगे। उनके पुत्तूर छोड़ कर जाने के बाद मैं पुत्तूर का निवासी तो था पर मेरा आना जाना, मिलना व्यवहार आस पास के ग्रामों से सम्बन्धित था। पुत्तूर केवल डाक के पते भर को था। घर में रहते समय मैं अपने घर से रोज दो बार शहर होकर आता था। सुबह किसी वाहन द्वारा शहर जाता और रोज की डाक लेकर आता। शाम को व्यायाम तथा गप्पों के लिए पैदल जाता। वहाँ मेरे एक मित्र की छत हमारी बैठक का स्थान थी। श्री ए पी सुब्बय्या जो अब नहीं रहे, रोज मेरा साथ देते थे। उनके साथ ही साँझ का समय गप्पों में बीत जाया करता। बाहर से आनेवालों के लिए भी मेरी मुलाकात की जगह वही थी। अब उस नगर में मेरे सार्वजनिक क्रिया-कलाप नहीं रह थे। इधर मेरी पत्नी का स्वास्थ्य खराब चल रहा था। वह सब भूलने के लिए मैं सोचने लगा कि पुत्तूर छोड़ दूँ तो कैसा रहे? मुझे अपने सुख दुख को यहाँ लिखने की इच्छा नहीं।

ऐसी मानसिक स्थिति में बंगलूर के मित्र श्री रामकृष्ण एताल ने अपने कुछ मित्रों की प्रेरणा से मुझे एक सलाह दी। श्री ऐताल की मेरी जन्मभूमि कोट के समीप सालिग्राम में थोड़ी-सी जमीन थी। वह उन्होंने हाल ही में खरीदी थी। आगे एक घर बनाकर बुढ़ापा वहाँ काटना चाहते थे। कुछ लोगों ने उन्हें सलाह दी, 'कारन्त अब बूढ़े होते जा रहे हैं अब वे पुत्तूर में क्या रहें? आप अपनी जमीन पर एक मकान बनवा दें तो हम उन्हें वहाँ रहने को आमन्त्रित कर सकते हैं। यदि वे अपने गाँव आ जायें तो हमें खुशी होगी। हम भी अपनी सेवाएं दे सकते हैं।' मैं पुत्तूर छोड़ना ही चाहता था कि तभी उनकी तरफ से यह सलाह मुझे मिली। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। बहुत समय से जहाँ रहता था उस बाल-वन को बेच-बाच कर सालिग्राम में रहने को तैयार हो गया। यह प्रस्ताव आने के एक ही वर्ष के भीतर सालिग्राम के मुख्य भाग के ही निकट अपनी जमीन पर ऐतालजी ने एक भारी कोठी ही बनवा दी। इस तरह 1973 के अन्त में अपने गाँव कोट पहुँच गया। जनवरी सन 1974 बीतते-बीतते उनके

बनवाये 'सुहास' मे मैं निवास करने लगा। कुछ समय बाद मेरा पुत्तूर का घर बिक गया। उससे जो पैसा मिलेगा वह मैंने सोचा मेरे बच्चों के काम आयेगा। वहाँ से चलते समय मुझे लगा कि सालिग्राम में अब मेरा अज्ञातवास होगा। मेरा बचपन उसी परिसर में बीतने पर भी इन सात दशकों की अवधि में मैं अपने गाँव वालों के लिए एक अपरिचित ही था।

ग्राम का निवासी

'सुहास' में रहना आरम्भ करने के बाद मेरे लिए वह घर और स्थान अज्ञातवास नहीं रहा। मेरे पहले के सभी क्रियाकलापों और प्रवासों का वह केन्द्र बन गया। श्री ऐतालजी द्वारा दूरदृष्टि से जी खोल कर खर्च करके वह घर बनवा कर मुझे सुपुर्द कर देना एक आश्चर्य की बात थी। सुनने वाले मित्रों को भी ऐसा ही लगा। स्वयं को भले ही कोई लाभ न हो जिस व्यक्ति के प्रति अपना अभिमान हो उसके लिए इतना त्याग करने वाले विरले ही होते हैं।

बालवन

मैं चार दशक पुत्तूर में बिता चुका था, पर अपने उस बाल वन को छोड़कर जाने में मुझे कोई व्यथा नहीं हुई। पर वहीं जन्मे और पले बच्चों को वह अच्छा न लगा। मेरी इच्छा थी कि मेरा बेटा उल्लास वहाँ खाली पड़े घर में कोई उद्योग आरम्भ कर सकता है। मैंने छापेखाने और प्रकाशन से हाथ धो लिये थे। इसका कारण यह था कि कल मेरे बच्चे वह काम नहीं करेंगे। इसलिए वह जगह छोड़ने से पहले मैंने बच्चों से भी पूछा। उन्होंने मेरा विरोध नहीं किया। परन्तु छह एकड़ का विस्तृत वह बाल वन, उसमें रहनेवाले पशु-पक्षी तथा बीच-बीच में आनेवाले नये पक्षी, उनके बचपन से लेकर अब तक के साथी सभी आकर्षण के केन्द्र थे। मैंने अपने बच्चों को प्राथमिक शालाओं में पढ़ने नहीं भेजा था इसलिए उनका सारा बचपन वहीं बीता था। उन्होंने वहाँ एक छोटी-सी झोपड़ी भी बना रखी थी उन लोगों के हाई स्कूल जाने के बाद भी वे अपने मित्रों को लाकर उन्हीं पेड़ों की छाया में खेला करते थे। बाद में, वह जगह छोड़कर सालिग्राम में बसने के बाद बालवन की याद उन्हें सताती ही रहती थी। वहाँ के पेड़-पौधे पशु-पक्षी, फल-फूल! अब तक वे एक-दो दिनों को वहाँ जाकर न रहें तो उन्हें तृप्ति नहीं मिलती।

हस्तान्तरण

वह जगह छोड़ने के बाद मैंने उसे बेचने का प्रयास किया। यह खबर सुनकर एक महोदय ने कर्नाटक सरकार पर जोर डालते हुए लिखा कि वह

जगह मेरी यादगार के रूप में सुरक्षित रखनी चाहिए। तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री देवराज अर्स ने उसे खरीद लेने की घोषणा की। असेंबली में भी घोषणा हो जाने से मुझे ग्राहक खोजने की बात ही छोड़नी पड़ी। तीन वर्ष ऐसे ही बीत गये। सन 1979 में सरकार ने मेरा 'बालवन' अपने अधिकार में लेने की आज्ञा जारी की। उसी वर्ष मई 19 को मैंने वह जगह विधिवत सरकार के अधिकार में दे दी। आगे उसकी कीमत लगाने आदि का काम होना था। इस पुस्तक के लिखे जाने तक भी वह काम पूरा नहीं हुआ।

मेरे उस स्थान को छोड़ते समय बच्चों में ज्ञान पिपासा बढ़ाने के लिए वहाँ क्या क्या किया जा सकता है, इसके बारे में कन्नड़ और संस्कृति विभाग को निर्देश दिये गये थे। घर छोड़ते समय अपने एक परिचित को उसकी रखवाली के लिए वहीं छोड़ आया था। फिर भी सरकार के उसको विधिवत अपने हाथ में लेने तक, उस घर में बहुत सी चीज़ें आसपास के लोगों ने खिसका ली थीं। बाद में सरकार ने वहाँ एक पहरेदार नियुक्त किया उसका नाम है मन्मथ कुमार। उसे मोर पालने का बहुत शौक है। पहले मैंने बच्चों के लिए पशु-पक्षी पाल थे इसलिए वह मुझे अच्छा ही लगा। मन में यह आशा जागी कि मन्मथ की सहायता से वहाँ बच्चों के लिए एक सर्पालय खोला जा सकता है।

बेटे का विचार

मेरे एक मात्र दूसरे बेटे उल्लास ने सूरत में अपनी इंजिनियरिंग की पढ़ाई पूरी कर ली। बाद में बंगलूर में उसने मेरी मदद से दो वर्ष तक नौकरी की। आगे उसका कोई स्वतन्त्र इंजिनियरिंग उद्योग करने का विचार था पर वह हो न पाया। इसके बदले वह पेरियपट्टण के पास थोड़ी सी ज़मीन लेकर तम्बाकू की खेती करने लगा। उसकी आन्तरिक इच्छा पक्षी और वन्य प्राणियों पर अन्वेषण की थी। उसकी खेती नागरहोले अभयारण्य के पास है। इसीलिए उसे अपनी आन्तरिक इच्छा की पूर्ति के लिए वह जगह बहुत सहायक हुई। वह अब विवाह करके मैसूर में रहता है। वह कृषि और वन्यपक्षी के संरक्षण में रुचि ले रहा है। चाहे कोई भी हो अपनी ऐच्छिक प्रवृत्ति के विकास का अवसर मिलने पर जो तृप्ति मिलती है, वह केवल धनार्जन से नहीं मिलती।

अनिरीक्षित सम्मान

सन 1974 के आरम्भ में मैं अपने गाँव कोट से दो मील दूर स्थित सालिग्राम में अपने मित्र द्वारा मेरे लिए ही बनाये मकान में रहने लगा था। उसी वर्ष एक दिन आधी रात को वहाँ डाकखाने से यह खबर आयी कि मेरे नाम बंगलूर से एक टेलीफोन है। उस टेलीफोन का अर्थ समझने में मुझे ज़रा देर लगी।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री चन्ना रेड्डी ने मेरे ठिकाने का पता लगाकर मुझे एक सन्देश भेजने को कर्नाटक सरकार से अनुरोध किया था। उससे पता चला कि मेरठ विश्वविद्यालय वाले मुझे कुछ दिन बाद डाक्टरेट की पदवी प्रदान करना चाहते हैं अतः मुझे वहाँ निमन्त्रित किया गया है। इस समाचार के दो तीन-दिन बाद मेरठ विश्वविद्यालय के उपकुलपति का तार भी मिला साहित्यकार के रूप में मुझे डी एस सी की पदवी ग्रहण करने वहाँ जाना था। यह तार मुझे कुछ अजीब सा लगा। मैं वैज्ञानिक नहीं हूँ। विज्ञान के बारे में कन्नड़ में लिखा अवश्य है। इसके अलावा दूर के मेरठ का मुझसे कोई सम्बन्ध ही नहीं था। फोन समस्त विश्वविद्यालयों के कुलपति चन्ना रेड्डी से आया था। मेरी समझ में नहीं आया कि क्या करूँ। उनका निमन्त्रण आँखें मूंद कर स्वीकार करके इतनी दूर मेरठ जाऊँ या नहीं। इसलिए दिल्ली में मेरे मित्र शारदा प्रसाद को यह पत्र लिख कर पूछा, "इस प्रकार का एक तार आया है। मेरा और मेरठ का कोई सम्बन्ध ही नहीं। पता नहीं वे मेरे बारे में क्या जानते हैं। उनका निमन्त्रण स्वीकार करना कहाँ तक ठीक है?" उन्हें पत्र लिखा था या तार दिया था यह अब मुझे याद नहीं। उन्होंने लिखा, 'आपको सोचने की जरूरत नहीं, आप चले आइये।' मैं निश्चित समय से दो दिन पहले ही दिल्ली जा पहुँचा। वहाँ पर मैं हमेशा शारदा प्रसादजी के घर ही ठहरता हूँ। दिल्ली से मेरठ अस्सी मील के करीब होगा। उस दिन उसमें भाग लेने दिल्ली विश्वविद्यालय के श्री मलहोत्रा भी आमन्त्रित थे। श्री शारदा प्रसादजी के एक भाई उस विश्वविद्यालय में शस्य शास्त्र के प्राध्यापक हैं। उनके द्वारा श्री शारदा प्रसादजी ने श्री मलहोत्रा से सम्पर्क स्थापित किया। इससे प्रशस्ति वितरण के दिन ही मैं श्री मलहोत्रा के साथ मेरठ चला गया। कुलपति चन्नारेड्डी उस समारोह में आये थे। वहाँ जैसा कि मैंने सोचा था कोई धूमधाम दिखायी नहीं दी। मलहोत्राजी को डी एस सी की डिग्री प्रदान की गयी। आन्ध्र के एक तरुण कवि और मुझे डी लिट की पदवी दी गयी। उसमें पहले मेरे कौतूहल का कारण एक और बात पता चला। उस विद्यालय में कुछ कन्नड़ के प्राध्यापक थे। पता चला कि उनसे उस विश्वविद्यालय के सिंडीकेटवालों को मेरे बारे में जानकारी मिली। समारोह की समाप्ति के बाद उस रात वे रात्रि भोज में भाग लेने के बाद श्री मलहोत्रा के साथ ही वापस लौट आया। रास्ते में मुझे मोदीनगर ने बड़ा आकर्षित किया। मोदी उद्योग बहुत से हैं। बिरलाजी ने जिस प्रकार दिल्ली में एक मन्दिर बनवाया है, उसी प्रकार इन्होंने भी मोदीनगर में एक भव्य मन्दिर बनवाया है। गाड़ी से उतर कर उसे देखने का समय मिला। आगे एक नगर और मिला जिसके नाम ने मेरा कौतूहल जगाया। वह था साकेत नगर। उस नगर ने रामायण के नाम की याद दिला दी।

ज्ञानपीठ पुरस्कार

सन 1974 मे मैं सालिग्राम म था। तभी श्रीमती रमा जन द्वारा सस्थापित भारतीय नानपीठ न मुझे 1978 के ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए चुना है, यह समाचार मिला। यह एक ऐसी सस्था है जो भारत म साहित्यकारा को सवस बडी प्रशस्ति प्रदान करती है। उन्होने वह प्रशस्ति नो वप पूव प्रकाशित मरे 'मूकज्जी' उप यास पर दी थी। उस घोपणा क एक सप्ताह के भीतर देश के कोने-कोने से सैकडा तार और हजारो शुभकामना पत्र प्राप्त हुए। इसस मुझे पता चला कि कनड के पाठको मे मरे प्रति कितना गौरव है। यह कनड के लिए तीसरी प्रशस्ति थी। मैं यह जानता हूँ कि जिस उपन्यास पर यह प्रशस्ति मिली उससे अनक लोग बहुत प्रभावित हुए थे। यह नियम है कि एक भाषा का एक बार प्रशस्ति मिलने पर तीन वप तक उस भाषा को वह प्रशस्ति नही मिलती। यह प्रशस्ति पहली बार श्री के वी पुट्टप्पा को उनके का य 'रामायण दशनम' पर मिली थी। उसी वप एक और भाषा के लेखक का यह सम्मान मिला था। व थे गुजराती के श्री उमाशकर जोशी। आगे यही प्रशस्ति कनड कवि कृष्ण के 'नाल्कु तति' कविता सग्रह को मिली। तब भी उनके साथ एक और भाषा क लेखक उसके हिस्सेदार बने। इससे उस प्रशस्ति के साथ मिलनवाल एक लाख रुपय दा दो यक्तियो म बटे। मेरे समय म ता इस एक लाख का भागीदार और कोई नही था। इससे जनता म जरा गलतफहमी फली। मैंने कनड पत्रिका मे एक जगह टिप्पणी पढी। इसस पहलवाला को तो आधी-आधी प्रशस्ति मिली थी पर कारतजी को तो पूरी मिली।

दुनिया म नोवल पुरस्कार सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है। विनान साहित्य और शाति के लिए भी प्रतिवप पुरस्कार दने को स्वीडन के नोवल नाम क महाशय ने अपन नाम से ही इस पुरस्कार की घोपणा की थी। कई वर्षों से नान विज्ञान मे शोध करनवालो को यह पुरस्कार दिया जा रहा है। उस पुरस्कार की रकम भी बहुत मोटी है। उसे यदि दो तीन लोगा म भी बाटा जाय तो भी उस कोई 1/3 या 1/4 प्रशस्ति नही कहता। प्रशस्ति के साथ मिलनवाल उस धन स सम्मान का सम्बध नही होता। अत चाहे पुट्टप्पाजी हो या व द्रे जी उनक बारे म ऐसा नही सोचना चाहिए कि आधी प्रशस्ति मिली। विविध भापाओ का मूल्याकन करते समय यदि दो तीन व्यक्ति समान योग्यता के दिखायी दें तो क्या किया जाय? तब पुरस्कार की राशि बाटनी ही पडेगी, पर प्रशस्ति का पाटकर बाँटा नही जा सकता।

सम्मान और सत्कार

खैर, इस प्रशस्ति के कारण कनाटक के उत्साही तथा अभिमानियो न जहाँ-

जहाँ बुलाया, वहाँ जाना मेरे लिए अनिवार्य हो गया। तीन मास तक तो मुझे और कोई काम ही नहीं था। केवल यही एक काम था। मेरे साहित्य के पाठक और अभिमानी, जिन्होंने मेरा लिखा कुछ पढ़ा भी नहीं था, उन्होंने मुझे अपने-अपने यहाँ बुलाया। मेरी प्रशंसा की झड़ी लगा दी। अनगिनत मालाओं से लादा, शाल ओढ़ाए। अभिनंदन पत्रों में तो संस्कृत के सारे शब्द लुटा डाले। यह बात तो जहाँ जहाँ मैं गया वहाँ हुई। ऐसा लगा कि ऐसे समारोहों में सार्वजनिक होड़ भी थी। मुझे कभी कभी यह विचार भी कचोटता कि यह प्रशंसा सीमा लाँघती जा रही है। प्रशंसा की भी एक सीमा होनी चाहिए न? मैंने कई बार अपनी प्रशंसा में आयोजित सभाओं में आयोजकों से मजाक में कहा भी था कि ज्ञानपीठ प्रशस्ति कहीं 'ज्ञानपित्त' न बन जाय। दावणगेरे में आयोजित सम्मान समारोह किसी को भी नशा चढ़ाने को काफी था। दस हजार से भी ज्यादा लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे।

पहले मेरी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर भी बंगलूर में एक ऐसा आयोजन हुआ था। ज्ञानपीठ प्रशस्ति की प्राप्ति के समय भी बंगलूर में नागरिक अभिनंदन का समारोह हुआ था। उसी के साथ विद्वानों की एक द्विदिवसीय गोष्ठी भी हुई थी। तब उन्होंने गुजरात के श्री उमाशंकर जोशीजी को अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किया था। इन सज्जन और सत्कवि को अध्यक्षता के लिए आमंत्रित देखकर मुझे वही प्रसन्नता हुई जो उडुपि में सुनीतिकुमार चटर्जी को आमंत्रित देखकर हुई थी।

यह प्रशस्ति समारोह साहू जैन रहस्यवान साधारणतया दिल्ली में किया करते थे। पर उस वर्ष उन्होंने यह समारोह बम्बई नगर में किया। मैं अपने परिवार के साथ बम्बई गया और तीन दिन श्री साहूजैन के घर अतिथि रहा। उस दिन का उत्सव बिरला भवन में हुआ। उसकी अध्यक्षता को सर्वोच्च न्याया-लय के न्यायाधीश श्री चन्द्रचूड़ आमंत्रित थे। उस समारोह के दूसरे दिन ही यह निर्णय करना था कि अगले वर्ष यह पुरस्कार किसे दिया जाय। उसकी बैठक श्री जैन के घर पर ही हुई। उसमें हिन्दी कवि श्री स. हि. वात्स्यायन 'अज्ञेय' को यह पुरस्कार देने का निश्चय हुआ। हिन्दी साहित्य के बारे में मेरी जान-कारी बहुत कम थी फिर भी अज्ञेयजी से परिचित था। उन्होंने लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व इलाहाबाद में सम्पन्न एक साहित्य गोष्ठी में मुझे बुलाया था। तब मैं उनके घर पर अतिथि रहा था।

प्रशस्ति समारोह के दिन श्री श्रेयांस प्रसाद जैन के घर एक सहभोज हुआ। उसमें आये कई विद्वानों से मेरा परिचय हुआ। इस प्रकार तीन दिन बम्बई में बिता कर मैं सालिग्राम लौटा।

इसी अवधि मे श्रीमती इंदिरा गाँधी लोकसभा चुनाव म हार गयी थीं जिससे उनके पक्ष को बडा धक्का पहुचा था। उन्ह प्रधान मन्त्री पद भी छोडना पडा था। यह खबर भी फली थी कि व कर्नाटक क चिक्क मगलूर क्षेत्र स चुनाव लडेगी। तब श्री देवराज अरस उन्ही के पक्ष मे थ। उन्होंने चिक्क मगलूर के ससद सदस्य श्री चन्द्रे गौडा से त्यागपत्र दिला कर उस खाली स्थान स श्रीमती इन्दिरा जी क चुनाव लडन का प्रबन्ध किया था। उस चुनाव की ओर सारे भारत की आँखें लगी थी। उनके विरोध म किसे खडा किया जाय यह बात जनता और सी पी एम पक्षवाला क लिए एक सिरदर्द थी। एसी परिस्थिति म दूसरे पक्ष वाले उनका मुकाबला करन म अपन का असमर्थ पा रह थ। नहीं तो राजनीति से दूर रहने वाले व्यक्तियो क पास व नही जात। उन्होंने पहले सिने अभिनेता राजकुमार स सम्पर्क किया। उन्होंने मना कर दिया। उसी समय मेरे सिर पर ज्ञानपीठ पुरस्कार का मुकुट रखा गया था। इसलिए जनता पक्षवालो न मेरा नाम अभ्यर्थी के रूप में सुझाया। यह बातें पत्रिकाओ म छपी। दूसर लोगो ने भी मुझसे कहा। मुझे वह जचा नहीं। इंदिरा क विरुद्ध प्रचार कार्य करन को तो मैं तयार था, पर स्पर्धा के लिए नही। पर यदि कोई स्पर्धा क लिए न खडा होता तो फोकट म उन्ह जगह दन की अपेक्षा मैं चुनाव लडन को तयार था। राजनीति क लिए चुनाव स्पर्धा करन की आयु मेरी नहा थी। राजनीतिक वातावरण न मेरे भीतर जुगुप्सा पैदा कर दी थी। उस समय मित्रो ने पूछा 'आप का नाम आया है क्या कर रह हैं?' मैंने कहा, 'साहित्यकार क रूप मे मुझे कर्नाटक म स्थान मिला है पर मेरे अभिमानी तो समस्त कर्नाटक म फले है। फिर भी एस लोग चिक्कमगलूर मे सौ स ज्यादा नही होंगे।'

10 अक्तूबर को मैं अपने जन्मदिन के समारोह म भाग लेने जब बगलूर गया, तब वहाँ जनता पक्ष की ओर से यह प्रस्ताव सचमुच आया था, यह बात पता चली। इसी उद्देश्य से भी श्री जाज फर्नांडीस दिल्ली से मुझसे भेंट करने आये थे। मैंने उस बारे मे अपन भाई से सलाह माँगी। उन्होंने 'इस उम्र म तुम इस चक्कर म मत पडो' कह दिया। श्री जाज फर्नांडीस से मैंने कहा, यह राजनीतिक दलो का आपसी सघर्ष है, अत आप विपक्ष के किसी उम्मीदवार को ही खडा कीजिए। हार जीत का प्रश्न तो बाद की बात है। यदि कोई एसा न मिले तो मजदूर पक्ष क श्री नम्बूदरी पाद को ही खडा होना चाहिए। किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्ध न रखनवाले मुझ जसे का नहीं। दिल्ली म उसका निर्णय तुरन्त होना था। उसी दिन उस बात के निर्णय के लिए बैठक होने वाली थी। जाज फर्नांडीस न मुझे बताया कि श्री वीरेन्द्र पाटिल को खडा करन का प्रयत्न

किया जा रहा है। मैंने कहा, "ठीक है।" तब, "मैं फिर से शाम को आऊँगा, पाटिल यदि नहीं मानें तो आपको ही मानना होगा" कह कर वे चले गये। भाग्य से इस बात के चार घण्टे बाद पता चला कि श्रीमती इंदिरा गांधी के विरुद्ध पाटिलजी खड़े हो रहे हैं। मेरे सिर का भार उतर गया।

प्रचारक

मैंने जॉर्ज से कहा था कि मैं जनता पक्ष की ओर से चुनाव प्रचार के लिए तैयार हूं। इसलिए चुनावों के दौरान मैं कर्नाटक की जनता पक्ष की सभाओं में बोलने गया। चिक्कमगलूर क्षेत्र में दक्षिण जिले का कारकल भी शामिल होने के कारण मैंने वहां के प्रचार में भाग लिया। इस प्रकार आठ दस जगह गया। तब का एक दृश्य तो चिरस्मरणीय है। इंदिरा गांधी से अनेक कारणों से नाराज हुई दलों के लोगों ने तमिलनाडु, केरल, राजस्थान, बम्बई आदि प्रदेशों से चिक्कमगलूर आकर इंदिरा के विरुद्ध प्रचार किया। उस आन्दोलन में बेलतंगडी में पुलिस की गोली की शिकार एक छात्रा हुई। श्री देवराज अर्स ने उस गोलीकाण्ड के लिए सरकारी जांच के आदेश दिये। उस जांच के दौरान अंग्रेजी अखबार के एक संवाददाता ने गोलीबारी के समय लिये गये फोटो की प्रति प्रस्तुत की। पर उस जांच का निर्णय क्या हुआ, यह अन्त तक प्रकट नहीं हुआ।

ऐसे प्रसंगों से पता चलता है कि हमारे देश के हुक्मरानों को अपना किया अन्याय भी अन्याय जैसा नहीं लगता। नित्य जीवन में भी ऐसा ही है नहीं तो 1982 में बैंगलूर में विषैली शराब से 350 जानें क्या हो नहीं जातीं। सरकार ने उस पर जबरदस्त जांच करायी पर विरोधी पक्ष के सरकार संभालने तक उसकी रिपोर्ट गुप्त ही रहनी चाहिए थी ? किसी भी सभ्य देश में ऐसा हो नहीं सकता। केवल हमारे देश में ही चाहिए है। अमरिका के वाटरगेट प्रकरण से इसकी तुलना करें तो ऐसा लगेगा कि हमारी जनता को प्रजातन्त्र की गंध तक मालूम नहीं। यहाँ की जनता के अधिकार और अहं को कुचलना संभव है। कैसे भी भयंकर अपराध यहाँ अधिकार और पैसे के बल पर टाला सकते हैं। संसार को धर्मबोध करानेवाले भरत मुनि के पुनर्जन्म को जानने वालों के लिए ही यह संभव है।

मुझे इस संदर्भ में हुई एक घटना की याद आ रही है। बेलतंगडी के गोली काण्ड के अगले दिन ही प्रातःकाल मैं सालिग्राम से कोवकड नामक ग्राम जा रहा था। वहाँ पिछले दिन ही इंदिरा गांधी का आगमन हुआ था। वह महामाया कैसी है यह देखने हजारों लोग इकट्ठे हुए थे। उस सभा में आये हमारे

जिले के एक नेता ने जो उस समय मन्त्री भी थे, जो फरमाया उससे मैं बडा चकित हुआ। उन्होने कहा, "इस जनता पक्षवाला में इंदिरा गांधी की जूतियाँ उठाने की भी योग्यता नहीं।" मैंने वह बात अपने भाषण मे बताते हुए कहा 'यह सच है उस बात को कहनेवाले महाशय में ही वह योग्यता हो सकती है। दूसरे लोग इतने नीचे नहीं उतर सकते।" हमारे राष्ट्रधुरीणों का मत कितना निचले स्तर तक पहुँच गया है यह इस बात का साक्षी है।

चल-चित्र

़थावस्तु

ैं लगभग पता नही क्यो फिर स मेरा मन चल चित्र की ओर
हले सन 1935 की अवधि म अवाक चल चित्रो के जमाने म
ध मे डोमिगो' नाम स एक लघु चित्र और 'भूत राज्य' नाम
ा निर्माण करके उम काय स हाथ धो चुका था। उन दिना मैं
र म बिताया करता था। तव मैंने वहा कुछ पाश्चात्य चलचित्र
भी बैंगलूर और वम्बई प्रवास के समय भी एक दो उच्च कोटि
चित्र देख थे। उम जमाने मे मेरे मन मे देशी चित्रो के प्रति कोई
। सिने कला के प्रति भी मेरे मन मे कोई आकषण न था।
से भी उसके लिए आवश्यक पैसा, प्रयत्न तकनीकी अनुभव
बाहर की बातें थी। इसलिए लगा कि इस बारे मे सोचना ही
ौर बाद मे भी एक दो सज्जना न जा इस कला स परिचित थ,
बारे मे रुचि ली थी। परन्तु यह सोचकर कि व मूल कथा को
के अनुसार ताड मराडेंग, मैंन इन्कार कर दिया था। उन दिना
च्छा अनुसार ही हम चित्र तयार करेंगे कहकर एक प्रोड्यूसर
पेशगी दी थी। पर वे दुबारा लौटे ही नही। एक और सज्जन
ी समाधि उपन्यास की कथा लने के लिए पेशगी देकर अधि-
पर आग चलकर उ होन उसे बनाया ही नही था। मेरा चोमन
त्रित करन क लिए एक महाशय स्क्रिप्ट तैयार करके लाय।
छा 'महाराज यह कहानी ता आप की ही दिखती है, कहीं से
प उस फिल्मा लीजिए पर मरा नाम मत दीजिएगा।" उन्होंने
सका चल चित्र बनाया। यह पता नही चला कि उन्ह उससे
ा, पर मुझे उससे कोई नुकसान नहीं हुआ।

ुद्दु सुवण ने, जिन्होंने हमारे जिले में 'कांटि चनय्या' नाम का

तुलु चल चित्र बनाया था, चोमदुडी को फिल्माने की इच्छा व्यक्त की। मैंने उनका पटकथा लिखकर द दी। उससे कुछ पेशगी भी मिल गयी। बात वहीं समाप्त नहीं हुइ उन्होंने कहा, "मैं आपके कहने के अनुसार ही निर्देशन कराऊंगा।" तब मैंने उन्हें उस काम के लिए बी वी कारन्त का नाम सुझाया। श्री भुवण ने उनको निर्देशन करने के लिए मना लिया। मैंने बी वी कारन्त को कथा के वार्तालाप टेप करके दे दिये। साथ ही कुछ तुलु गीतों की धुनें भी दी। बाद में, उस कथानक के लिए आवश्यक विविध स्थान और दृश्य भी दिखाये।

आगे एक दिन अपने जिले में बेलतगडी कय्यूर म आयोजित चित्र के मुहूर्त पर भी मैं गया। परन्तु ऐसा नहीं लगा कि उन निर्देशक महोदय को कलाकारों के चुनाव के समय अथवा चित्र तैयार करते समय बीच में कहीं मेरी आवश्यकता महसूस हुई हो। मेरे ही द्वारा परिचय कराये मेरे कुछ मित्रों की सहायता लेकर उन्होंने यह चित्र पूरा कर डाला। एक दिन पता चला कि वह चित्र बंगलूर में तैयार हो चुका है। मैं जब बैंगलूर गया तो वे मुझसे मिलने आये और उन्होंने मुझसे कहा आप चित्र देखने चल सकेंगे?"

मैंने कहा, 'नहीं।"

वे बोले आप बुरा मान गये हैं?'

मैंने कहा 'जी हां।'

मैंने आगे कहा, "जब फिल्म बनाते समय मेरी जरूरत नहीं थी तो अब मेरा वहाँ क्या काम? जब चित्र पर्दे पर आयेगा तब कहीं भी देख लूंगा।"

आगे बहुत से मित्रों ने पूछा था आपको इस फिल्म से संतोष हुआ? मैं झूठ नहीं बोल सका। मैंने कहा, नहीं मुझे उससे संतोष नहीं हुआ।' कथानक में मेरे लिए 'दुडी (ढोलकी जैसा बजाने का उपकरण) प्रमुख वस्तु रही है। उसकी आवाज और चोमा के संकट का निकट का संबंध है। चित्र में मुझे वह नहीं दीखा।

मलेय मक्कलु (मलेय सन्तान)

आगे चोमन दुडी को राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। उसकी पटकथा-लेखन के लिए मुझे भी सम्मान मिला। पर उस प्रसंग की व्यथा दूर करने के लिए मेरे मन में यह विचार उठा कि मैं ही क्यों न चित्र तैयार करूं। मैं उसी के बारे में सोचने लगा। मेरे छोटे भाई परमेश्वर ने उस बात में बड़ा उत्साह दिखाया। उसके लिए मैंने अपनी 'कुडियर कूसु' उपन्यास की कथा को आधार बनाकर पटकथा तैयार की। उपन्यास लिखते समय मैं अपने जिले की पश्चिमी घाटी में रहनेवाले मले-कुडिय लोगों का जीवन देख आया था। उनका सरल जीवन और उनकी वह सामाजिक व्यवस्था मुझे फिल्म के लिए जँच गयी। उसे चल चित्र में आसानी से

दिखाया जा सकता था। कथावस्तु भी आकर्षक थी। जब मैं इंग्लैंड गया था तब उनकी समस्याओं के बारे में मेरी डॉ हाईमनडार्फ से चर्चा हुई थी। वे अगले एक दो साल के लिए अपनी पत्नी सहित हमारे यहाँ आये थे। मैं उन्हें मलेकुडिय लोगों के प्रदेश में ले गया था। तब लगा था कि कम से-कम खर्च में श्याम श्वेत (ब्लैक एण्ड व्हाइट) में एक चित्र तैयार किया जा सकता है। मैंने अपने छोटे भाई के साथ साठ हजार रुपये की पूजी लगायी। मेरे तीन मित्रों ने भी उतना ही पैसा लगाया। उनमें एक ऐसे भी थे जिन्होंने मुझसे बात भी नहीं की थी। चित्र निर्माण के समय ही मैंने उन्हें देखा था। इसी काम के सिलसिले में मैं एक बार फिर से उस जगह हो आया था। इस बीच यानी पिछले तीन दशकों में उन लोगों की वेषभूषा में काफी परिवर्तन आ गया था। अतः अपनी फिल्म में उन्हीं को कलाकारों के रूप में लेने की संभावना नहीं थी। उस कथा की पृष्ठ भूमि प्राकृतिक स्थल—जंगल और पहाड़ थे। उस कथा के सारे दृश्य 'हुल्लि होले' नामक स्थान पर उपलब्ध थे। केवल एक दो दृश्यों के लिए वहाँ से दस बीस मील आगे जाते तो काम चल जाता।

इस कथा का मुख्य विषय था मले कुडिया के जीवन की दाम्पत्य समस्या। वहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं। तो भी उनमें एक ने तीन स्त्रियों से शादी कर रखी थी। मैंने जिसे वास्तव में देखा उसका नाम था सुब्बा। वह एक भालू मारकर अपनी समाज में 'वीर' बन गया था। यही मेरे चित्र का नायक 'तुम्र' है। उन लोगों के यहाँ न केवल स्त्रियों की संख्या कम है बल्कि उनके मालिकों और मालिकों के परिवारों के आ जाने से उन लोगों के परिवारों में अनबन हो जाती है।

इस चित्र का निर्देशक मैं ही था। गिरीश कासरवल्लि ने भी मेरे आग्रह पर मुझे सलाह दी। श्री एस रामचन्द्र छायाकार थे। एक स्त्री कलाकार के अतिरिक्त, सभी पात्र 'ह्ण्य कलाकार' थे। उनके घर की बोली दक्षिण कन्नड जिले की थी। इसलिए इसी जिले की, चल चित्र जगत में प्रसिद्ध कल्पना नाम की एक लड़की से 'केम्पी' का अभिनय करने को अनुरोध किया। उसने खुशी से स्वीकार कर लिया। चित्र बनाने से पहले, सभी दस कलाकारों को इकट्ठा करके तालीम दी। बाद में तीन सप्ताह शूटिंग करते रहे। 'हुल्लिहाल' के कुछ बुजुर्गों ने उस समय जो सहायता दी उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता।

विशिष्टता

यह चित्र मेरे लिए तो एक तरह से साहस का काम था। हमारे यहाँ संवादों को डबिंग करने की प्रथा है। मैंने यहाँ संवादों का शूटिंग के साथ ही अंकन किया।

चल चित्र के संस्करण का काम बंगलूर की चामुण्डी लेबोरेटरी में हुआ। बाद में उसका पृष्ठ संगीत जोड़ने के लिए मुझे सबने मद्रास जाने को कहा। मैंने वह भी बेंगलूर में ही पूरा किया। आकाशवाणी के श्री एम बी कृष्णमाचार्य ने उसके लिए आवश्यक पृष्ठ संगीत की व्यवस्था की। बंगलूर के चामराजेन्द्र टेक्नालाजिकल प्रिंसिपल राममूर्तिजी ने अपनी संस्था में ही ध्वनि संयोजन की व्यवस्था करा दी। मैंने बाहर से अपने चलचित्र के लिए यदि कोई सहायता ली तो वह थी बम्बई फिल्म डिविज़न से चार सौ फीट लम्बी वन्य जीवन की रील। मद्रास से दो सौ फुट लम्बे दो दृश्य भी लिये। मेरा एक और प्रयास था। लोग चित्र के अलग टुकड़ों की प्रायः तीन-तीन बार फोटो लेते हैं पर मैंने एक ही बार लेकर वह काम पूरा कर डाला। इस प्रकार बिना किसी अड़चन के 22500 फुट लम्बे निगेटिव से बारह हजार फुट लम्बा चल चित्र तैयार हो गया। यह सब एक तरह से मेरे लिए संतोष की ही बात थी। इस चलचित्र के काम में तथा आगे भी मेरे मन में कभी यह भाव नहीं उठा कि यह चित्र कहीं खराब हो गया हो तो।

मौन समीक्षा

पत्रकारों को बुलाकर मैंने वह चल चित्र दो दो बार दिखाया। मैंने सुना था कि पत्रकारों को खुश करने के लिए हजारों रुपये खर्च किये जाते हैं मैंने ऐसा नहीं किया। उन्हें एक साधारण जलपान से अधिक का आतिथ्य नहीं दे सका। अतः चित्र के समीक्षकों ने पूर्णरूप से मौन समीक्षा करके मेरी सहायता की।

मैंने चित्र तैयार करने से पहले ही बंगलूर की एक चित्रवितरक संस्था के मालिक से बात की और अपने चित्र के वितरण में सहायता माँगी। मेरा उनका चालीस वर्ष से भी पुराना स्नेह था। वे चित्र वितरण के काम में पर्याप्त अनुभवी थे। पता नहीं उन्होंने क्या समझा और वे बोले "मैं पैसा नहीं लगा सकता। रहा सहा पैसा कर्ज देकर लाचार हो गया हूँ।" तब मैंने उनसे कहा, "मैं पैसे की सहायता के लिए नहीं आया। आप केवल उसके वितरक बन जाइये।" इसे उन्होंने खुशी खुशी स्वीकार कर लिया। इस तैयार चित्र को बिना किसी अड़चन के सेंसर ने भी पास कर दिया। वितरक की सलाह के अनुसार, मैंने उसकी चार प्रतियाँ बनवायीं। तब के सूचनामन्त्री श्री के एच श्रीनिवासराव सरकार की ओर से सहायता धन देने आगे आये। अनन्तर प्रदर्शन के लिए कर रियायत पाने का प्रयत्न किया। उसके लिए मेरे एक मित्र ने विधानसौध की दौड़ धूप शुरू की। उससे केवल समय सरकता गया कोई लाभ नहीं हुआ। एक दिन मेरे मित्र सूर्यनारायण अडिग ने मुझसे पूछा, 'आपके चलचित्र का क्या हुआ?' मैंने कहा, "टैक्स फ्री कराने के लिए कोशिश कर रहा हूँ।" उन्होंने कहा, 'मैं वित्त मन्त्री से बात करूँगा।' चित्र एक महीने के लिए 'टैक्स फ्री' हो गया। तब विधान सौध से

सम्बंधित अधिकारीगण तथा अन्य लोगों ने भी मेरे मित्र को ऐसे दिखाया मानो वह उन्हीं की मेहरबानी हो।

चित्र के प्रथम प्रदशन के लिए बंगलूर मे थियेटर भी तो मिलना चाहिए था। एक सस्था ने अपने हाल का एक सप्ताह का किराया बारह हजार रुपय मागा। वह भी चार भाग काले धन और दो सफेद धन के रूप मे। वह बात मुझे पसन्द नहीं आयी। मैंने फिल्म चैम्बर के सदस्य भक्तवत्सलम् से इस दिशा म सहायता मागी। उन्होंने एक थियेटर की व्यवस्था करा दी। उनके लिहाज के कारण एक थियेटर के मालिक ने सप्ताह मे बारह हजार रुपये किराये पर चित्र प्रदशन की स्वीकृति दे दी। पहले सप्ताह मे उन्नीस हजार की आमदनी हुई। लेकिन दूसरे सप्ताह मेरा चल चित्र लगाया नहीं, क्योंकि मेरे पसे मे काले धन का हिस्सा नहीं था। उन्होंने दूसरे सप्ताह दूसरा ही चलचित्र प्रदर्शित किया। आगे एक दो वितरकों की सहायता से एक दो जगह और भी वह प्रदर्शित हुआ। एक सज्जन ने तो मेरा चल चित्र प्रदर्शित करके मुझे सूचना तक नहीं दी। इस प्रकार उस से हुई आमदनी से तो मेरा विज्ञापन का खर्च भी नहीं निकल सका। मेरे चल-चित्र की चार प्रतियों म केवल एक की ही जरा माँग रही। केरल की कुछ कला-प्रेमी सस्थाओं ने स्वतन्त्र रूप से मँगवाकर उसे देखा। खैर, कुछ ही महीनों मे पता चला कि मेरे चल चित्र मे वितरकों की कोई रुचि नहीं। सरकार की दी एक लाख रुपये की सहायता स मेरा आधा खर्च हाथ लगा।

थोड़ा असन्तोष

मेरे प्रयत्नों के लिए और उससे हुए नुकसान से मुझे दुःख नहीं हुआ, परन्तु मुझ पर भरोसा रखनेवाले जिन मित्रों का जो नुकसान हुआ उसका मुझे दुःख है।

यह चल चित्र होकर भी न होने जसा हो गया। अगले कुछ ही दिनों म मेरे चित्र की प्रधान अभिनेत्री नहीं रही। यही उसका अन्तिम चल चित्र था। वह एक नाट्य मण्डली म काम कर रही थी। वहाँ सन्देहास्पद स्थितियों म बेचारी मौत का शिकार हो गयी। उसे न्याय नहीं मिला। जब भी अपने उस घाटे के चल चित्र को याद करता हूँ तब उस भाग्यहीन अभिनेत्री की बरबस याद हो आती है।

बंगलूर म एक थियेटर मे मैं अपने एक प्रिय मित्र को साथ लेकर दूसरी बार अपना वह चलचित्र देख रहा था। व मेरे बड़े ही गहरे मित्र थे फिर भी मेरे पात्रों के संवादों का प्रत्येक शब्द उनके मन मे असंतोष पदा कर रहा था, यह उनके उदगारों से पता चला। चलचित्र की सवाद शली से भी वे असन्तुष्ट हुए होंगे। उसका जिम्मेदार तो मैं था, मेरे पात्र नहीं। अभिनय और संवाद के बारे म मेरे विचार स्पष्ट थ। चाहे अभिनय हो या सवाद, केवल तात्पय व्यक्त कर देने से

ही काम नही चल जाता। मुँह से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द मे बोलनेवाले के के मनोभाव और शब्द का अथ श्रोताओ को स्पष्ट रूप से ध्वनित होना चाहिए। इसके लिए तो मैंने एक दो दशक परिश्रम भी किया है। जल्दी जल्दी पुस्तक पढने क समान यदि सवाद वाल दिये जाएँ तो बहुत स लोगो को वही स्वाभाविक लगत हैं। मेरे विचार स मुह मे निकलनवाले हर शब्द से बोलनवाले के मनोभाव और अथ श्रोताओ तक उसी रूप म पहुँचना चाहिए।

देश-विदेश मे

साहित्यकार के रूप मे

मेरे हँसने खेलने की भूमि, सास लेने की भूमि म कनडनाडु है। मेरी भाषा कन्नड है। मैं अपनी इच्छा, अनिच्छा, अपेक्षा, चिन्ता, सन्तोष, सुख दुख कन्नड म ही व्यक्त कर सकता हूँ और करता चला आ रहा हू। तात्पय यह कि मैं केवल कन्नडवालो को ही ध्यान मे रखकर लिखता हू। भारत उससे बडा है। जगत उस से भी पता नही कितना बडा है। इतने बडे जगत के बारे म कुछ भी कहने के लिए मेरी भाषा पर्याप्त नही मेरी योग्यता भी पर्याप्त नही। परन्तु दुनिया के कुछ देशो का भ्रमण कर लेने के बाद, वहा की जनता की क्या-क्या उपलब्धिया हैं, इसकी थोडी सी जानकारी मुझे मिली है। जल्दी जल्दी म एक एक देश को एक-एक दो दो दिन देख पाने पर भी मेरी आँखें उसे भूल नही सकती।

कल और आज

रोम जैसा पुरातन नगर देखकर आगे चला, तो इटली के वनिस फ्लारेंस जसे पुरातन नगरो के दशन करने पर, इटली के प्राचीन इतिहास की एक झाकी मिली। जिन देशो को देख नही पाया था उनका इतिहास पढा था। इसलिए प्राचीन लोगों की साधना का ज्ञान मुझे था। इसी दृष्टि से मैंने कई बार भारत का भ्रमण किया और अपने पूवजो की साधना को भी पहचाना है। अपने देश क बारे म ज्ञान होने से, उसके प्रति मुझ मे गव भी है। उन्ही के साथ दुखद ऐतिहासिक घटना ए तथा गत करोडो लोगो के आँसुओ की भी याद है। यह सब तो विगत काल की यादें हैं। इतिहास क अध्ययन से, इस निष्कष पर पहुचा हू कि प्रत्यक महान राष्ट्र एस ही आँसुओ म डूबकर उभरा है। कोई भी एसा देश नही जिसने मानवकुल की क्रूरता की चरम सीमा न देखी हो। वह सब सहकर ही आग की पीढियाँ अपन भविष्य का निर्माण करती आयी हैं। यह सब हर देश की जनता का सामूहिक कम फल है।

अपने यूरोप प्रवास म मुझे यह देखने को मिला कि वहाँ के प्राचीन लोगो का

कमफल कैसा था। मेरे जन्म के बाद हुए विश्व के दो महायुद्धो ने और जापान का माचुको विनय मानवकुल की क्रूरता, और आधुनिक शास्त्रास्त्र की साधना ने यह दिखा दिया कि करोडो लोगो की कितनी भयंकर हानि हो सकती है।

अदभुत म भी अदभुत

अपने उन्ही प्रवासो से मैंने एक और विचित्र अनुभव किया। वह है इन विश्व युद्धो से मानव की क्रूरता के शिकार हुए देश क देश युद्ध की रुद्र भूमि बने। फिर भी व बचे रहे और उस डरावने प्रेत स बच कर व कस आगे बढे हैं यह भी मैंने देखा। करोडो जीवो मे, उनमे भी विचार और बुद्धि म विकसित मानव म भी जीने की इच्छा ने यह दिखा दिया कि कभी कभी साधना की जा सकती है। उसी से वह रुद्र भूमि नन्दन-वन बन गयी।

ऐसा ही एक सपना

ऐसी ही साध्यता का सपना मैंने छुटपन म तब भी देखा था जब मैंने सन् 1922 म असहयोग आन्दोलन मे कदम रखा था। लगभग पच्चीस वष बाद, यानी सन 1947 मे भारत को परतन्त्रता से मुक्त होते देखा। पर उसक आगे क्या दखने मिला ? जीवन की सफलता विदेशो मे देख आने के बाद मुझे स्वतन्त्रता के बाद हुई भारत की प्रगति ने जो दुख दिया वह और किसी घटना ने नही दिया। महात्मा गांधी के बाद हमारे राजनीति के आकाश मे उतर आये कई नेताओ और उनके अनुयायियो का व्यवहार आज तक भी मुझे यातना दे रहा है।

यह यातना दिन दिन बढती ही जा रही है कम नही हुई है। जबसे बेईमानी धाधाधडी, सावजनिक लूट खसोट हमारे नेताओ का उद्देश्य बना और जबसे चिकनी चुपडी बाते और सब्जबाग उनकी जबान पर नाचने लगे और ऐसे लोगो के अनुयायियो की सख्या जब गाँव-गाँव म नार लगाने लगी तभी स मेरे भावी भारत का सुनहरा सपना चूर चूर हो गया। आज मुझ मे भारतीय होने का गव लेशमात्र भी बाकी नही। मुझे स्वय को भारतीय कहने म शम आती है। स्वतन्त्रता के बाद क वातावरण को कलुषित करने म मेरा कोई हिस्सा न होन पर भी मुझे शम आती है।

अपने सुख से बढकर

मेरी आर्थिक स्थिति म कुछ सुधार आया। कन्नडवालो न मेरी योग्यता से भी बढकर मुझे सम्मान दिया। परन्तु लगता है कि हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म गन्दगी भर गयी है। साहित्यिको का क्षेत्र भी उसम अपवाद नही।

जब भी मुझे अपना असन्तोष व्यक्त करने का अवसर मिला मैंने व्यक्त

किया। सन 1978 के चुनावों में और बाद के चुनावों में भी राजनीतिक क्षेत्र को कलुषित करनेवाली नेहरू की बेटी के प्रति मैंने अपना असंतोष व्यक्त किया ही है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, मेरे लिखे 'गोडारण्य', बाद के 'मूजम,' 'अदे-उरु अदमरा' (वही गाँव और वही पेड़), नावुकट्टिद स्वर्ग' (हमारा बनाया स्वर्ग) आदि उपन्यास मेरे मन के दुःख की प्रतिक्रियाएँ ही हैं।

इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखायी दे रही हैं। इसे कला का बाना पहनाकर, साहित्य का मुखौटा लगाकर, साधु-सन्तों की भक्ति का दिखावा करके अथवा मन्दिर तथा अन्य अनेक पुण्य क्षेत्रों के उत्सव कराकर, सार्वजनिक सम्मेलनों का आयोजन करके दिखाना यह सब अपनी बेशर्मी और स्वार्थी जीवन की दुर्गन्ध छिपाने की अगरबत्ती जलाने की तरह है। आगे कभी अच्छा जमाना आया तो हमारे पोते पड़पोते जो इतिहास लिखेंगे वे इसका वर्णन दुःखी लेकिन निडर होकर करेंगे।

आठवें दशक का लेखन

साहित्य और कला मेरे लिए अपना दुःख भूलने के साधन हैं। उनके पूरक के रूप में अध्ययन और संचार मेरे जीवन को शक्ति प्रदान करते चले आ रहे हैं।

साहित्य से सम्बन्धित तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मेरी पहुँच में आनेवाले मूल्यों को मैं बनाता चला आ रहा हूँ। ऐसे मूल्यों के मानदण्ड पर बनी विचारधारा और सम्प्रतीत चार जगत में खूब विकसित हो रहे हैं। उनमें प्रत्येक अनुभव ने मेरी दृष्टि को अपनी प्रबल भँवर की ओर खींचा है। इसीलिए मेरे लेखन के मानदण्ड पर मेरे नव प्राप्त ज्ञान ने प्रभाव डाला। आधुनिक विचार की चका-चौंध से दूर खड़े होकर, तब से अब तक एक ही पथ पर चलनेवालों को तथा अपने अथवा दूसरों में उधार लिये मापदण्ड अपनाकर चलनेवालों को मेरे दृष्टिकोण असमाधान पैदा कर सकते हैं। मेरा वैयक्तिक आदर्श और मापदण्ड जो भी हो, वह मेरे जीवन तक सम्बन्धित है। परन्तु मेरे उपन्यासों में आनेवाले पात्र मुझ से पृथक् अस्तित्व रखते हैं—यह बात ध्यान में रख कर ही उनका व्यवहार जानने और मापने का प्रयास करता आ रहा हूँ।

मनगल सुलियल्लि (तन मन)

आठवें दशक में मैंने खूब लिखा है। कहना चाहिए कि हर वर्ष एक उपन्यास लिखा गया है। उनमें यहाँ एक दो के बारे में कहना उपयुक्त होगा। हमारे जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डालनेवाली यदि कोई समस्या है तो वह है स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध। यह समस्या जितनी बड़ी है उतनी ही जटिल है। पेट भरने की समस्या से भी अद्भुत आकार है इसका। इसके बारे में मैं पहले से ही बड़ी

सतर्कता से लिखता आ रहा हूँ। पाठकों की चपलता को बढ़ाने का मैंने कभी प्रयत्न नहीं किया। स्त्री पुरुष की शृंगार प्रवृत्ति के पीछे निसर्ग का क्या उद्देश्य है, उसकी पकड़ कितनी है वह मनोदैहिक प्रवृत्ति है इसलिए मानव में उसने कितने रूप धारण किये हैं उनमें कौन सा अंश जुगुप्सा पैदा कर सकता है, कौन सा नशा पैदा कर सकता है कौन सा जीवन के सौंदर्य में वृद्धि कर सकता है— इन सबको चित्रित करने के लिए मैंने 'तन मन' उपन्यास लिखा। उसमें मैंने यह चित्रित किया है कि एक ही स्त्री पात्र उपर्युक्त सभी बातों पर कैसी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करती है। उपन्यास के एकदम अंत में सार्थक दाम्पत्य के उदाहरण के लिए अपनी आँखों देखे अस्पृश्य परिवार के वृद्ध दम्पती का चित्रण किया है।

मेरे पाठकों को अभी तक अधिक आकर्षित न करने वाला उपन्यास है 'इलेयेंव'। यह शब्द नाट्य साहित्य से सम्बन्ध रखता है। साहित्यकार दूसरों को समझने में प्रयास में लगा रहता है इसलिए उसका अनुभव ज्यादा होना चाहिए। उसे जीवन का अर्थ समझना चाहिए। तब हमारे समक्ष जो प्रश्न उठता है वह है कि 'हम दूसरों को कितना समझ सकते हैं?' उसकी सीमा को जताने के लिए रंगमंच में अभिरुचि रखनेवाले कुछ तरुण-तरुणियों को लेकर उनके द्वारा खेल जानेवाले नाटक और उनके जीवन के बीच का अंतर व्यक्त करने का प्रयास किया।

यहाँ दूसरों को समझने के प्रयत्न की सीमा मुझ साहित्यकार की सीमा को व्यक्त करती है। मैं दूसरों से अलग नहीं।

स्मृति-पटल में

इस अवधि में लगभग तीन साल लगाकर तीन भागों में अपने जीवन की स्मृतियाँ लिखकर 'स्मृति पटल' नाम दिया। इसमें मैंने अपने गत 75 वर्ष की दीर्घावधि की यादें याद करके लिखी। बहुत सी बातें तो स्मृति से छूट भी गयी हैं। इसमें मैंने प्रत्येक विषय का वर्गीकरण करके लिखा है। उस प्रयत्न में पुनरावृत्ति हो सकती है। मेरा उसे लिखने का उद्देश्य यह है कि मैंने जो प्रयोग किये और जो ज्ञान प्राप्त किया उससे ऐसे कार्य में अभिरुचि रखनेवालों को लाभ हो। अपने जीवन तथा कार्यों में मैं जिन जिन का ऋणी हूँ उनका भी अपनी इस रचना में मैंने उल्लेख किया है। मेरा यह आभार प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में मेरी सहायता करनेवालों के प्रति है। बहुतों को मैंने देखा भी नहीं पर उनकी पुस्तकों से मैंने लाभ उठाया है। मैं उनके प्रति भी आभारी हूँ। मैं तो एक छोटा सा आदमी हूँ, पर मुझ पर प्रभाव डालनेवाले व्यक्ति और विषय असंख्य हैं। मेरी आत्मकथा इस 'स्मृति पटल' से भिन्न है। इसमें 'मैं' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है। उसमें काल क्रम के अनुसार जीवन का चित्रण है।

अपने ही भाषा कार्य के लिए और कन्नड के अध्यापकों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर मैंने पाँचवें दशक में 'सिरि गन्नड अर्थ कोश' तैयार किया। उसका दूसरा संस्करण थोड़ा परिवर्धित करके निकाला। आगे ऐसा ही एक काम मैसूर विश्वविद्यालय के 'डीन' श्री जवरे गौडा ने मुझे सौंपा। वह विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में तैयार होनेवाला 'इंगलिश कन्नड कोश' के नये संस्करण का काम था। उसके पहले संस्करण का काम ऑक्सफोर्ड के शब्दकोश के आधार पर किया गया था। उन्होंने मुझे उस काम में सहयोग देने को कहा, इसलिए शब्दकोश के संस्करण मण्डल का सदस्य बनकर पाँच छै वर्ष तक, महीने में चार पाँच बार समिति में भाग लेने मैसूर जाता रहा। बैठक से पूर्व वे लोग विचारार्थ जो शब्द सूची भेजते थे उसे ध्यान से पढ़कर मैं उसके पर्याय सुझाता था। समिति के उद्घाटन के दिन उसके अध्यक्ष प्रो. रंगण्णा ने कहा, "यह काम हमें तीन वर्ष में पूरा करना है।" यह सुन मुझे थोड़ा डर सा लगा, क्योंकि पहलेवाले विद्वानों ने कई वर्ष लगाकर बड़े श्रम से उसे तैयार किया था। उस काम में मुझे जो सबसे बड़ी कठिनाई दिखी वह थी—मूल ऑक्सफोर्ड में शब्द, उनके प्रयोग सरल भाषा में सरल एवं उचित ढंग से सूचित करते हैं। अंग्रेजी में दैनिक प्रयोग में आनेवाले शब्दों का उदाहरण देते हैं। वह 'अंग्रेजी' पता नहीं, अमेरिका के लोगों को कैसी लगी परन्तु उसमें सूचित पर्याय और अर्थ सामान्य लोग भी समझ सकते हैं। पर मुझे ऐसा नहीं लगा कि हमारे यहाँ लोग पदों के ऐसे सरल अर्थ दे पायेंगे। उसके बदले वे एक दो वाक्यों में अर्थ व्यक्त करने का प्रयास करेंगे। एक कमी यह भी थी कि एक शब्द के लिए समानार्थ व्यक्त करते समय कर्नाटक के विविध प्रान्तों में उसके लिए प्रचलित सभी शब्दों का बोध नहीं था। सारा कन्नड प्रदेश एक होने के बाद भी वह प्रयत्न नहीं हो पा रहा था, अतः मुझे लगा कि मैसूर विश्वविद्यालय का यह कोश केवल पुराने मैसूर वालों के लिए ही उपयोगी होगा।

इस बीच आधुनिक वैज्ञानिक शब्दों को चुनकर उनके लिए समान पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का काम भी हमारे यहाँ लोगों ने उठाया। एक शब्दकोश में भले ही कोई शब्द रहे वह अर्थ-द्योतक तभी होता है जब दूसरे ग्रन्थों में उसका प्रयोग हो। लेकिन हमारे मित्रों का दृष्टिकोण था कि हम जिन शब्दों का निर्माण करेंगे जनता उन्हें प्रयोग में लाये। कर्नाटक में प्रचलित सरल वैज्ञानिक पुस्तकों में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों के अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग पर्याय दिये गये थे। अब हम अंग्रेजी वैज्ञानिक शब्दों के संस्कृत भाषा की सहायता से पर्याय सुझाने लगे। अब तक जो वैज्ञानिक पुस्तकें नहीं लिखी गयी हैं और जो लिखी जा रही हैं

उनमे उन पारिभाषिक शब्दों को भी जोडने लगे। मुझे यह प्रयास पसन्द नहीं आया। यदि ऐसा करना ही हो तो जिस शब्द का हम प्रयोग करते हैं वह अर्थ का बोधक होना चाहिए।

यह कार्य पाँच वर्ष तक चला फिर भी कोश का तिहाई भाग भी पूरा न हो पाया। इस अनुभव के बाद, बैठक में प्रत्येक शब्द पर चर्चा की पद्धति छोडकर सदस्यों से आग्रह किया गया कि वे घर से ही पर्याय सुझाएं। यह काम भी सात-आठ वर्ष तक चला। तब भी वह काम दो तिहाई तक ही पहुँच पाया।

ऐसा क्यों होता है

इस कार्य में सबसे बड़ी दिक्कत यह होती है कि कोश के इस बृहत कार्य को सम्पन्न करने के योग्य अनुभवी लोग कम हैं। अंग्रेजी भाषा की शब्द सम्पत्ति बहुत विकसित है। हमारी भाषा इतनी विकसित नहीं है। यदि हो भी तो आस पास के कन्नड प्रदेश में अंग्रेजी पद के लिए कौन सा अंग्रेजी पर्याय है, यह बताने की विद्वत्ता की कमी है। शुरू के मण्डल के सदस्यों में भी बैठक में आकर मात्र कार्य-सूची की प्रति खोल कर देख लेने वाले लोग ही अधिक थे। उनमें अधिकांश कार्य के प्रति उदासीन थे। डॉ. शिवप्पा जैसे पहले से तैयारी करके आनेवालों की संख्या बहुत कम थी। इसलिए बैठक में ही चर्चा करके सही पर्याय खोजने पड़ते थे। इस विधि से कार्य के सम्पादन में तो विलम्ब होना ही था। बीच बीच में कुछ परिवर्तन भी होते रहे। कोश के काम से अनभिज्ञ लोगों के द्वारा ऐसा होना सम्भव भी था।

इस प्रकार कार्य के शुरू में अध्यक्ष का दिया आश्वासन कि काम तीन वर्ष में पूरा हो जायेगा झूठा रहा। अध्यक्ष महोदय भी कार्य की व्यापकता को समझे बगैर ही ऐसा आश्वासन दे बैठे थे। तेरह वर्ष तक इस पर काम करने पर भी कार्य पूरा न हो सका। स्वप्न देखने वाले और उसे मूर्त रूप में लानेवालों में कितना अन्तर होता है।

राजनैतिक वातावरण

यह दशक राजनैतिक दृष्टि से देश के लिए अत्यन्त कलुषित दशक था। इन्दिरा गाँधी के पदच्युत होने के बाद, जनता पक्ष अधिकार में आया। लोगों का विश्वास था कि ये ईमानदारी से और प्रभावशाली ढंग से राज्य का सचालन करेंगे, पर ऐसा नहीं हुआ। जनता पक्ष के प्रमुखों के दुरभिमान और दुराशा के फलस्वरूप यह स्वार्थ और कुतन्त्र की बलि हो गया। विविध पक्षों के शकुनि प्रभावशाली हो उठे। एक में सौ में पचास लोग प्रधानमन्त्री पद की ओर आँखें गड़ाने लगे। यही नहीं उनमें कुछेक वयोवृद्ध अपने आपको भीष्माचार्य के समान मेधावी और इच्छामरणी भी समझने लगे। उन प्रमुखों में भी कुछ ईमानदारों को

मैंने दूर से देखा है।

सरकार का आमन्त्रण

इस अवधि में केन्द्र सरकार के सूचनामन्त्री श्री अडवानी ने सिने-उद्योग के बारे में सरकार की क्या नीति होनी चाहिए, इसकी एक रूपरेखा बनाने के लिए एक समिति की स्थापना की। पता नहीं, किस कारण आपतकाल के बाद मेरा और उनका परिचय हुआ था। इसलिए उन्होंने मुझे उस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया। उस क्षेत्र से सम्बन्धित कुछ कलाविद और कुछ उद्योग विशेषज्ञों को सदस्य नियुक्त किया गया। सूचना मन्त्रालय के सचिव श्री शर्मा को उस समिति का कार्यनिर्वाहक नियुक्त किया गया। जब श्री अडवानी बैंगलूर आये तब मैं उनसे और सचिव महोदय से मिला और उनसे समिति के कार्य-कलापों की चर्चा की। उन्होंने मुझसे कहा, "एक वर्ष के भीतर जहां तक हो सके एक सर्व सम्मत रिपोर्ट तैयार कीजिए।" मैं उस क्षेत्र के लिए नया था। वह भार मेरी क्षमता से कुछ ज्यादा ही था परन्तु उसकी विविध समस्याओं से परिचित विशेषज्ञ उसमें अवश्य होंगे, इस विश्वास से मुझे उनकी बात स्वीकार करनी पड़ी। घर लौटते ही समिति की पहली बैठक बम्बई में बुलाने की विज्ञप्ति जारी की गयी। पहले यह निश्चय हो चुका था कि उसका कार्यालय बम्बई में ही होगा। तब तक पहले के सचिव बदल गये थे। उनकी जगह पर श्री कपूर की नियुक्ति हो चुकी थी। उन्होंने हमारे काम की सहायता के लिए आवश्यक सभी प्रशासनिक सुविधाएँ प्रदान की।

इसी प्रकार जनता सरकार ने 'फिल्म डिवीजन' के पुनरुज्जीवन के लिए एक समिति की नियुक्ति की थी। श्री हृषिकेश मुखर्जी उसके अध्यक्ष थे। मैंने तो अपनी समिति के सदस्यों को पहली बैठक की तिथि सूचित कर दी थी। पर इतने कुछ ही दिनों में जनता सरकार गिर गयी। उसके पतन के बाद उसके द्वारा नियोजित समितियों का क्या होगा, यह प्रश्न मुझे सताने लगा। मुझे लगा कि मुझे अपने अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दे देना चाहिए। तभी इन्दिरा सरकार के सूचनामन्त्री श्री वसन्त साठे ने फिल्म डिवीजन के लिए बनायी गयी समिति को रद्द कर दिया। इससे मेरा विचार और पक्का हो गया। पर तब तक मैंने अपनी समिति की पहली बैठक बुला ली थी। मैं सोच रहा था कि उसे भी रद्द कर दिया जाएगा। परन्तु जब मैं मन्त्री महोदय श्री साठे से मिला तो उन्होंने कहा, 'आप अपना काम जारी रखिए।" तभी मुझसे वह काम आगे बढ़ाना संभव हो सका।

जटिल समस्या

इस समिति का अध्यक्ष पद स्वीकार करते समय ही मैं जानता था कि काम

कितना जटिल है। उसमें कच्ची फिल्म के उत्पादन के प्रश्न से लेकर, चित्र बनाने, प्रदर्शन व्यापार, व्यवहार आदि समस्त प्रश्न जुड़े हुए थे। चल चित्रों के विभिन्न उद्देश्य, उनका वितरण, लाभ हानि, थियेटर, उनके खर्च आदि के प्रश्न भी जुड़े थे। साथ ही, आयात निर्यात कर आदि के प्रश्न भी उठते हैं।

इससे पहले श्री एस के पाटिल के नेतृत्व में एक रिपोर्ट तैयार हुई थी और उनके बाद श्री खोसला की अध्यक्षता में एक और रिपोर्ट तैयार हुई थी। वे दोनों रिपोर्ट हमारे सामने थीं। उनके द्वारा की गयी कई सिफारिशों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया था। इस विषयों की चर्चा करके एक सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार करना शायद संभव नहीं होगा—यह डर मुझे सता रहा था। जो भी हो, डेढ़ वर्ष की अवधि में आठ दस बैठकें करायी और उससे सम्बन्धित सारे विषय संग्रहीत करके परिशीलन किया।

समिति के एक दल ने सिने-उद्योग के और उसके प्रत्येक यन्त्रादिक के बारे में यदि स्वतन्त्र होना हो तो हमें क्या करना होगा—इस बारे में पूरी छानबीन की। सिनेमा को कला के रूप में विकसित होना चाहिए, उसके द्वारा जनता को शिक्षित करना, जनता को मनोरंजन प्रदान करना चाहिए आदि परस्पर विरोधी बातें भी उसमें थीं। सरकार के करों की नीति भी इसमें जुड़ी हुई थी यानी सरकार की आमदनी और उसके अधिकारों की सीमा के बारे में भी हमें सलाह देनी थी।

सदस्य

इस समिति के सदस्यों में अधिकांश लोग सिने क्षेत्र से सम्बन्धित ही थे। उनमें एस भी थे जो चलचित्र को एक उत्तम कला के रूप में विकसित करना चाहते थे। कुछेक ऐसे भी थे जिनका कहना था कि जिस चलचित्र से ज्यादा आमदनी होती है वही जनप्रिय चलचित्र होता है। कुछ लोग अपने स्वार्थ के ही आधार पर अपना तर्क प्रस्तुत कर रहे थे। उन में एकता लाना बड़ा कठिन था।

यदि सारी बातें कहने बैठूं तो एक पुराण ही बन जाएगा। यहाँ केवल एक दो प्रसंग ही रखे जा सकते हैं। उनमें श्याम बेनेगल और अडूर गोपाल कृष्ण जैसे कलानिष्ठ लोग थे, तो दूसरी ओर जनता के लिए मनोरंजन ही मुख्य है कहने-वाले रामानन्द सागर और बड़जात्या भी थे। इस उद्योग से सम्बन्धित प्रत्येक पहलू को देखना था। समिति के सदस्यों के अतिरिक्त, सिने-क्षेत्र से सम्बन्धित विशेषज्ञ, तकनीशियन, कलाकार, शिल्पक आदि से भी सलाह लेना थी। ऐसे विषय में कर्नाटक के भक्तवत्सलम जैसे वाक्-पटु और तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग बहुत कम मिले। जो भी हो, एक सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार हुई। उसमें किसी ने अपना विरोध नहीं उठाया। मैंने वह कांग्रेस सरकार के सूचना मन्त्री श्री वसन्त साठे को सौंप दी। तब जाकर मेरी जिम्मेदारी पूरी हुई। सरकार प्रायः ऐसी रिपोर्ट

तयार कराती रहती है। उन्ही के साथ इसे भी लम्बी अवधि तक दबाकर रख लिया जाय तो यह उसकी जिम्मेदारी है, मेरा दोष नही। मुझे इस काय म जिन सदस्यो और सरकार के अधिकारियो ने सहायता दी उन्हे मैं कभी नही भूल सकता। मैं सदा उनका आभारी रहूँगा।

इस क्षेत्र मे अपार धन खच होता है। वह आँखो को दीखता नही। ऐसा एक उदाहरण हमारी समिति ने प्रस्तुत किया। हमारे देश की जितनी फिल्म हर वप प्रयोग म लायी जाती हैं उससे साढे बारह करोड रुपय की विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सकती है—यह बात हमने अपनी रिपोट मे दिखायी थी, पर इस ओर सम्बन्धित मन्त्री और सरकार का ध्यान ही नही गया। इस तरह की एक बात ही अपनी सारी कहानी बता सकती है।

आगे

इस भार से मुक्त होकर गाव लौटने के बाद लिखने, पढने, या अपनी कोई-न-कोई इच्छा पूरी करने का अवकाश मिला। मैं अपने देश की राजनैतिक स्थिति देखकर निराश हो चुका था। उसे दर्शाने के लिए मैंने 'नावु कट्टिद स्वग' (हमारा बनाया स्वग) नाम से एक उपन्यास लिखा।

हागकाग से बुलावा

मेरे मित्र श्री हरिदास भट्ट ने मुझे बताया कि हमारी सरकार ने सास्कृतिक विभाग द्वारा उन्हे पता चला है कि हागकाग से हमारे यक्षगान को चार दिन के प्रदशन का आमन्त्रण मिला है। तत्काल सारी बात तो विस्तार से पता नही चली, फिर भी पहली बार हमारे केन्द्र के कलाकारो को देश से बाहर जाने का मौका मिल रहा है, सोचकर दो कथानक चुनकर तैयार करने पडे। हागकाग जाने आने का व्यय तो सास्कृतिक विभाग उठाएगा ही पर उसकी तैयारी, कलाकारो का वेतन उनके लिए आवश्यक वेषभूषा की सामग्री के लिए भी तो धन चाहिए था न? वह व्यय कौन वहन करेगा? इसकी चर्चा मैंने तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री देवराज अर्स से की। व तुरन्त उसकी व्यवस्था म लग गये।

वहाँ प्रदशन के लिए 'पचवटी' और 'अभिमन्यु-वध' दो कथानक चुनकर मैंने उनकी तैयारी करायी। जब अभ्यास चल रहा था, मेरे एक मित्र ने सुझाया, "इतने परिश्रम की आवश्यकता नही, उन्हे तो हमारी परम्परा का एक खेल चाहिए।"

अब तक मैं एक स्पष्ट उद्देश्य से परिश्रम करता आ रहा था। उनकी बात सुनकर मुझे आघात से अधिक विस्मय हुआ। मैंने सोचा अच्छी बात है मैं तो अपनी तरफ से पूरा परिश्रम किये देता हूँ, पर अब मैं वहाँ नही जाऊगा। मैंने यह

निश्चय कर लिया था, परन्तु तभी हांगकांग में हमारे भारतीय राजदूत के कार्यालय से तार आया कि आप यदि न आये तो बड़ी निराशा होगी। अन्तत मुझे अपने मित्रों के साथ जाना ही पड़ा।

वहां जाने पर यह पता चला कि वहां की हांगकांग कला संस्था ने हमें आमन्त्रित किया था। वहां के चीनियों ने भी हमारे प्रदर्शन की सराहना की।

हांगकांग में भारत के मित्र भी थे। उनका आतिथ्य और सौजन्य हम कभी नहीं भुला सकते। इसमें मैंने अनुभव किया कि दोनों ओर के लोग संतुष्ट हुए हैं यानी बुलानेवाले भी और बुलाये गये भी।

जापानियों की अभिरुचि

सन 1979 में 'जापान फाउण्डेशन' नाम की सांस्कृतिक संस्था ने भारतीय परम्परागत रंग माध्यम के अध्ययन के लिए कलाकारों का एक दल हमारे देश भेजा। पता चला कि उस दल में नृत्य गीत रंगमंच में अभिरुचि रखनेवाले और विशेषज्ञ भी थे। वे दिल्ली की संगीत नाटक अकादमी की सलाह पर भारत के अलग अलग प्रान्तों की कलाओं का अवलोकन करते हुए उडुपि भी आये। हमारे यक्षगान के द्रुम में भी आकर उन्होंने वहां का काम देखा। साथ ही व्यावसायिक यक्षगान का भी अध्ययन किया। उनके चित्र भी लिये। उडुपि में उस समय मेरी भी उनसे भेंट हुई थी। दूसरे वर्ष भी उसी संस्था ने एक बार फिर से यहां की कला का अध्ययन करने के लिए एक दूसरा दल भेजा। उन्होंने आस पास के सभी प्रकार के यक्षगान के प्रदर्शन देखे और उस विषय में सम्बन्धित अपेक्षित सामग्री संग्रह करके अपने देश लौटे। लौटने से पहले उन्होंने हमें उनके देश में यक्षगान के प्रदर्शन का आमन्त्रण दिया। उत्तर भारत के 'चौ' नाटक के दो दलों को भी आमन्त्रित किया था। नेपाल के महाकाली व्याख्यान के दल को भी आमन्त्रित किया गया था। इन तीनों दलों के प्रदर्शन में कहीं भी संवाद नहीं थे। 'चौ' मुखौटे पहन कर वाद्यों के पृष्ठ संगीत पर नृत्य करके प्रदर्शन करने की एक कला है। हमारे यक्षगान में हांगकांग में किये गये प्रदर्शनों के समान संवाद भी तो थे। पर वहां जाते समय हमें तैयारी के लिए सिर्फ चार दो दिन मिले। हम तो पूर्व प्रदर्शित नाटक ही वहां दिखाने थे अथवा हमारे कलाकार बड़े चतुर थे शायद इसीलिए इतनी कम तैयारी में प्रदर्शन हो पाया। उस तैयारी के समय मैंने संवाद से व्यक्त न हो पाने वाले कुछ अंशों को रंग लेखन द्वारा निरूपित किया था।

तो यह थी पन्द्रह दिन की जापान की यात्रा। हम अठारह आदमी जापान हो आये। इस यात्रा का व्यय यदि कर्नाटक सरकार न उठाती तो शायद हमें बहुत अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती।

जापान फाउण्डेशन

यह संस्था कला के लिए परिश्रम करनेवाली जापान की सबसे बड़ी संस्था है। उसे न केवल सरकार से मदद मिलती है अपितु व्यापारी संस्थाओं से भी सहायता प्राप्त होती है। साथ ही, विश्वविद्यालयों के कला विभागों के विशेषज्ञ भी अपना पूरा सहयोग देते हैं। उस संस्था ने हमारे यहाँ से चलने से पहले ही, हमारी अठारह दिन की यात्रा के प्रत्येक घण्टे का कार्यक्रम, कहाँ कहाँ जाना है यह विवरण, होटल आदि का निश्चय कर लिया था। उनकी व्यवस्था एकदम आश्चर्य जनक थी।

जापान पहुँचकर उनका देश छोड़ने तक उनके निदेशक, विशेषज्ञ और मार्ग दर्शक हमारे साथ ही बने रहे। उनकी व्यवस्था,आतिथ्य स्नेह समय की पाबन्दी कलाप्रेम—सभी बातें हमें आश्चर्यचकित करनेवाला एक अनुभव था।

गोष्ठियाँ

हमारे देश में भी विद्वानों और विशेषज्ञों की बहुतेरी गोष्ठियाँ होती हैं। उनमें अनेक विद्वानों को आमन्त्रित किया जाता है, पर सारे विद्वान गोष्ठी के आरम्भ में ही दिखायी पड़ते हैं, बाद में उनमें से अधिकांश गायब हो रहते हैं। जापान फाउण्डेशन द्वारा आयोजित उस गोष्ठी में उस संस्था के कार्यकर्ताओं के साथ विविध विश्वविद्यालयों से नाट्य रंगमंच, नृत्य संगीत, भाषा आदि से सम्बन्धित लगभग साठ विशेषज्ञ भी थे। वे लोग तीन दिन तक लगातार पाँच-छः घण्टे अपने आसन पर बैठे रहे, कार्यक्रम को बीच में छोड़कर नहीं गये। वे सब हर प्रसंग को ध्यान से सुनते थे और गहराई तथा बारीकी के प्रश्न भी पूछते थे। इससे उन्होंने यह अनुभव कराया कि यहाँ कला में आसक्ति रखनेवाले लोग भी हैं। मुझे तो यक्षगान के अनेक प्रात्यक्षिक प्रदर्शन के साथ भाषण देने का अवसर भी मिला। उसके अध्यक्ष श्री यामागूचि ओसावो मेरे वहाँ पहुँचने से पहले ही मेरा परिचय—मेरा कार्यक्षेत्र और मेरी कृतियों की जानकारी प्राप्त कर चुके थे। वे स्वयं अपने यहाँ के संगीत के विशेषज्ञ भी थे।

हमारे जापान पहुँचने के अगले दिन सुबह उन्होंने हमें वहाँ के सारे कार्यक्रमों का विवरण दे दिया। इतना ही नहीं, अब तक उनके द्वारा तैयार किया गया रंगीन चलचित्र भी देखने का हमें अवसर प्राप्त हो गया। हमारी ही तरह आमन्त्रित 'चो' और 'महाकाली' से सम्बन्धित सुन्दर वर्ण चित्र की एक प्रति भी उन्होंने हमें भेंट की।

सहयोग

वे हमें राज्यातिथि के रूप में प्रमुख नगरों में ले गये। वहाँ भी हमने अपने

खेल का प्रदशन किया। उनके सात आठ सहायक हमारे जापान पहुँचन से लेकर वहा से प्रस्थान करने तक हमारे सारे कायक्रम म सहायक रहे। व्यवस्था के इस दायित्व का उन्होने बडे प्रेम स निभाया। ऐसी कत्त व्य निष्ठा मुये अयत्र देखने का नही मिली।

जापान के प्रेक्षको ने हमारे प्रदशन बिना शोर मचाए, यहाँ तक कि बिना पलक धपकाए दखे यह तो अतिशयाक्ति न होगी।

हमने अपनी यात्रा के दौरान वहाँ के टोकियो, कणजावा, गीपू सफारो कोबे, ओसाका आदि नगर देखे। हम लोगा को वहा के सुदर रगमण्डपो मे अपने प्रदशन करने का अवसर प्राप्त हुआ। सन्देह नही कि जापानिया म कला की तृष्णा बहुत ऊँचे दर्जे की है।

अपन देश लौटने के कुछ माह बाद, हमारे प्रदशन के बार म उनका अभिप्राय मालूम हुआ। वह यह था कि जापान की रगभूमि की स स्था न सन 1981 मे हुए प्रदशना म हमारे प्रदशन को वष का श्रेष्ठ प्रदशन माना था।

वहाँ के लोग और प्रकृति-सौन्दय

लगभग तीन हजार मील की यात्रा मे हम वहा का प्राकृतिक सौन्दय देखकर बहुत आनन्दित हुए। उन्होने कणजावा का उद्यान, प्राचीन राजधानी क्यूतो का महल, स्वण मन्दिर आदि के दशन कराय। जापान की दस्तकारी और उद्योगा की सफलता उनका शिष्ट व्यवहार आदि की जितनी भी प्रशसा की जाय वह कम है। उनका पुरातन सस्कृति के प्रति माह हमन सफारो नगर म देखा। जब हम उस नगर मे पहुचे तब वहा शिन्टो मतावलम्बिया का एक बहुत बडा उत्सव चल रहा था। उम शाम जलूस मे सकडा शिन्टो मतावलम्बी भाग ल रहे थे। उनम राउत, पदाति, सवार, रथी वाद्यकार आदि विविध स्तर के पुरुषो को हमने देखा। उनकी वेष भूषा तीन सौ वष पुरानी सस्कृति का जीवन्त चित्र उपस्थित कर रही थी।

इस प्रकार हागकाग आट सोसाइटी और जापान फाउण्डेशन की कृपा से हम न केवल पौर्वात्य देशा के दशन हुए, अपितु हम एक अमिट स्मृति लकर लौटे। लौटते समय हम एक दिन थाईलण्ड की राजधानी बकाक का प्राचीन वैभव भी देखने का अवसर मिला।

अस्तु, बहुत दिनो से मेरे मन म अकुरित, पर सुप्त पडी, पूव देशा की यात्रा की लालसा मेरे प्रिय यक्षगान ने पूरी करा दी। देश लौटने क बाद मैंने उस यात्रा की स्मति के साथ अय पूर्वी दशा की स्मति मिलाकर पूव से अत्य पूव के नाम से एक प्रवास-लख लिखा।

अस्सी वर्ष पूरे हुए

स्वास्थ्य

प्रकृति की कृपा से आयु के वर्ष तो सराग भरत जात है, पर क्या जीवन भी भरता है ? वह भी भरता है पर काहे से ? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक मनुष्य को देना नही है ? उदरपूर्ति का सबध जिस प्रकार हर प्राणी से जुडा है, उसी प्रकार मानव के भी साथ है। उससे सम्बन्धित सुख दुःख किसी से छूट नही हैं। उसम एकदम हमारे वश से बाहर की बात है आरोग्य। वह अनियन्त्रित बाह्य कारणो से हम कगाल कर सकता है। हम स्वय देह के साथ अत्याचार करके कगाल हो सकते है। इस दृष्टि से कभी कभी मैं शारीरिक पीडा का शिकार हुआ हूँ, पर उससे मेरा जीवन खराब हुआ यह शिकायत नही कर सकता। जब मैंने साठ साल पूरे किये तब विचार आया 'भला अब कितने दिन और रहूँगा ?" फिर भी बिना प्रयास के अस्सी वर्ष पूरे गये। अब उसे भी पार कर गया। अब मुझसे पहले जैसा वह श्रम नही हो पा रहा है, पर मैंने अपना कोई क्रिया कलाप बन्द नही किया है। ऐसी स्थिति पदा भी नही हुई।

इस अवधि म मेरी सहचरी बन कर आयी पत्नी हाल के पच्चीस वर्षों स जो शारीरिक कष्ट उठा रही है उससे मुझे वास्तव म मानसिक दुःख रहा है। वह उसकी लापरवाही नही, बल्कि ऐसी कई अज्ञात चीजें हैं जो उसकी समझ के बाहर हैं। सही चिकित्सा न हो पाना भी सम्भवत इसका एक कारण है।

गृहस्थी

अब मेरे सारे बच्चे स्वतन्त्र हैं। व अपना-अपना साथी पा चुके हैं। अपनी अभिरुचि और प्रवृत्ति के अनुसार जीवन चला रहे हैं। उन्होंने अपने-अपने घर बना लिये हैं। अपनी वृत्ति स व तृप्त हैं। यह सच है कि उनका बचपन, जवानी मेरी गरीबी को बाँटते हुए बीता है उनके व दिन कष्ट म ही बीत हैं। आज मेरी स्थिति ऐसी है कि मैं उनका सहभागी बनकर खा सकता हूँ। मुझे इस स्थिति म लाने का श्रेय मेरे पाठको को, अभिमानियो को और भारतीय ज्ञानपीठ सस्था को

है। मैं उन सब के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

आस पास की जनता

मैं अपने आस पास के मित्रों को और दूर के दुखी लोगों को भी देखता चला आ रहा हूँ। जिन दिनों मेरे पास कुछ भी नहीं था, तब मैं अपनी शक्ति भर उनकी सहायता करता रहा हूँ। अब स्थिति ज्यादा सुविधाजनक है। थोड़े-बहुत पैसे देकर तृप्त होने की अपेक्षा, कष्ट में रहनेवाले मित्रों की कुछ अधिक ही सहायता करने का प्रयास करता हूँ। उसे सहायता कहना गलत है। क्या मैंने अपने पिता और कुछ मित्रों से सहायता नहीं पायी? उस ऋण को ऐसे कर्तव्यों से चुका रहा हूँ।

इतना ही पर्याप्त है

विदेशों के कलाकारों विद्वानों वैज्ञानिकों की साधनाएँ देखने के बाद मुझे अपने देश की बौद्धिक दरिद्रता अपार दिखायी देती है। इसे मैं दार्शनिक और धार्मिक दरिद्रता नहीं कह सकता। ऐसे तत्त्व हमारे पूर्वजों ने काफी मात्रा में हमें दहेज रूप में दिये हैं। उन्हें हम विदेशों में भी निर्यात कर रहे हैं। ऐसे निर्यात के लिए हमारी आध्यात्मिक सम्पत्ति के हिसाब है कह कर शायद हम अपनी आत्म-प्रवंचना में लगे हुए हैं।

मैंने कुछ और ही समझा था

मैं अपने चौथे दशक में 'बालप्रपंच' के साहसिक प्रयोग में नहीं कूदता, तो मेरा काम शायद साहित्य के निर्माण तक ही सीमित रहता और उसी में तृप्त रहता। कुछ नहीं तो थोड़ा बहुत रंगमंच पर भी काम कर लेता। इस 'बाल प्रपंच' के प्रयोग ने मुझे दुनिया के ज्ञान-प्रपंच को झाँककर देखने की दृष्टि दी। उसने उस भूख को पर्याप्त रूप से भड़काया। तब से अब तक चाहे मुझे अच्छी तरह समझ में आये या न आये मेरे ज्ञान की सीमा चाहे कितनी भी कम क्यों न हो, विविध विषयों से सम्बन्धित अंग्रेजी पुस्तकें मँगवाकर पढ़ता ही रहता हूँ। उस दृष्टि से जब तक जीऊँगा, ज्ञान प्राप्ति की लालसा बनी ही रहेगी। यह कहाँ तृप्त होगी? मैं सदा ऐसा एक विद्यार्थी ही बना रहूँगा। प्रत्येक क्षेत्र में जो खोजें हो रही हैं और जो ज्ञानवृद्धि हो रही है वह मुझे आश्चर्य में डाल देती है। विदेशों में एक नहीं हजारों विशेषज्ञ अथक परिश्रम कर रहे हैं। यह विश्व क्या है? इस विश्व के लोग कैसे हैं? यह विश्व कैसे आगे बढ़ रहा है? इस बारे में उनके काम को देखता हूँ तो मुझे अपने यहाँ का ज्ञान दारिद्र्य याद आ जाता है। उसमें भी कन्नड़ को एक मात्र विचार विनिमय का साधन रखनेवाली मेरी कर्नाटकी जनता की

याद हो ही आती है। तब मुझे लगता है कि यदि अपना प्राप्त ज्ञान उनकी समझ मे आनवाली भाषा मे न बताऊँ तो मेरा यह एक अपराध होगा।

साहित्य के द्वारा मेरा काम कुछ और ही प्रकार का है। मेरा इतना भ्रमण उसके लिए तनिक भी पर्याप्त नही। लगता है मेरे अनुभव भी बहुत सीमित हैं। क्योकि हम अनिवाय रूप स जो अनुभव होते है व एक प्रकार क है और उनका मुकाबला करने का ढग दूसरे प्रकार का है। इस तरह अपने और पराय अनुभवो को समझ पाना अत्यन्त कठिन काय है। उसके लिए अवसर तो मिलते ह लकिन इतने नही जितने कि हम चाहते ह। उन्हे समझना भी इतना सरल नही। हमारे अति निकट के मित्र अथवा बन्धुओ के शील और अनुभवो का यदि हम थोडे समय को मान लें कि हमने समझ लिया फिर भी जीवन मे उनक सम्पर्क की अवधि बहुत दूर तक नही चलती। इसलिए हमारे सामने आनेवाले चित्र टुकडा टुकडा म होते हैं। वे परस्पर असम्बद्ध दृश्य होते है। फिर भी उन्ही पर विश्वास करके, दूसरो के अनुभवो के भागीदार बनकर अपन मनोधम के प्रयोजन के लिए साहित्य के हेतु उन्हे प्रयोग मे लाया जा सकता है। ऐसा काम म यथाशक्ति करता चला आ रहा हूँ। ऐसी रचनाओ पर हुइ समीक्षाएँ भी मैंने पढी हैं।

बस मैं दूसरो के अनुभव तथा व्यवहारो के वास्तविक चित्रण ही दू तो क्या पर्याप्त रहेगा? मैं जैसा उन्हे समझ पाता हू मेरे पाठको को भी बस ही समझ म आयें इस प्रकार लिखना नही चाहिए? यह समस्या भी मेरे सामने है। जब जब भी मैंने ऐसे प्रयत्न किये तब-तब लोगो का यह आक्षेप सुना कि कारन्त क अपने विचारो का भार उपन्यास की कलात्मकता के लिए एक दाप है। मेरे पाठको को कलादृष्टि का प्रमाणन अथवा महत्ता न दीखने पर भी मेरे द्वारा बिम्बित अनुभव पर विचारो का प्रकाश पडे तो कसा रहेगा—यह समझ पैदा करने का भी मैंने प्रयास किया है, भले ही इस पर 'यह उपन्यास नही निब ध है' यह टीका रही हो। मेरा प्रयत्न जीवन का अनुभव और उसका विश्लेषण होता है। उस विश्लेषण से कौन सा अथ निकलता है? मैंने कुछ ऐसे अंग्रेजी उपन्यास भी पढे है। एनरण्ड का 'एटलस श्रग्ड' म ऐसा ही एक निदशन दिखायी देता है। उसकी विस्मृति और विषय अलग होने पर भी विषय से सम्बन्धित सारी और विचार प्रणालियो को प्रस्तुत करने की रीति उसकी है। इसस यह समझने का कोई कारण नही कि यह समीक्षको का कोई आक्षेप है। कुछ पाठको का भी ऐसा लगा है।

▪

कर्नाटक से बाहर भी

अगर यह कहू तो गलत न होगा कि मेरे विचार और क्रियाकलाप का क्षेत्र कर्नाटक ही रहा आया। साहित्य से सम्बन्धित अथवा शिक्षा से सम्बन्धित कुछ

गोष्ठियो मे भाग लेने के लिए मैं कर्नाटक सीमा से बाहर भी गया था। मेरे उपन्यासो के अनुवादो से अथवा मेरे बारे म लिखे गये लेखो के कारण मुझे बाहर के लोग निमन्त्रित भी करते थे। एक बार मुझ कर्नाटक के दक्षिण केरल से निम त्रण आया। गत दशक म एक बार त्रिचूर की साहित्य अकादमी ने मुझे निमन्त्रित किया था। और एक बार, शायद ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने के कारण, अखिल भारतीय आथर्स गिल्ड न त्रिव द्रम म आयोजित वार्षिक सम्मेलन मे मुझे अध्यक्ष चुना था। उस सभा म एक विशिष्ट काय के लिए आये जनता पार्टी के शासन काल के प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी दसाइ से मिलने का अवसर भी मिला। उन बारे म मुझे कुछ कहना नही है। व गांधीदशन के एकमात्र प्रतिनिधि समझे जात है पर तु उनके बारे मे मुझे पहले स ही कोई उत्साह नही था। जनता सरकार क पतन के लिए जसे चरणसिंह राजनारायण आदि नेता कारण बने वैसे ये भी एक कारण रहे, मेरा यही विचार है। मुझे लगता है कि हमारे बुजुग राजनतिक नेताओं ने अपने म बडप्पन का कोई गुण दिखाया नही।

कम्यूनिज्म का प्रभाव

आपत्कालीन स्थिति मे और उसस पहले भी मैं एक बार केरल हो आया था। केरल के एक देशाभिमानी दल ने जनता मे साहित्य प्रचार प्रसार तथा अध्ययन की अभिरुचि बढाने की दृष्टि से एक सुगठित सम्मेलन एर्नाकुलम् मे आयोजित किया। उसके एक प्रतिनिधि ने मरे गाव सालिग्राम आकर मुझे उस सम्मेलन के उदघाटन के लिए आग्रहपूवक निमन्त्रित किया था, इसलिए मुझे वहाँ जाना पडा था। केरल के उत्तर दक्षिण स लगभग पचास प्रतिनिधि वहाँ एकत्रित हुए थ। व साहित्य प्रचार को उद्देश्य बनाकर गाँव गाँव मे अपन सिद्धान्तो का प्रचार कर रहे हैं—मैंने यह पहले सुन रखा था। मैंने अनुभव किया कि सी० पी० एम० के नता श्री नम्बूदरीपाद का उस काय मे महत्वपूण स्थान है। मुझे आमन्त्रित करनेवाले बुजुग ने बताया कि जिस होटल मे मैं ठहरा था वही आकर श्री नम्बूदरीपाद मुझ से स्वय मिलेंगे। इसस मुझे जरा आश्चय भी हुआ। मैंने उनके सम्मेलन का उदघाटन करते हुए कहा 'मैं किसी वाद को लेकर नही लिखता। मैं अपने अनुभवो और आत्म साक्षी से बद्ध हूँ।' पर तु उनके सारे कायक्रमो पर कम्युनिज्म की ही छाप थी। वहाँ जाते ही सयोजको ने श्री नम्बूदरी पाद से मेरा परिचय कराया। आगे जसा मैंने सोचा था मेरी उनकी भेंट न हो सकी, उसका कारण शायद मेरा भाषण ही था। वहाँ मुझे जो बात सबसे ज्यादा पसन्द आयी वह थी कि उन्होंने साहित्य के द्वारा अपने राजनतिक सिद्धान्तो का प्रचार करके प्रान्त के कोने कोने म जागति पैदा कर दी थी।

विज्ञान और कम्युनिज्म

और एक बार ऐसे ही एक और सम्मेलन मे गया था। वह बाल साहित्य से सम्बन्धित था। वह कालडी नाम के स्थान पर सम्पन्न हुआ था। मैने सुना था कि कालडी शकराचार्य की जन्म भूमि है इसलिए वहाँ जाने का कुतूहल भी था। वहाँ जाकर मैंने विविध प्रदर्शन और चर्चाओ मे भाग लिया। उस सम्मेलन में आरम्भ मे कई मन्त्रियो ने भी हिस्सा लिया। हम चाहे कैसे ही सम्मेलन क्यो न करें मन्त्री, महामन्त्रियो को बुलाकर उनसे भाषण कराकर लाभ उठाने की भावना कर्नाटक मे भी है, वही बात मैंने केरल मे भी देखी। स्वय को साहित्यकार समझनेवाले भी उन काल्पनिक दाताओ पर साहित्य की निष्ठा से अधिक भक्ति दिखाये बिना नही रहते। इसी के कार्यकर्ता विज्ञान से सम्बन्धित पत्रिका चला रहे थे, पुस्तकें प्रकाशित कर रहे थे। उसे देख कर मुझे लगा कि इस क्षेत्र मे आधुनिक इगलण्ड और अमेरिका कितने प्रकार का आवश्यक साहित्य ला रहे हैं उसे देखे बिना ही और देखने की कोई इच्छा भी न रखते हुए लडखडाकर कदम रखने की हमारी प्रवृत्ति है। बाद मे, वहा आये लोगो से चर्चा करने पर पता चला कि उन्हें विज्ञान की आवश्यकता केवल अपने कम्युनिज्म के प्रचार के लिए है। उसी के लिए वे यह सब कर रहे थे। विज्ञान का मुद्दा न होने पर भी उसके बहाने कम्युनिज्म का प्रचार उनका मुख्य उद्देश्य था। इस प्रवास के बाद भी केरल की कुछ अन्य सस्थाओ के बुलाने पर मैं और दो तीन बार वहाँ हो आया था।

महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन

महाराष्ट्र उत्तर की ओर हमारा पडोसी प्रान्त है। उसने आधुनिक साहित्य मे काफी नाम अर्जित किया है। भाषावार प्रान्तो के निर्माण के बाद, पुराने बम्बई के प्रशासन के अन्तर्गत मराठी जानने वाले सारे इलाके और पुराने हैदराबाद और आस-पास के छोटे मोटे राज्यो के अधीन मराठी बोलनेवाले हिस्से उसमे मिल गये। गुजरात से अलग होने के बाद भी वह प्रान्त एक बृहद महाराष्ट्र के रूप मे उभर कर आया। वहाँ वर्षों से साहित्य-सम्मेलन का आयोजन होता आ रहा है। आपतकाल की स्थिति मे भी वहाँ साहित्य सम्मेलन हुआ। उसमे दुर्गाबाई भागवत जैसी साहसी साहित्यकार महिला ने उस समय की राजनैतिक गुडागर्दी का विरोध किया था, भले ही उसके परिणामस्वरूप उसे जेल जाना पडा था। साहित्य सम्मेलन का एक आयोजन सन 1980 मे शोलापुर जिले मे बार्सी मे भी हुआ था। बार्सी के तीन चार प्रमुख सालिग्राम मे मेरे घर आये और मुझे उस साहित्य-सम्मेलन का उदघाटन करने का आमन्त्रण दिया। उनकी बात से मुझे आश्चर्य हुआ। 'बाहर का एक साहित्यकार उनकी भाषा के साहित्य सम्मेलन का उद्घाटन करे' मुझे उनका यह विचार बडा उदार लगा। उस वर्ष के फरवरी

मास म मैं अपने फिल्म कमीशन का काम पूरा करके, बम्बइ स बेलगाव होता हुआ बार्सी पहुँचा। बार्सी एक जमान म एक कन्नड प्रदेश था। मुझे अपने घर मे ठहरानेवाल सज्जन किसी जमाने म सिर्सी मे व्यापार के लिए बार्सी म जाकर बस गय थ। व 'काश्यपी' घराने के थे। उस सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए पूना से एक विद्वान आय हुए थे। एक मन्त्री महोदय भी उस अवसर पर आय थे। उन्होंने पहले से ही मेरा भाषण मगवाकर उसका मराठी म अनुवाद करके प्रतिनिधियो म बाँट दिया था। उसम मैंने क्या क्या कहा था यह तो मुझे याद नही, पर सम्मेलन क अधिकारियो न मेरे बारे मे जो आदर और सम्मान व्यक्त किया वह चिरस्मरणीय रहगा। उस समय के मेरे भाषण का सार महाराष्ट्र की सभी प्रमुख पत्रिकाओ म आया था।

वहा मुझे सबस अधिक आकर्षित करनेवाली चीज थी उन लोगो का काव्य-पाठ क प्रति मोह। जिस दिन मैं गया था उस रात और दूसर दिन भी शाम क आठ बजे स रात क दो बजे तक कुन्न म कवियो न, भले ही उनका गला बढिया रहा हो या न रहा हो काव्य पाठ करक लोगो का मनोरजन किया।

सगीत

यह भी मेरे प्रा त के बाहर का अनुभव ह इसलिए बता रहा हू। कर्नाटक से बाहर जान पर मुझे सदा अग्रेजी म बोलना पडता ह। ऐसा ही एक अवसर आया। बम्बइ आकाशवाणी क सगीत निर्देशक मगेश नाडकर्णी स मेरा तब स परिचय था जब व नैनीताल म अध्यापक थ। बाद म व बम्बई आकाशवाणी म चल आये। एक दिन उन्होंन आग्रहपूर्वक मुझस कहा, 'बम्बई विश्वविद्यालय क म्यूजिक सकल' क सदस्यो के सामने हम आपका एक भाषण कराना चाहते है।' उनके इस प्रस्ताव के पीछे क्या उद्देश्य था यह मुझे पता नही चला। उसम अधिक सदस्य नहीं रहे होग। उस दिन के लिए उन सगीत प्रेमियो का ही एक विषय मैंन चुना। वह विषय था— सगीत का प्रवाह और लय'। मैंने यह विषय पत्र द्वारा अपने मित्र को सूचित कर दिया और निश्चित दिन बम्बई पहुचकर एक दो सहयोगियो को साथ ल उस बठक म उपस्थित हो गया। मेरी इच्छा अनुसार मुझे रागो की याद दिलाने को उन्होंन मुझे एक वादक की सहायता की व्यवस्था की। उसम कवल बीस-तीस श्रोता रह होगे। मुझे यह पता नही कि व सगीतज्ञ थ या सगीत क रसिक। उन लोगो के सामन, जो जानता था मैं उसी को सगीत मान कर व्याख्यान देने लगा। उस भाषण न कहकर निदर्शन कहना चाहिए। आरम्भ म मैंने साहित्य रहित नाद सचार के बार म निदर्शन देत हुए एक समय अपने 'नदी दर्शन' म कल्पित आँधी की कल्पना मुलतानी राग म आलाप लकर दिखायी। बाद म अपनी परिचित तीन चार हिन्दुस्तानी चीजो का उदाहरण दकर यह

बताया कि गीत प्रबन्ध के साथ उनका क्या सम्बन्ध है। उसके बाद, कन्नड के भी दो-तीन उदाहरण दिये। उन गीतों के साहित्यिक अर्थ बताकर, उनमें गीत-सचार और भाव मे किस तरह का सन्तुलन है यह समझाया। मेरा यह व्याख्यान लगभग एक घण्टे तक चला। बैठक की समाप्ति पर जब बाहर आया तो मुझे पता चला कि वहाँ एकत्रित सभी व्यक्ति सगीतशास्त्र के ममज्ञ थे। व लोग सगीत के बारे मे मुझसे सौगुना अधिक जानते थे। कुछ दिन बाद कला-समीक्षक श्री ध्यानेश नाडकर्णी ने अँग्रेजी की एक पत्रिका मे मेरे उस भाषण की चर्चा करते हुए उसकी बडी प्रशसा की। मेरे किसी एक मित्र ने मुझे वह पत्रिका दिखायी। मैंने सोचा, चलो जान बच गयी।

बडौदा में

इस घटना के एक वर्ष बाद बडौदा विश्वविद्यालय ने मुझे भाषणमाला के अन्तर्गत तीन भाषण देने को आमन्त्रित किया। एक भाषण मे मैंने अपने मे विकसित साहित्यिक दृष्टि के विषय मे चर्चा की। दूसरे भाषण मे 'सगीत का प्रवाह और अर्थ' पर मेरा अपना चिन्तन था। तीसरे मे टेप की सहायता से यक्ष-गान के सगीत की चर्चा की। मुझे पता था कि बडौदा की भाषा गुजराती है। मेरे मित्रों ने वहाँ के दक्षिण के विद्वानों और हिन्दी के विद्वानों से मेरा परिचय कराया।

अगले वर्ष गुजरात विश्वविद्यालय के एक विभाग वालों ने कन्नड साहित्य के बारे मे भाषण देने को मुझे और डॉ० अनन्तमूर्ति को आमन्त्रित किया। वहाँ भी मैंने साहित्य प्रेमी श्रोताओं के सामने एक भाषण दिया। उस अवसर पर वहाँ के कवि श्रेष्ठ श्री उमाशकर जोशी ने उस सगोष्ठी की अध्यक्षता की जिससे मुझे और भी सन्तोष हुआ।

आन्ध्र में

आन्ध्र प्रदेश का एक साहित्य-सम्मेलन वारगल मे सम्पन्न हुआ। मेरा तेलुगु क्षेत्र का अनुभव बहुत कम था, एकदम नही था कहूँ तो गलत न होगा। बहुत पहले यानी निजाम के शासन के समय जब मैं हैदराबाद गया था तब वहाँ के कुछ कन्नड भाषी लोगो से परिचय हुआ था। सन् 1926 से पहले अपनी मासिक पत्रिका 'वसन्त' के लिए वहाँ गया था। तब कन्नड प्रदेश का भाग कोप्पल हैदराबाद के निजाम के अधीन था। वहाँ के कन्नडवाले अपनी भाषा की रक्षा के लिए बहुत समय से सघर्ष कर रहे थे। हैदराबाद के प्रमुख श्री बी जो चिम्मलिगी और श्री भीमसेनराय की, जो अब नहीं रहे, आज भी मुझे याद है। उनके द्वारा वहाँ की कन्नड जनता द्वारा स्थापित नूतन ग विद्यालय, निजाम कॉलेज, उस्मा

निया कॉलेज आदि स्थानों पर मैंने भाषण दिये थे। लेकिन अब का निम त्रण ऐसा नही था। अब हैदराबाद आ ध्र की राजधानी है, अब वहाँ के साहित्य-ब धुओ द्वारा आयोजित एक भाषा सम्मेलन के उद घाटन के लिए जाना था।

पहले जब एक बार गया था तो हैदराबाद से नब्बे मील दूर वारगल भी गया था। यह नगर पूवकाल मे चालुक्यो की राजधानी रहा आया। उस यात्रा मे मैं मल्लिक काफूर द्वारा विध्वस्त म दिरो और अ य अवशेषो को देखकर लौटा था। इस बार का कायक्रम ऐसा न था, इस बार मैं साहित्य स गोष्ठी के लिए गया था। मई मास होने से 110 फारेनहाइट गर्मी पड रही थी। वहा एकत्रित, तेलुगु भाषा के लिए काम करनेवाले तीन चार सौ तेलुगु भाषियो के सामने मैंने भाषण दिया।

तमिलवालो का बुलावा

करीब तीन वष पूव मद्रास म 'चिदम्बर चेट्टियार ट्रस्ट' ने अपने वार्षिक पुरस्कार समारोह म मुझे निम त्रित किया था। नाटक, कहानिया उप यास आदि साहित्यिक विधाओ पर वे प्रतिवष पुरस्कार देते है। उस पुरस्कार को एक साहित्यकार के हाथ से दिलाने के विचार से उ होने मुझे आम त्रित किया था। मेरी बेटी मद्रास मे ही है। उससे मिलने मैं साल मे एक बार जाता ही रहता हूँ। फिर भी तमिल लेखको से मेरा घनिष्ट परिचय नही था। इस बार मैं ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता श्री अखिलन के घर भी गया। वयोवृद्ध सशोधक श्री त्रिविक्रम का दशनलाभ भी हुआ।

कलिग देश

इसी प्रकार सन 1981 मे उडिया के प्रमुख उद्योगी पण्डा दम्पती न उडिया भाषा के साहित्यकारो के सम्मान और पुरस्कार के अवसर मुझे भुवनेश्वर बुलाया था। तब वहाँ के साहित्यकारो, पत्रकारो से परिचय और स्नेह प्राप्त करन का सुअवसर प्राप्त हुआ। वहाँ के प्राच्य वास्तु-सग्रहालय के क्यूरेटर श्री नीलमणि मिश्र ने मेरे मूकज्जी उप यास का हि दी से उडिया म अनुवाद किया था।

इन सब बातो को याद करत समय, तीन दशक पूव मुझे कलकत्ता प्रवास की बात याद आ रही है। राजपूताने के आबू पवत से असम के बराम ग्राम तक यात्रा की थी तब। तब मैं कलकत्ता म नेशनल लाइब्रेरी के प्रमुख डा केशवन के घर ठहरा था। पहले व मैसूर महाराजा कॉलेज म अग्रेजी के प्राध्यापक रह आय। जब मैं कलकत्ता गया तब वे नेशनल लाइब्रेरी के निदेशक पद पर थ। आगे भी उन्होने इस क्षेत्र म बहुत काम किया और ख्याति अर्जित की है। कलकत्ता म हि दी

साहित्यकारो का दल मुझे अपनी सस्था मे ले गया था। उन्होंने यह कहते हुए, कि आगे चलकर हिन्दी भाषा सारे देश की भाषा बननी हो तो सब को उसे सीखना चाहिए, उसके लिए काम करना चाहिए मुझसे भी उस की अपेक्षा की। उन्होंने कहा, 'कारन्तजी आगे से राष्ट्रभाषा हिन्दी मे ही लिखेंगे।" तब मैंने कहा, "मुझसे ऐसी अपेक्षा बिलकुल ही नही रखियेगा। मेरी मातभाषा कन्नड है, मैं अपना सुख दुख उसी म व्यक्त कर सकता हूँ।" यही प्रवत्ति मैंने तेहरान म युनेस्को सभा मे प्रतिनिधि के रूप म आये डॉ शर्मा मे देखी थी। वे हिन्दी भाषा के कट्टर अभिमानी थे। यह बात नही कि मैंने हिन्दी नही सीखी। जब मैं मगलूर म विद्यार्थी था तब वहाँ के आय समाज के प्रचारक से हिन्दी सीखी थी। वह मुझे बहुत आसान लगी थी। उसम 'ऐसे' 'कसे' आदि कुछ शब्द छोडकर अन्य सारे शब्द सस्कृत के ही है। जो भी हो, व वैदिक धम के प्रचारक स्वामी दयानन्द के शिष्य थे न! सस्कृत शब्दो मे हिन्दी का प्रत्यय लगाकर उन्होंने अपनी भाषा का निमाण किया। शायद इसलिए महात्मा गांधी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा 'हिन्दुस्तानी' होनी चाहिए। उसमे उर्दू और अरबी शब्दा का प्रयोग भी होता है। उनके समय के बाद उत्तरापथ मे यह भावना जोर पकडने लगी कि समस्त भारत की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। पहले के प्रशासकों की भाषा को उखाड देने पर ही यह हो सकता है। इस विवाद म कन्नड वालो ने विशेष भाग नही लिया पर तमिलवाले तो कट्टर विरोधी बन गये। वह विरोध केवल हिन्दी तक ही सीमित नही रहा, आर्यों द्वारा भारत मे लायी सस्कृति तक को भी उखाडकर फेंक देने का उनका प्रयास है। वे सब कुछ शुद्ध तमिल म ही कहना चाहते हैं। साथ ही उन्हे ऑल इण्डिया रेडियो ही पसन्द है, आकाशवाणी शब्द सुनना ही नही चाहते।

खर, हमारे यहाँ लोगो का भाषा व्यामोह अद्भुत है। लगता है, प्रत्येक प्रान्तवासी मे यह भाव कूट-कूट कर भरा है कि वह अपनी क्षेत्रीय भाषा से ही सब कुछ साध सकता है। अपने भाषणो मे भी हम वही रट लगाए जात हैं। पर काय रूप मे उसे परिणत नही करते। लगता है, साहित्य को छोडकर देसी भाषाओ म आधुनिक ज्ञान के क्षेत्र की हवा तक नही लगी। यदि वह प्रयत्न किया जाता तो भारत की आज की स्थिति मे, हमारी योग्यता और हमारे परिश्रम से हमारी प्रान्तीय भाषाएं अंग्रेजी का स्थान लेने के कितनी योग्य हो गयी होती! हम यह भी समझ जाते कि केवल अभिमान से ही जीवन नही जिया जा सकता, भले ही सस्कृत हो या तमिल, या तमिल मूल की अन्य भाषाएँ, वे सब इसी देश मे जन्मी और विकसित हुई हैं। इन दोनो भाषाओ की जननी भारत मे द्रविडों और आर्यों से आयी, यह तो सत्य है ही।

'हिंदी राज्य में

मध्य प्रदेश हिन्दी भाषी प्रांत है। 1983 के आरम्भ में जबलपुर विश्व विद्यालय ने अपने पच्चीस वर्ष पूरे होने का समारोह आयोजित किया। उसमें उन्होंने ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता सात आठ साहित्यकारों को आमन्त्रित कर उन्हें डाक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया। उसमें कन्नड भाषा वाला मैं भी था। गुजराती भाषी भाई उमाशंकर जोशी भी थे। बंगाली और असमी के साहित्यकार भी आमन्त्रित थे। दिल्ली से पंजाबी कवयित्री और लेखिका अमृता प्रीतम भी आयी थी। मैं समझता हूँ कि एक हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालय ने दूसरी भाषा वालों को आमन्त्रित कर सम्मानित किया जो एक बड़प्पन का लक्षण है। वहाँ चार पाँच दिन रहा और खूब हिन्दी सुनी। कुछ पल्ले पड़ी और कुछ नहीं भी पड़ी। मैं तो उनसे अंग्रेजी में ही बात कर रहा था। उसे उन्होंने खूब पसन्द भी किया। उसमें भाषा आड़े नहीं आयी।

जब तक जीयें

अविस्मरणीय

यह मेरे जीवन का अंतिम पहर होने से आयु, बुढ़ापा, मृत्यु की याद करने का समय तो है ही। ये यादें ही जीवन की विकृत इच्छाओं की सही लगाम होती हैं। बुढ़ापा आने पर भी मानव की अभिलाषाएँ, इच्छाएँ समाप्त नहीं होती हैं। और की इच्छा करने पर जो मिलता है उससे संतुष्ट न होने वाले जीव भी हैं, तृप्त होने वाले जीव भी हैं।

डी वी गुण्डप्पा

मेरे जीवन में कुछ ऐसे लोग अवश्य आये हैं, जो मेरे जीवन के मार्ग में सहायक हुए हैं, जिनसे मैंने प्रेरणा और स्नेह पाया है, संतोष का अनुभव किया है। ऐसे लोग मुझसे आयु में बड़े भी हैं और छोटे भी। यह लिखते समय हमसे सदा के लिए दूर हो गए कुछ लोगों को यहाँ स्मरण किया जा रहा है। उनमें वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध श्री डी वी गुण्डप्पा एक हैं। उनके और मेरे दृष्टिकोण, अभिरुचि और आदर्शों में भले ही कितना ही अंतर क्यों न रहा हो, उनके स्वतन्त्र और प्रामाणिक जीवन को मैं कभी भूल नहीं सकता। उन्होंने मुझे जो स्नेह और आदर दिया वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा। मुझे आशा है कि जनता में प्रजातन्त्र और संस्कृति के तत्त्व को समझाने के लिए उनके द्वारा बनाया गया 'गोखले विचार मंच' उनके आदर्शों को आगे भी जारी रखेगा।

दिनकर देसाई

भारत के महान व्यक्तियों में एक, श्री गोपालकृष्ण गोखले के आदर्शों से आकर्षित होनेवाले उत्तर कन्नड़ जिले के दिनकर देसाई मेरे दूसरे एक मित्र थे। अपने यौवन के दिनों में जब मैं उत्तर कन्नड़ जिले की शालाओं, कॉलेजों में घूम रहा था, मुझे उनका परिचय प्राप्त हुआ था। बाद में वे सर्वेंट सोसायटी ऑफ 'इण्डिया' के सदस्य बन गये थे। उन्होंने उत्तर कन्नड़ जिले में आर्थिक और बौद्धिक विकास के लिए कई शैक्षणिक संस्थाएं स्थापित कीं। वे आरम्भ से ही परिश्रम और

प्रामाणिकता से अपना काम चलाते आ रहे थे। अंतिम बार उनके दर्शन उन्ही के द्वारा स्थापित अकोले के 'गोखले कालेज' के परिसर म हुए। तब तक उनकी देह दुबल हो चुकी थी और दृष्टि भी म द हो गयी थी। हम अपने जीवन के व्यग्य को उनके चुटक सकलन म पढ सकते हैं। उत्तर कन्नड जिले म नदिया तक चलने वाली उनक द्वारा स्थापित अनेक शक्षणिक सस्थाएँ उनकी देन हैं।

9405 / 3 4 87.

अनन्तकृष्ण शर्मा

दिवगत श्री अनन्तकृष्ण शर्मा मसूर मे रहते थ। मेरे मन म उनकी याद चिरकाल तक रहेगी। वे सगीत और साहित्य के महान पण्डित थे। उस साहित्यकार मे गव की गध भी नही थी। वे बडे साफ-सुथरे व्यक्ति थे। जब मैं अपने देश के पूवजो की ज्ञाननिष्ठा, विद्वत्ता और सादगीपूर्ण जीवन को याद करता हू तब मेरी आखो के सामने यह आदश व्यक्तित्व आकर खडा हो जाता है।

राजरत्नम्

आयु मे मुझसे जरा छोटे तथा अपनी कृतियो और साहसिक जीवन से आधुनिक क नड साहित्यकारो मे अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के थ श्री जी वी राजरत्नम्। वे निष्ठा, प्रामाणिकता और आत्मविश्वास की मूर्ति थे। बिना श्रम और चि तन के वे कभी चुपचाप नही बठते थ। उनके निधन पर उनकी याद मे मैंने पत्रिका मे एक लेख लिखा था। तब कर्नाटक के एक साहित्यकार ने मुझे एक पत्र लिखा था, 'आपके द्वारा ऐसे लोगो की प्रशसा कुछ अच्छी नही।' उस आलोचक का मन कितना निम्नकोटि का है, यह इतने से ही स्पष्ट हो जाता है।

स्वामी वी जी एल

मुझसे काफी छोटे अपने विद्यार्थी जीवन से ही मेरे परिचित श्री डी वी जी के पुत्र वी जी एल स्वामीजी को मैंने अपनी आँखो के सामने बडे होते देखा। अपने प्रिय विषय सस्य शास्त्र के बारे मे उन्होने पर्याप्त अनुसधान किया था। उस शास्त्र को नीरस कहकर पढनेवालो को वे "अरे, आपको उसमे रस दिखायी नही देता?" कहते थे। उनका मन भी वसा ही उदार था। ऐसे अच्छे व्यवहार और स्नेहशील व्यक्ति का जीवन अपने छठे दशक मे ही समाप्त हो गया यह देख कर मुझे अत्यन्त दुख हुआ।

सजीवराय

यस तो मेरे परिचित बहुत कम हैं जिनके बारे म मुझे याद करके लिखना

है। उनमे मूडबिद्रि के श्री सजीवराय एक थे, जो आयु म मुझसे छोटे थे। वे पण्डित या साहित्यकार नही थे एकदम सामान्य व्यक्ति थे जो बम्बई के क नड वाला म घुलमिल गये थे। परन्तु उनके समान उदारता, परोपकार और त्याग बहुत कम लोगो मे पाया जाता है। मूडबिद्रि के लोग उन्हे जानते हैं। मेरे प्रति उन्होने जो विश्वास और गौरव दिखाया तथा मेरे कार्यों म उन्होने जो सहयोग दिया वह बडा महत्त्वपूर्ण था। इस दृष्टि से मैं उन्ह दिवगत मोलवल्लि शिवराय की पक्ति मे रखता हूँ।

ये सभी महानुभाव एक एक दृष्टि से हमारे जीवन के आदर्श बन सकते है। वे अब नही हैं, हम भी नही रहेगे। शेष रह जाता है केवल जीवन का प्रवाह। उस प्रवाह के भँवर मे फँसे हम लोगो को अपना जीवन सुधारने मे ऐसे महापुरुषो के जीवन सहायक हो सकते हैं।

कभी समाप्त न होनेवाला काम

तीसरे दशक से ही मैं रगमच से प्रभावित होकर कई प्रकार के प्रयोग करता आ रहा हूँ। इसका मुख्य कारण इसका आकर्षण है। उसकी सभावनाओ और असभावनाओ को समझने का प्रयास किया। प्रयोग से कितनी साध्यताए और असाध्यताएँ हो सकती हैं यह बात समझ मे आ सकती है। वही एकमात्र उद्देश्य नही रहा। नाटक ही साहित्य का उद्देश्य नही है। जीवन के अनुभवो, प्रेरणाओ को नाटको के द्वारा व्यक्त करना ही उसका उद्देश्य होता है। यह जीवन चिरतन रूप से चलनेवाली एक शक्ति है। अत उसका हर स्थान पर और हमेशा एक जैसा अपरिवर्तनीय होकर रहना सभव नहीं है। जीवन के रूप, प्रेरणाएँ प्रत्येक जन समुदाय म, प्रत्येक काल मे, अपनी परम्पराओ को लेकर चलने पर भी तत्कालीन प्रेरणा, आघात, दृष्टि अभिरुचियों मे परिवर्तन आते रहते हैं। विभिन्न माध्यमो से युक्त रगमच उसका अपवाद नही हो सकता।

पुराने समय से लेकर अब तक आये सम्प्रदाय चाहे कितने ही नियमो म क्या न बँधे हो आजकल के लोगों की मनोलहरियाँ हमारे जीवन और अभिलाषाओ पर अपनी-अपनी छाप अवश्य डालती हैं। उनसे परम्परा का विकास हो सकता है। आज के लोग पुराने अर्थों का घटा सकते हैं, उद्देश्यपूर्वक उन्ह बदल सकते हैं। बिना उद्देश्य केवल जनरजन के लिए, नवीनता की चपलता के लिए, इधर-उधर दिखायी देनेवाली एकाध चीज मे परिवर्तन लाने के सपने देखने से वे ठीक न बैठकर विकृत भी हो सकते हैं।

यक्षगान परम्परा

समय परिवर्तन के साथ, मेरे मन को आकर्षित करनेवाला यक्षगान सम्प्रदाय

इसी प्रकार का था। सम्प्रदाय ने हमें क्या क्या दिया यह जानने का प्रयत्न मैं सदा करता रहता हू। कला से हमें प्राप्त पारम्परिक वेशभूषाए, सगीत, नृत्य के अश कौन कौन से हैं यह जानना पहला काम है। पहले से चली आयी सम्पत्ति को यदि हम खो दें तो आज के सभापण के लिए आवश्यक सारे शब्दो की नयी दृष्टि से सृष्टि करना हमारे लिए सभव नही होगा न। इसलिए हमारे इस यक्षगान सम्प्रदाय के पारम्परिक नत्यो को, उनकी पद्धतियो का सगीत से सम्बन्धित सारे राग और तालो को सीख कर उन्हें सुरक्षित बनाये रखना हमारा परम कर्तव्य होना चाहिए। यह रगमच की अन्य बातो से यानी वेश, अलकार, मुखसज्जा आदि से भी सम्बन्धित काम है। इसीलिए उडुपि मे महात्मा गांधी कॉलिज के आश्रय म एक यक्षगान केन्द्र स्थापित करके विद्यार्थियो को पारम्परिक प्रशिक्षण देना शुरू किया गया है। उसका भार श्री हरिदास भट्ट और श्री प्रभाकर जैसे मित्रा ने सभाला है।

परम्परा का सद्योग और कठिनाईया

पुरानी परम्परा के कई अश नष्ट हो चुके हैं फिर भी कुछ तालें तो अभी भी सुरक्षित हैं। रागो मे कई प्रयोग म नही आते। उन्हें ढूढकर प्रयोग मे लाना चाहिए। वेश और अलकारो की पद्धति मे भी इस शताब्दी के आरम्भ से ही स्त्री वेश म जन सामान्य की वेशभूषा का अनुसरण करते देखा है। मैंने उन कमियो को पूरा करने का काम भी किया।

परन्तु परम्परागत कथानको को रगमच पर लाने पर हमारी पारम्परिक नृत्य-सपदा, गीत-सपदा, वेश-सपदा से हमारा काम चल जाएगा, यह सोचने की बात है। भावाभिव्यक्ति के लिए अभिनय मे भी कमियाँ हैं। मुख भगिमाओ की कमियाँ हैं। गाने म, नृत्य म, भावाभिव्यक्ति और उनमें भी सम्बन्ध है, इस ओर ध्यान दिये बिना ही हम सम्प्रदाय का विकास कर रहे है? ऐसी कमियो को दूर करने का प्रयत्न मैं बहुत समय से करता आ रहा हूँ। मैंने यह भी अनुभव किया कि प्रयास करते रहने पर इस दिशा म सफलता भी मिल सकती है।

एक की सीमा

चित्र, साहित्य, कला के समान यह एक व्यक्ति से पूरा होनेवाला काम नही है। गान और नृत्य के लिए दूसरो की सहायता चाहिए ही। वेशभूपा, मुख-सज्जा के बार म किसी-न किसी निश्चय पर पहुचकर, पात्रो के अनुकूल वेशभूषा तैयार करके उपलब्ध करायी जा सकती है की भी है। पात्रों के काम ऐसे काम से जुडे लोगो को ही समझ कर करने पडते हैं। ऐसे समझने-समझाने का काम तो मैं अपने

इसी प्रकार का था। सम्प्रदाय ने हमे क्या क्या दिया यह जानने का प्रयत्न मैं सदा करता रहता हू। कला से हमे प्राप्त पारम्परिक वेशभूषाए, सगीत, नृत्य के अश कौन कौन से हैं यह जानना पहला काम है। पहले से चली आयी सम्पत्ति को यदि हम खो दें तो आज के सभाषण के लिए आवश्यक सारे शब्दो की नयी दृष्टि से सृष्टि करना हमारे लिए सभव नही होगा न ? इसलिए हमारे इस यक्षगान सम्प्रदाय के पारम्परिक नृत्यो का, उनकी पद्धतियो को सगीत से सम्बन्धित सारे राग और तालो को सीख कर उन्हें सुरक्षित बनाये रखना हमारा परम कर्तव्य होना चाहिए। यह रगमच की अन्य बातो से यानी वेश, अलकार, मुखसज्जा आदि से भी सम्बन्धित काम हैं। इसीलिए उडुपि मे महात्मा गांधी कॉलेज के आश्रय मे एक यक्षगान केन्द्र स्थापित करके विद्यार्थियो को पारम्परिक प्रशिक्षण देना शुरू किया गया है। उसका भार श्री हरिदास भट्ट और श्री प्रभाकर जैसे मित्रो ने सभाला है।

परम्परा का सद्योग और कठिनाईया

पुरानी परम्परा के कई अश नष्ट हो चुके है, फिर भी कुछ तालें तो अभी भी सुरक्षित हैं। रागो मे कई प्रयोग मे नही आते। उन्हे ढूढकर प्रयोग मे लाना चाहिए। वेश और अलकारो की पद्धति मे भी इस शताब्दी के आरम्भ से ही स्त्री वेश मे जन सामान्य की वेशभूषा का अनुसरण करते देखा है। मैंने उन कमियो को पूरा करने का काम भी किया।

परन्तु परम्परागत कथानको को रगमच पर लाने पर हमारी पारम्परिक नृत्य-सपदा, गीत-सपदा, वेश-सपदा से हमारा काम चल जाएगा, यह सोचने की बात है। भावाभिव्यक्ति के लिए अभिनय मे भी कमियाँ हैं। मुख भगिमाओ की कमियाँ हैं। गाने मे नृत्य मे, भावाभिव्यक्ति और उनमे भी सम्बन्ध है, इस ओर ध्यान दिये बिना ही हम सम्प्रदाय का विकास कर रहे है ? ऐसी कमियो को दूर करने का प्रयत्न मैं बहुत समय से करता आ रहा हूँ। मैंने यह भी अनुभव किया कि प्रयास करते रहने पर इस दिशा मे सफलता भी मिल सकती है।

एक की सीमा

चित्र, साहित्य, कला के समान यह एक व्यक्ति से पूरा होनेवाला काम नही है। गान और नृत्य के लिए दूसरो की सहायता चाहिए ही। वेशभूषा, मुख-सज्जा के बारे मे किसी-न किसी निश्चय पर पहुँचकर, पात्रो के अनुकूल वेशभूषा तैयार करके उपलब्ध करायी जा सकती है, की भी है। बाकी के काम ऐसे काम से जुड़े लोगो को ही समझ कर करने पड़ते हैं। ऐसे समझने समझाने का काम तो मैं अपने

जीवन मे कर ही सकता हूँ।

कुछ वर्ष पूर्व न्यूजीलैण्ड के एक कलाप्रेमी श्री केन रे हमारे घर आये थे। तब उन्होंने पूछा था, "आप के बाद क्या होगा?" मैंने जवाब दिया था, "मुझे अपना कर्तव्य पूरा करना है।" अलग अलग ढंग से मेरे कर्तव्य को दिखाते चले आने पर भी, कम से कम एकाध को यह काम समझकर इसे बढाने के लिए आगे आना नही चाहिए? यक्षगान कला के बारे मे केवल प्रेम या यक्षगान अभिमान दिखा देने से काम चल जाएगा? सम्प्रदाय से आप कितने बद्ध है? क्यो बद्ध है? उसे छोड रहे है तो क्यो? यदि उसे और भी सुन्दर किया जा सकता है तो क्यो नही किया जाता है? ऐसे प्रश्नो का उत्तर उस क्षेत्र मे काम करनेवाले मार्गदर्शक न दें तो कैसे काम चलेगा? इस माध्यम की सर्वांगीण साध्यताओ को देखकर और जान लेने के बाद भी कि कन्नड भाषा से अपरिचित दूसरे लोगो को भी यह प्रिय हो सकता है, बचे खुच को सभालकर आगे बढाने की जिम्मेदारी कौन लेने को तयार होगा? यह ध्यान आने से लगता है कि जो काम मैं करता चला आ रहा हूँ, मेरे बाद वह आगे नही बढ पायगा। वह केवल भक्ति और विश्वास से बढ जाने वाली चीज नही, वह माध्यम, परिचय और ज्ञान से ही आगे बढ सकता है। यह सब ध्यान मे आने पर बडी निराशा होती है। किसी भी माध्यम की सभावनाओ को समझने तक उसके जानने का कौतूहल ही हम दबाए रखता है। उसके आगे के विकास के प्रति तो मुझ से छोटो को उसमे अपनी अभिरुचि दिखानी चाहिए। वह रुचि केवल प्रदर्शन भर को नही होनी चाहिए, उसमे कला माध्यम से सतृप्ति लानेवाली लगन होनी चाहिए। बाहर की दुनिया उस मान्यता दे या न दे हम उससे तृप्ति मिलनी चाहिए। यह सकल्प, विश्वास और साधना होनी चाहिए तभी कुछ सम्भव है।

उपयोगी जीवन

मैंने जीवन के कल की यानी परलोक की चिंता नही की। आत्मा, भाग्य या परलोक पर विश्वास रखकर इस ससार की अवहेलना नही की, करूँगा भी नही। इहलोक ही मेरी साधनाओ की रगभूमि है। इस इहलोक मे मैं अपने चारो ओर की प्रकृति को, उसमे जीनेवाले समस्त जीवो को देखते हुए अपने जीवन से जो सम्बन्धित हैं उन्हे और भी अधिक आत्मभाव से देखने का प्रयत्न करता हू। यह मुझ अकेले से कभी पूरा होनेवाला कार्य नही। ऐसे सम्बन्धो को मैं वैज्ञानिकों के विचारो को पढकर समझने का प्रयास करता चला आ रहा हूँ। क्योकि निसर्ग और जीव का सम्बन्ध बहुत पुराना है। वह अगली पीढियो से भी सम्बन्धित है ऐसा समझकर हम अपना जीवन जीना चाहिए।

मनुष्य होने के नाते अपने चारो ओर के परिवर्तनशील व्यक्तियो के समाज

के साथ मुझे भी जीना है। ऐसे सामाजिक चाल चलन, विश्वास व व्यवहारों मे मात्र किसी व्यक्ति विशेष का हित नहीं होता है। उसके साथ तो सभी का हित-अहित जुड़ा होता है। कल के लोगो के सामूहिक व्यवहार का परिणाम आज हमें भोगना पड़ता है। हमारा आज का सामूहिक व्यवहार आनेवाले कल के लोगों को प्रभावित करेगा ही। कर्मफल अकेले जीव का हिसाब किताब नहीं है, वह तो सामूहिक जीवन का हिसाब किताब है। उनमे हमारा कर्त्तव्य कितना है यह समझ कर व्यवहार करना हमारा काम है।

मनुष्य केवल अवभक्षी प्राणी नहीं है, वह बुद्धिजीवी भी है। उसे अपने सामूहिक जीवन में ऐसा व्यवहार करना चाहिए ताकि अपने और अपने चारो ओर के लोगों का हित हो। उसमें मेरा हिस्सा मेरी शक्ति का समर्पण भाव है—ऐसी दृष्टि से प्रयत्न करते हुए जीने का प्रयास करना पर्याप्त नहीं। ब्रह्माण्ड जन्म लेते हैं मिट जाते हैं। जब तक शरीर में चेतन है तब तक वह काम करे तो काम पर्याप्त नहीं होगा। ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, सागर, पर्वत पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। उनमे रहनेवाले जीवों का भला क्या महत्त्व है? चिरजीवी होने की इच्छा जैसी बड़ी और मूर्खता नहीं। यदि ऐसी सम्भावना की कल्पना करें भी तो कोई पूछे 'इतने समय तक क्या करेंगे?' तो उसके उत्तर देने की शक्ति भी तो चाहिए। हम सीमित आयुवाले है। अपने व्यवहार ज्ञान से जब हम सही उत्तर नहीं दे सकते हैं तो हम किस सदगति कह सकते हैं?





डॉ० के० शिवराम कारन्त

जन्म 10 अक्तूबर 1902, दक्षिण कनारा (कर्नाटक) के एक गांव कोट में।

प्रारम्भिक शिक्षा कोट में ही, माध्यमिक कुन्दापुर में और उच्च शिक्षा बंगलौर में। गवर्नमेंट कॉलेज बंगलौर में प्रथम वर्ष की पढ़ाई चल ही रही थी कि 1922 में राष्ट्रप्रेमी स्वयंसेवक के रूप में असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। 1925-26 में कन्नड मासिक 'वसन्त', तदुपरान्त एक अन्य पत्रिका 'विचारवाणी' का सम्पादन।

45 से भी अधिक उपन्यास और 40 नाटकों के लेखक। अनेकानेक लेख भी। बाल-ज्ञानकोश का तीन भागों में लेखन प्रकाशन। चार भागों में विज्ञान विश्वकोश। यात्रा-संस्मरण और कला-समीक्षाएँ।

अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा मानद उपाधियों से सम्मानित। यक्षगान के पुनर्जीवन में विशिष्ट योगदान। व्यापक विदेश भ्रमण।

1958 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1960 में स्वीडन अकादमी का साकनूरय-पुरस्कार और 1977 में भारत के सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार—ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित।